उदररोगांक के

माननीय लेखक महानुभाव

—निवेदन—

पांच-माह के अनवरत-परिश्रम के फलस्वरूप 'उदर-रोगांक' आपके कर-कमलों में सप्रेम समर्पित है। इसके ब्लाक बनवाने तथा छपवाने प्रभृति में आशा से कहीं बहुत अधिक विलम्ब हो गया है। इसी लिए यह विशेषांक अब आपकी सेवा में पहुँच रहा है! हमें विश्वास है कि विशेषांक की उत्तमता और हमारे परिश्रम को देख कर, आप स्वयं विलम्बको क्षमा कर देंगे। आगामी अङ्क शीघ्रता से छपवाए जा रहे हैं, जो कि आपको शीघ्र ही मिलेंगे।

—संपादक।

अनुपम

शक्ति वर्धक टॉनिक
मकरध्वज वटी
शुक्रदोष, मूत्ररोग, स्वप्न प्रमेह, धातुक्षय, स्नायु-दौर्बल्य, लम्बी बीमारी के बाद की कमज़ोरी आदि के लिये गुणकारी
महौषधि
सेवन से पूर्व
सेवन के बाद
धन्वन्तरि कार्यालय
विजयगढ़ (अलीगढ़)
मूल्य- ४१ गोली की शीशी
तीन शीशी
रु०
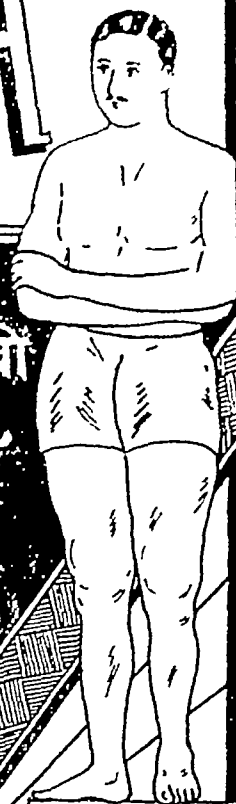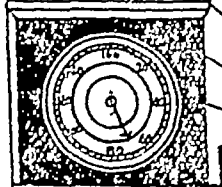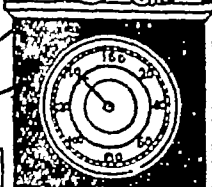
सैंकड़ों में से कुछ

प्रशंसापत्र

POST CARD

ADDRESS ONLY

ISANAGAR

वातोदर

तत्र वातोदरे शोफः, पाणिपान्नाभिकुक्षिषु ।
कुक्षि पार्श्वोदर-कटि-पृष्ठरुक् पर्वभेदनम् ॥
शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधो-गुरुता मलसंग्रहः ।
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद् वृद्धिह्रासवत् ॥
सतोद भेदमुदर, तनु-कृष्ण-शिराततम् ।
आध्मात दृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ॥
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो, विचरेत्सर्वतो गतिः ॥

इस रोगी के हाथ–पैर, नाभि और कूखमें सूजन; कूख, पसवाड़े, पेट, कमर और पोरों में टूटने का सा दर्द हो रहा है। साथ में सूखी खांसी, अंगड़ाई, मल के रुकने से नाभि से नीचे के भाग में भारीपन भी है। शरीर का रंग कुछ कालापन लिए लाल-सा होगया है। इसका पेट कभी फूला, कभी पिचका, पीड़ा युक्त, फटता सा, पतली और काली शिराओं (नसों) से व्याप्त और गुड़गुड़ाना सा रहता है।

Approved by Dept. of Public Instructions of Central Provinces & Berar

प्रधान सम्पादक—श्री० कविराज हरदयाल जी गुप्त वैद्य वाचस्पति
सम्पादक—वैद्य बांकेलाल गुप्त, वैद्य देवीशरण गर्ग

भाग १८ अङ्क १-२ | उदररोगांक | जनवरी-फरवरी सन् १९४३ ई०

उदर रोग और आयुर्वेद

अति समुन्नता तथा सकल साधन संयुक्ता—
हो जाती है सरल चिकित्सा जब यश-युक्ता,
उसके बहु उपकरण व्यर्थ सारे हो जाते,
अन्य चिकित्सा-शास्त्र नहीं जिन पर जय पाते,

सब नष्ट किया करते जिन्हें, आयुर्वेदिक योग हैं—
वे सत्य कसौटी सदृश ही, अखिल उदर के रोग हैं।

लेखक—श्री कविकिङ्कर, रवीन्द्र प्रताप जी शर्मा,
आयुर्वेद शास्त्री, तिलहर।

———

आज विश्व में उदर रोग,
नित तेरा नव होता नर्तन ।
तूने ही कर दिया विषम-
सा मानव में यह परिवर्तन ॥

* * *

दीन, क्षीण, बेबस जर्जर हो
मरा आ रहा दिन प्रतिदिन ।
अरे ! व्याधि के स्रोत बहेगा,
तू होकर कितना उन्मन ॥

* * *

नहीं सरस है पाता रहने,
तेरे कारण मानव जीवन ।
सदा व्यथा के छाते हैं,
शिर पर वे श्यामल से घन ॥

* * *

हाय दुख का अन्त न होता
आता नहीं मधुर जीवन ।
प्रतिक्षण सूख रहा है देखो,
असमय उजड़ रहा उपवन

* * *

लेखक

सा० र० राजेन्द्रकुमार जैन 'कुमरेश'

आयुर्वेदाचार्य

धन्य उदर-रोगांक महान्

था यह चिर-कामना निरन्तर,

हे ! श्री धन्वन्तरि भगवान् ।

उदर रोग हित शीघ्र सुधा-मय,

प्रभु प्रगटावहिं नव्य विधान ।

\+ + + +

सफल मनोरथ हुआ आज वह,

लहहिं रुग्ण-जन जीवन दान ।

नव्य-नाद यह विश्व व्याप्त हो,

(धन्य उदर-रोगांक महान् ।)

\+ + + +

श्रमजीवी—पं० महाराज कुमार जी,

विजयगढ़

उदर

स्वस्थ्य उदर जब रहै,
देह का पोषण होता।
अङ्ग बनें बलवान्,
सभी रुज-गण को खोता ॥

क्षुध् पीड़ित यह होय,
तभी है पाप कराता।
तृप्त हुए, सब कार्य,
ज्ञान विज्ञान सुझाता ॥

तन रोगों की खानि हो,
जो न उदर शुद्धी अहै।
'ब्रह्मानन्द' नित राखिये,
उदर शुद्ध आनंद लहै ॥

लेखक

कविराज ब्रह्मानन्द जी चन्द्रवंशी बरोदा
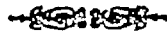
देशी चिकित्सा

प्रकृति की अवहेलना से,
दोष संचय कर निरन्तर।
उदर-रोग ग्रसित हो नर,
ढूंढता है शरण सत्वर॥

विपुल-साधन, अतुल-वैभव
युक्त पा, 'नव-चिकित्सा' को।
मुग्ध हो अपना उसे जब,
सहा नित नव विपित्साको॥

विवश तब उससे छुड़ाने,
शरण आ देशी-चिकित्सा।
नियम-पालन कर अहर्निश,
मुक्त की सहनी विपित्सा॥

आचार्य पं० चन्द्रशेखर जैन आयु० शा०

सह-सम्पादक—'धन्वन्तरि'

सम्पादकीय--

नम्र निवेदन

उदररोगों की महत्ता से आज आयुर्वेद-समाज अपरिचित नहीं है। सभी जानते हैं कि दुनियां के तमाम रोगों का मूल कारण उदररोग ही है। आज नई रोशनी में इस रोग जैसा, किसी भी रोग का बोल-बाला नहीं है। दुनियां कहती है कि आए दिन ऐसे-ऐसे नए रोग सुनाई देते हैं, जिनका कभी नाम भी न सुना था, न जाने अब ये कहां से प्रगट हो गये?

पाठक वृन्द! आप इसी अङ्क में मेरा 'उदर रोग के कारण' शीर्षक लेख आगे पढ़ेंगे। इस लेख में मैंने एक नया विचार आपके समक्ष उपस्थित किया है। जिसमें वर्तमान सभ्यता के प्रभाव से त्वरितगति से वृद्धि प्राप्त करते हुए हृदयकार्यावरोध (Heart Fail) को अजीर्ण-जन्य रोग बताया है। यह विचारास्पद है। इस पर आप विद्वानों के विनिमय की आवश्यकता है। आशा है, आप इस पर अवश्य विचार करेंगे।

यदि इस समय, जब कि इस रोग के सम्बन्ध में अभी अन्य चिकित्सा पद्धतियां कोई मौलिक सिद्धांत स्थिर नहीं कर सकीं, इस रोग के सम्बन्ध में वैद्यों का यह निर्णय अन्य पैथिकों के लिये मार्ग-दर्शक सिद्ध होगा। निदान सम्बन्धी निर्णय होने पर चिकित्सा में भी सुविधा हो सकती है ऐसे इस रोग की पहली विजय वैद्यों के हाथ रहेगी।

वास्तव में उदर-रोग एक महा व्याधि है। जिसका प्रतीकार आधुनिक सभ्यता के दलदल में फंस कर होना, नितान्त कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा है। आए दिन सभ्यता में परिवर्तन हो रहे हैं और उसी प्रकार उदररोग-जन्य व्याधियों के मार्गान्तरों में भी परिवर्तन हो रहा है। इसलिये

उदररोगों का जितना भी वर्णन किया जाय थोड़ा है। इस प्रकार के कई विशेषांक भी निकाल दिये जांय तब भी संभव है, पूरा वर्णन न हो सके।

वर्तमान संसार में उन्नति का समाचार-पत्रों से सीधा सम्बन्ध है। कोई संस्था, कोई जाति और कोई समाज ऐसा नहीं जो उन्नतिशील भी हो और उसका कोई विशेष पत्र न हो। उन्नति का सरल मार्ग पत्र-प्रकाशन है। निःसन्देह इस आचरण से उन्नतिरूपी सिद्धि अवश्य होती है।

इस समय वैद्यसमाज के पास अंगुलियों पर गिने जाने योग्य पत्र हैं। उनमें भी कागज़ की दुर्लभता के कारण अनेक पत्र गाढ़-निद्रा में सो गये हैं। भविष्य में यह स्वप्न-रहित निद्रा किन २ को प्राप्त होगी, यह समय प्रकट करेगा। इस महर्घता में भी धन्वन्तरि सञ्चालकों का दृढ़ विश्वास और साहस सराहनीय है, कि उन्होंने वर्तमान के कष्टों के प्रति उपेक्षा करते हुए इस वर्ष भी धन्वन्तरि का विशेषांक "उदर-रोगांक" के नाम से प्रकाशित कर ही दिया। यह यद्यपि पूर्वापेक्षा आकार-प्रकार में कुछ स्वल्प है तथापि धन्वन्तरि के पाठकों को सन्तुष्ट रहना चाहिये, क्योंकि समय की परिस्थिति भयंकर रूप धारण किये हुए सब ही के समक्ष है।

विशेषांक निकालने में धन्वन्तरि ने खासी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इसके विशेषांकों को संग्रहणीय वस्तु समझा जाता है और वास्तव में इसके विशेषांक लाभदायक सिद्ध हुए हैं। धन्वन्तरि की यह सफलता आयुर्वेद के उन सच्चे सेवकों के परिश्रम का परिणाम है, जिनके पास समय न होते हुए भी धन्वन्तरि में इसलिये लेख भेजने पड़ते हैं कि ऋषियों के परिश्रम का लाभ उनके बन्धु (चिकित्सक वर्ग) उठायें और जनता पर आयुर्वेद की वैज्ञानिकता प्रकट हो। कभी घोर आश्चर्य भी होता है जब कि हम यह देखते हैं कि आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान जो
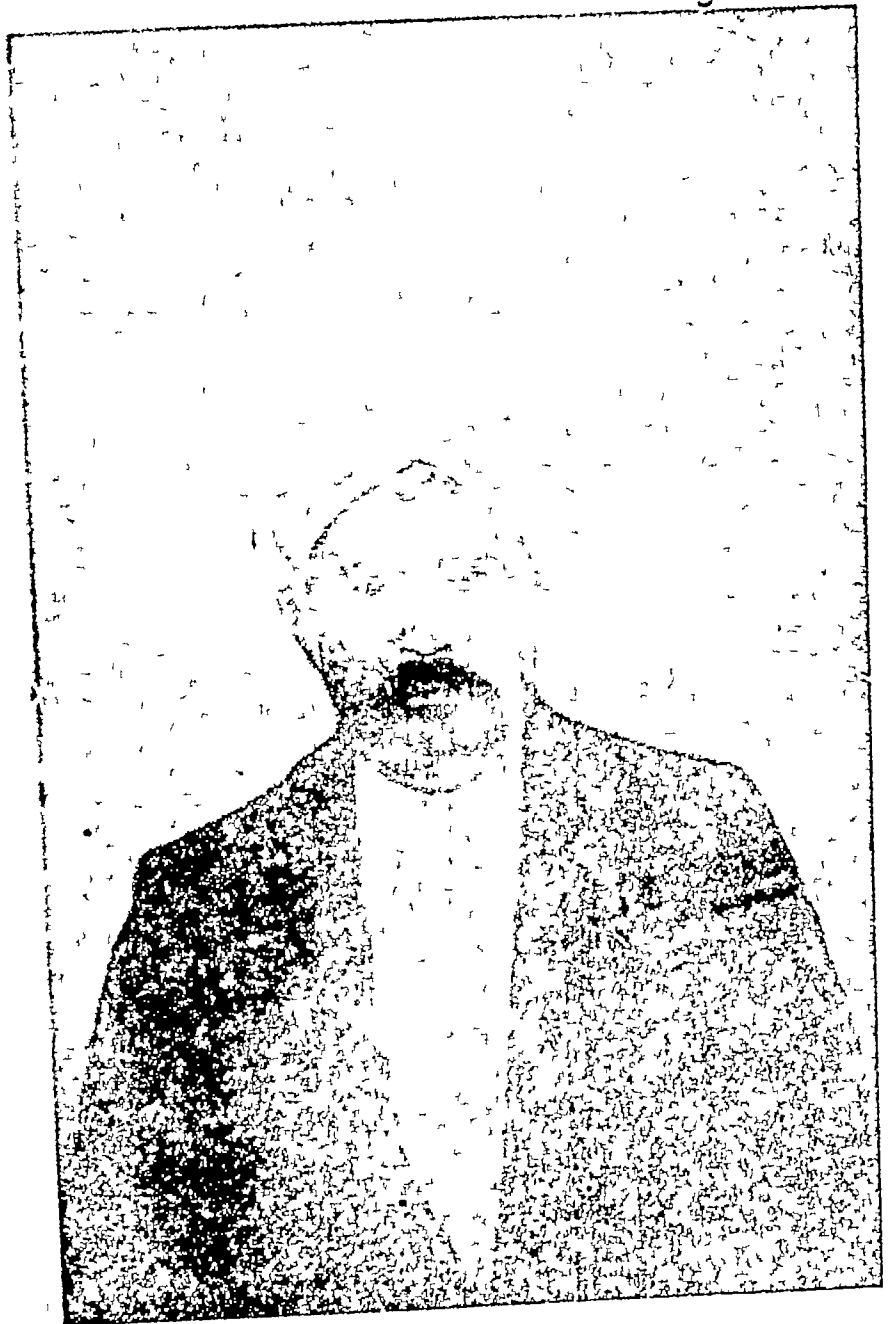
प्राय. प्रत्येक विषय को नूतन रूप देने की क्षमता रखते है वे इस समय में भी मौनावलम्बन किये हुए हैं।

यदि आयुर्वेद के प्रमुख विद्वानों ने परोपकार की दृष्टि से सहयोग दिया होता तो ४० वर्ष से उन्नति के पथ पर चलते हुए आयुर्वेद का स्थान आज दर्शनीय होता और यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि आज आयुर्वेद पर विरोधियों की ओर से होने वाले कटाक्ष कभी के बन्द हो गये होते। विगत भयङ्कर विपत्तियों की विद्यमानता में भी अगर आयुर्वेद अभी तक जीवित है तो निःसन्देह इसलिये कि उसके भीतर मार्के की विभूतियां हैं।

धन्वन्तरि सञ्चालकों ने इस महत्वपूर्ण अङ्क के सम्पादन का भार मेरे जैसे अल्पज्ञ मनुष्य पर डालकर मेरे साहस को बढ़ाया है, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद है। यह बात सन्देह रहित है कि यदि यह भार अन्य किसी योग्यतम व्यक्ति पर रहता तो पाठकों को विशेष लाभ होने की सम्भावना थी। धन्वन्तरि सञ्चालकों तथा मेरे द्वारा मागे हुए जिन सज्जनों ने अपना अमूल्य समय देकर महान् परिश्रम करके लेख भेजने की कृपा की है, उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद है।

—विनीत

हरदयाल वैद्य, (विशेष-सम्पादक-'उदररोगांक')

* * * ❀

आजकल की भीषण परिस्थिति में सब सामिग्री महामहर्घ और अलभ्य प्राय होने के कारण अच्छे पत्रों का जीवन तक खतरे में है, तब आपका धन्वन्तरि विशिष्ट विशेषांक भेट कर रहा है यह भगवान धन्वन्तरि के प्रसाद और आप विद्वज्जनों के आशीर्वाद का ही फल है। इसी बल ने हमें प्रबल

उत्साह भङ्ग करने वाली बाधाओं को भी सहकर सेवा सुश्रुषा करते रहने में सफल किया है।

विलासी सभ्यता में विदेशी औषधों के प्रभाव से भारत का स्वास्थ्य तो इधर सौ-दो सौ वर्षों से क्षीणातिक्षीण होता गया है, पर बम विस्फोटों के विषाक्त वातावरण और दुर्लभतावश विवश अशुद्ध आहार-विहार ने प्रत्येक परिवार को रोग-पारावार में डाल रखा है। जिसे देखो वही पीत वदन, कृश-शरीर, क्षीणता छिपाने को सजावट का सहारा लेते हुए येन केन प्रकारेण जीवन धकेल रहा है। चिन्ताओं से उमङ्ग मरी रहती है। और उदासीनता से अग्नि मन्दी होती जाती है, सात्विक भोजन रुचता नहीं, रोचक बनालें तो पचता नहीं, और अपच होते ही आमादि बढ़ कर सिर से पैर तक प्रत्येकाङ्ग पीड़ित हो उठता है। रोगी सामने आते ही सवाल होता है कि दस्त साफ होता है या नहीं। तिल्ली, जिगर, अफरा, उदर, आन्त्रिक टी० बी० या सिरोटिक लिवर में से कुछ न कुछ हर कोई बताता है। व्यवसायी विज्ञापनबाज़ उनके तन-धन को और भी हत-अपहृत करते जाते हैं। इसी कारण इस भीषण परिस्थिति में ही उदर-रोगांक उपस्थित करना धन्वन्तरि ने अपना कर्तव्य समझा और उसे पूरे प्रयत्न से पालन किया है।

ऐसे उपयोगी विषय के सफल सम्पादन के लिये हमें निष्णात् विद्वान के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता थी। एतदर्थ पंचनद के प्रतापी प्रभाकर पण्डित प्रवर श्री हरदयालु जी वैद्य-वाचस्पति-सीनियर प्रोफेसर श्रीमद्दयानन्दायुर्वेदिक कालेज लाहौर से प्रार्थना की, और सौभाग्यवश आपने अपने चिरपरिचित औदार्य से स्वीकृति देकर हमें कृतार्थ कर दिया। इस विशेषांक में जो कुछ सर्वाङ्गीन उत्तमता है उसका प्रधान श्रेय आपके ही अतुलश्रम को है। जिसके लिये धन्वन्तरि आपका चिरऋणी रहेगा।

इस विशेषांक के लिये भी ऐसे २ विद्वज्जनों के लेख आये जिन्हें चिकित्सा से रचमात्र भी अवकाश नहीं होता। ऐसे लेख पहिले से भी अधिक

आये। क्योंकि वे हृदय से आयुर्वेद का उद्धार चाहते हैं, तभी तो अपना बहु-मूल्य समय देने में न हिचके।

परन्तु कंट्रोलों के चक्कर और एक जिले से दूसरे जिले तक में कागज न आसकने के प्रतिबन्ध ने हमें जितना लाचार किया और प्रकाशकों के प्रचुर परिश्रम और व्यय करने पर भी जितना कागज मिल सका, उसमें आपके धन्वन्तरि की पाठक संख्या के लिये पूर्ति भर प्रतियां भी छापना असभव हो गया। लाचार केवल अनिवार्य स्थान-सकोच हो जाने के कारण उन महत्व पूर्ण लेखों में से कई छोड़ देने पड़े और शेष लेखों का भी सारमात्र दिया जा सका इससे कृपालु लेखक महानुभावों की जो भव्यभावभूषिता भाषा नहीं आसकी, उसका हमें अत्यन्त सकोच और खेद है तथा उसके लिये क्षमाप्रार्थी हैं। अब जो उत्तम प्रयोग रह गये हैं वे यथा स्थान आगे भेट करेंगे।

चित्रों की समस्या भी इस बार बड़ी कठिन परीक्षा लेगई। योग्य चित्रकारों के मिज़ाज मुश्किल से मिलते थे। और उनके बहुरंगे चित्रों की खूबियां ज्यों की त्यों प्रगट करने लायक बढ़िया ब्लाक बनवाना तो दस बारह गुने व्यय में सभव हुआ। सो भी सामग्री न मिलने के कारण इतनी दिक्कतें आईं जिन्हें पाठकों को सुनाने लायक स्थान हमारे पास नहीं है। कई ब्लाक तो तार पर तार देते और बारबार आदमी भेजने पर भी इतनी देरी से मिले कि विशेषांक अब भेट कर पाये हैं। इस विलम्ब में हमारे पाठकों को जो उत्सुकता और व्याकुलता हो रही थी उसका परिचय हमें और भी बेचैन कर रहा था। हमने भरपूर शीघ्रता की है, यहां तक कि कुछ त्रुटियां भी विवशतया रह गईं परन्तु यदि यह भेट पाठकों को प्रसन्न कर गई तो हमारा सारा प्रयास सफल है। साथ ही हमें विश्वास है कि पाठकों के अनेक मित्रगण भी यह भेट देख कर प्रसन्न होंगे।

—वैद्य बांकेलाल गुप्त।

उदर रोग का मूल कारण

(अजीर्ण और उसकी चिकित्सा)

ले०—विशेष-संपादक आयुर्वेदाचार्य श्री० हरदयालु जी वैद्यवाचस्पति,

सीनियर प्रो०—द० आयुर्वेदिक कालेज लाहौर।

अजीर्ण एक व्यापक रोग है। 'अजीर्ण' इस शब्द में बहुत कुछ समाया हुआ है। महर्षियों की कृतियां सूत्र रूप में हुई हैं। साधारणतया अजीर्ण से भुक्त भोजन के सम्यक् पाक का अभाव लिया जाता है। 'अजीर्ण' इन तीन अक्षरों के द्वारा आयुर्वेद ने चिकित्सक को एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा है

अजीर्ण रोग क्यों होता है? इसमें कौन कौन अङ्ग भाग लेते हैं? इसका तात्कालिक और स्थायी प्रभाव क्या है? इन सब बातों को यदि आधुनिक वैज्ञानिक परिशोध के आधार पर देखना हो तो, वह इस प्रकार है। वास्तव में यह देखने की ही बात है कि अजीर्ण रोग में कायिक यन्त्रों की दशा क्या होती है। भोजन के सम्यक् पाक के लिये निम्न-लिखित दस बातों की आवश्यकता है। यथा—

१—लाला ग्रन्थियों का रस
२—आमाशयिक रस
३—ग्रहणी कला का स्राव
४—पित्ताशयिक रस
५—क्लोम रस
६—क्षुद्रान्त्रीय रस
७—अन्य सहायक ग्रन्थियों के रस
८—मानसिक प्रसन्नता
९—कालोपयोगिता
१०—सात्म्यत्व वा उपशयिता

वाचक वृन्द ! आयुर्वेद के प्रवर्तकों ने अजीर्ण कहकर केवल चिकित्सक को अजीर्ण की चिकित्सा में प्रवृत्त होने की आज्ञा नहीं दी, प्रत्युत यह निर्देश किया है कि अजीर्ण के वास्तविक कारण को जानकर उसकी सफल चिकित्सा हो सकती है। और सफल चिकित्सा के लिये प्राकृतिक नियमों की ओर से हम उदासीन नहीं रह सकते। प्रत्येक रोग की रोक थाम प्रकृति स्वयं ही अपनी शक्ति से करती रहती है। जब प्रकृति की रोग क्षमता की शक्ति दुर्बल हो जाती है तब कोई न कोई रोग शरीर को आ घेरता है। अजीर्ण भी एक रोग है, जिसमें प्रकृति की सहायता अपेक्षित होती है। और सहायता वही चिकित्सक कर सकते हैं जिन्हें यह मालूम हो कि रोग ने अजीर्ण का सर्वनाश करने के लिए क्या २ प्रबन्ध किये हैं और अब प्रकृति के कौन से भाग का प्रबन्ध शिथिल होने के कारण सहायता की अपील कर रहा है।

१–लाला ग्रन्थियों का रस—

सर्व प्रथम जब पेट में उतरने वाला द्रव्य मुख में आता है, तब जिह्वा की लाला ग्रथियों से एक तरल प्रस्रवित होकर मुखस्थ चणक सदृश कठिन और रूक्ष पदार्थों को भी तरलावस्था में बदल देता है। यह तरल क्या है? यह तरल आयुर्वेदोक्त वही तत्व है जिसको कफ का नाम प्राप्त है।

यथा— 'उरः कण्ठ शिरः क्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः॥' अ० हृ०

वैज्ञानिक परिशोध ने अपने स्थिरीकृत सूत्रों के आधार पर यह निश्चय भी दिया है कि लाला ग्रन्थियों से निकलने वाले तरल में, श्लेष्मा, प्रोटीन एवं अन्य अनेक प्रकार के लवण पाये जाते हैं। तथा यह रस कुछ क्षारीय होता है भुक्त भोजन को सम्यक् तथा पकाने के लिए यह सब से पहिला पाचक रस है जिसका संमिश्रण ग्रास के मुख में आते ही आरम्भ हो जाता है। जिह्वा की लाला ग्रंथियों द्वारा निःसृत होने वाले इस कफ में अपने स्वभाव के अनुसार एक विशेष गुण यह है कि यह तरल यहीं से शर्करोत्पादन आरम्भ कर देता

'नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥ अ० हृ०

अब भोजन में आमाशयिक पित्तात्मक पाचक रसों का सम्मिश्रण होता है। एवं कुछ समय के पश्चात् इसमें गतियें आरम्भ हो जाती हैं। आमाशय की इन गतियों द्वारा भुक्त आहार में मन्थन क्रिया आरम्भ होती है। इसी मन्थन क्रिया के प्रभाव से भुक्त द्रव्य तरलता लिये हुए अम्ल रस वाला हो जाता है। जब यह क्रिया पूर्ण हो जाती है, तब आमाशय का अधोद्वार जो मन्थन क्रिया-काल में पेशी स्थित मांस प्ररोहों के कारण संकुचित रहता है स्वतः ही विस्फारित हो जाता है। इस घटना से आमाशय के अधोभाग में जो भुक्त आहार सम्यक् मन्थित होता है वह आगे ग्रहणी कला अथवा द्वादशांगुला नाड़ी में सरक जाता है। आमाशय से जो पाचक रस प्रस्तुत होता है, नूतन अन्वेषण ने उसमें हाइड्रोक्लोरिक एसिड, क्लोराइड्स, फास्फेट्स, कार्बनिक अम्ल, पेपसीन, रेनेट और जल तथा अन्य अनेक प्रकार के लवणों की उपस्थिति घोषित की है। पाचक रस में इन्हीं पदार्थों की उपस्थिति से भुक्त आहार में वह रासायनिक परिवर्तन होता है, जिसके प्रभाव से भुक्त आहार शरीर में शोषित होने योग्य बनता है। आमाशयिक पाचक रस की निर्बलता तथा अल्पता अजीर्ण रोग का दूसरा कारण है।

प्रसंगतः इस रहस्य का स्पष्टीकरण करना यहां अनुचित न होगा कि वैज्ञानिक धारणा के अनुसार आमाशयोत्थ पाचक रसों में जिन पदार्थों की उपस्थिति स्वीकार की गई है, आयुर्वेदीय सिद्धांतानुसार पाचक रसों की वर्णित सत्ता के आधारभूत प्रकृतिस्थित वात, पित्त, कफ है। यथा—हाइड्रोक्लोरिक एसिड आदि पित्त का ही परिवर्तित नाम है। पेपसीन, रेनेट, जल और अन्य लवण (खनिज) श्लेष्मा का परिवर्तित रूप है। और इन सबका नियामक और प्रवर्तक समान वायु है। यथा—

समानोऽग्नि समीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुंचति॥ अ० हृ०॥

अभी तक वैज्ञानिकों की धारणा यही है कि आमाशयिक रसों की उत्पत्ति और उसमें होने वाली उथल-पुथल आमाशय की विशेष रचना के आधीन है। परन्तु निश्चय ही वह दिन दूर नहीं जब विज्ञान में भी कार्य कारण सम्बन्ध का अस्तित्व स्वीकार किया जावेगा। तब वैज्ञानिकों के मुख से संसार आयुर्वेद के उपर्युक्त श्लोक प्रदर्शित सिद्धांत को सुनकर आश्चर्य चकित रह जाएगा।

आयुर्वेद ने इस स्थान पर एक और रहस्य को भी प्रस्फुट किया है कि प्रकृतिस्थ वात, पित्त, कफ की वैषम्यता के कारण से उत्पन्न होने वाले अजीर्ण रोग को पाचकाग्नि की निर्बलता के कारण विषमाग्नि जन्य वातिक अजीर्ण, पैत्तिकांश की निर्बलता के कारण पैत्तिक अजीर्ण और कफ भूयिष्ठता के कारण मन्दाग्नि जन्य आमाजीर्ण; और समाग्नि से सम्यक्‌पाक–अजीर्णाभाव होता है। पाचकाग्नि का यह त्रिधाविभाग कैसे होता है? इसके दो कारण हैं। पहिला कारण सहज कारण है। इसमें गर्भशय्या में ही आमाशय के निर्माण काल में उसकी विशेष रचना से सम्बन्ध रखता है। इसके सहज रोगी को प्रारम्भ से ही ऐसा आमाशय मिलता है जो किसी न किसी दोष की प्रधानता लिये हुए होता है। ऐसी अवस्था में परिणाम यह होता है कि यदि आमाशय की विशेष रचना और इसके रसोत्पादक अवयवों में वात सत्ता भूयिष्ट है तो वातक विषमाग्नि युक्त कहलायगा और यदि पैत्रिक अंशों की सत्ता भूयिष्ठ है तो पित्तज तथा कफ सत्ता भूयिष्ट होने पर मन्दाग्नि युक्त कहलायगा। ऐसे वातक, जन्म से लेकर आयुशेष तक, क्रमश. वात। पित्त और कफ के रोगों से पीड़ित रहते हैं।

दूसरा कारण आहारात्मक होता है। इन दोनों कारणों से इसी निष्कर्ष तक पहुँचना पड़ता है कि पाचक रसों में मूलभूत सत्ता की अल्पता और विकृति के कारण से अजीर्ण रोग प्राप्त होता है। और एवं विध ही पाचकाग्नि विषमादि भेद से त्रिधा विभक्त होती है।

३-ग्रहणीकला का स्राव—

जब उचित काल में आमाशय का अधोद्वार मन्थित भोजन को आगे धकेलने के लिये खुलता है तो सर्व प्रथम वह उसी नाड़ी में प्रविष्ट होता है जिसे ग्रहणी कहा गया है। कारण कि आमाशय से धकेले हुए भोजन को वह ग्रहण करती है इस कारण इसे ग्रहणी कहते हैं। इसका आधुनिक नाम ड्यूडिनम (Doodenum) है। इसका अपना विस्तार १२ अंगुल या दस इञ्च माना जाता है। इसकी वस्तुत स्थिति आमाशय के अधोद्वार से आरंभ होकर क्षुद्रान्त्रारम्भ तक है। आयुर्वेदने इसे बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया है।

यथा:- "षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥"

जब उपभुक्त आहार यहां पहुँचता है तब इसको ग्रहणी कला से पाचक रस प्राप्त होता है। आमाशयिक पाचक रस की अपेक्षा पित्तधरा कला से निःसृत होने वाला पाचक रस विलक्षण और बलिष्ट होता है। यह विलक्षणता और बलिष्टता इस कारण होती है कि उपभुक्त आहार को शरीर में शोषित होने के लिए कुछ अधिक रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता है। यह विशेष तत्व ग्रहणीकला, पित्ताशय और क्लोम से प्राप्त होते हैं।

४ पित्ताशयिक रस—

यकृत में बनने वाला पाचक रस शनैः २ पित्ताशय में संचित होता रहता है। जब भोजन आमाशय से च्युत होकर ग्रहणी कला अथवा पच्यमानाशय मे पहुँचता है तब ईश्वरीय लीला से पित्ताशय उत्तेजित होता है और उसका अधोद्वार खुल जाता है। इस द्वार के खुलने से पित्ताशयिक पित्त पित्त-प्रणाली द्वारा ग्रहणी कला के ठीक मध्य मे पहुँच जाता है। इसके द्वारा उपभुक्त आहार में एक विशेष प्रकार के पाचक रस का सम्मिश्रण होता है। इसका उचित सम्मिश्रण ही अजीर्ण को रोकता है।

५. क्लोम रस—

इस ग्रन्थि का कार्य विशेष कर पाचक रस को तैयार करना है। इसमें उत्पन्न होने वाला पाचक रस क्लोम-प्रणाली द्वारा प्रस्तुत होकर ग्रहणी कला के ठीक उसी स्थान पर खुलता है जहां पित्ताशय की नलिका खुलती है। अर्थात ग्रहणी कला में अवस्थित आहार में–ग्रहणी कला का स्राव, पित्ताशय रस तथा क्लोम रस, तीनों एक साथ मिलते हैं। परिणाम यह होता है कि आमाशय में से जब आहार उचित पाचक रसों से मिश्रित होकर चलता है तब आमाशयिक रसों की अम्लता के कारण अम्ल प्रति क्रिया वाला हो जाता है। अर्थात् अम्ल प्रतिक्रिया से जो प्रभाव भोजन पर अभीष्ट होता है अथवा आमाशयिक अम्लता की सहायता से उपभुक्त आहार के जिन तत्वों या अंशों का पाचन होता है वह क्रिया यहां पूर्ण हो जाती है। भोजन के शेष वसाजातीय तत्वों पर आमाशयिक अम्ल का विशेष प्रभाव नहीं होता, उन अंशों का पाचन करने के लिए–ग्रहणी, पित्ताशय और क्लोम ग्रन्थि के रसों की आवश्यकता होती है। इन ग्रंथियों से परिस्नुत रसों की प्रतिक्रिया क्षारीय होने के कारण भोजन की अम्लता नष्ट होकर क्षारीय रस के प्रभाव के कारण वसा जातीय अंश साबुन के सदृश झागदार बन कर शरीर में शोषित होते हैं। इन तीनों ग्रन्थियों के स्रावों की बलवत्ता से अजीर्ण रोग उत्पन्न नहीं होता।

६ क्षुद्रान्त्रीय रस—

ग्रहणी कला में उसके अपने स्राव, पित्ताशयिक रस तथा क्लोम रस की सहायता से आमाशय से अर्धपच प्रस्नुत आहार पूर्ण पाक को प्राप्त होता हुआ क्षुद्रान्त्र में उतरता है। यहां भी उस में अनेक रस जो पाचन कार्य में सहायक होते हैं मिलते हैं। एवं विध सम्यक् पक्व आहार क्षुद्रान्त्र में यथा-स्थान और यथा नियम ग्राहकांकुरों द्वारा प्रशोषित होता है। इस प्रकार भोजन का सम्यक् पाक अजीर्ण रोग को उत्पन्न नहीं होने देता।

७ अन्य सहायक ग्रन्थियों के रस—

इन उपर्युक्त रसोत्पादक ग्रंथियों के रसों से भिन्न अनेक अन्तः स्रावी ग्रंथियां भी मुख्य या गौण रूपेण इस कार्य में सहायता करती हुई अजीर्ण की उत्पत्ति को रोकती हैं।

८ *मानसिक प्रसन्नता —*

भोजन के सम्यक् पाक के लिए मानसिक प्रसन्नता का होना अत्यन्त आवश्यक है। विक्षुब्ध वा अशांत मानसिक अवस्था में किया हुआ आहार सम्यक् पाक को प्राप्त नहीं होता। यथा—

ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्य निपीड़ितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥

मन की अशांति तथा क्षुब्धावस्था का प्रभाव शरीर पर सर्वदा अनिष्ट कारक होता है। विशेषतः भोजन के पूर्व वा पश्चात् मानसिक क्षोभ उत्पन्न हो तो रसोत्पादक पिण्डों पर बुरा प्रभाव पड़ने से पाचक रसों की उचित मात्रा पिण्डों से उत्पन्न नहीं होती। पाचक रसों की अपर्याप्त मात्रा सर्वदा ही अजीर्ण रोग को उत्पन्न करती है।

इसका कारण यह है कि भोजन कार्य समाप्त होने पर रक्त-प्रवाह विशेष रूप से पाचक संस्थानों की ओर जाता है। इस रक्त प्रवाह की वृद्धि के कारण रसोत्पादक पिण्ड रसोत्पादन कार्य को सुचारु रूप से करने में सफल होते हैं। इसके विपरीत जब मानसिक क्लेश हो तो रक्त का समुचित प्रवाह पाचक पिण्डों की ओर नहीं जाता। इसका परिणाम यह होता है कि उचित मात्रा का पाचक रस भी पिण्डों से प्रस्तुत नहीं होता। ऐसी अवस्था में अजीर्ण का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

९ *कालोपयोगिता—*

उचित काल पर भोजन करना अजीर्ण रोग से बचने का सर्वोत्तम उपाय है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि भोजन का उपयुक्त काल कौन सा है ?

वर्तमान संसार में अगुलियों पर गिनने योग्य ही ऐसी जातियां व व्यक्ति है ? जो भोजन को स्वास्थ्य-वर्द्धन के लिये तथा उपयुक्त काल में ग्रहण करती हैं। अन्यथा परिस्थिति यह है कि भूख हो या न हो दफ्तर या विद्यालय का समय उपस्थिति होने पर भोजन कर लिया जाता है। नित्य-प्रति देखने में यह आता है कि ९, '१०, ११, १२, १ और २ बजे तक भारतीयों का भोजन होता रहता है। इस अव्यवस्था से रोगों की सख्या की वृद्धि प्रति दिन दृष्टिगोचर हो रही है। और इस रोग वृद्धि में अजीर्ण की संख्या बहुत अधिक है। भोजन के लिये एक सुन्दर उपदेश चरक में आता है। यथा—

> क्षुत्सम्भवति पक्वेषु रस दोषमलेषु च ।
> काले वा यदि वाऽकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः ॥

इस सदुपदेश में ९, १०, ११, १२ बजे का झगड़ा ही समाप्त कर दिया है। यहां तो भोक्ता को यह अधिकार है कि रस, दोष और मलों का सम्यक्पाक होने पर ही सच्ची भूख उत्पन्न होती है। यह क्षुद्बोध चाहे नियमित भोजन काल के पश्चात् ही क्यों न हो वही भोजन का उपयुक्त काल है। पूर्ण क्षुद्बोध होने पर ग्रहण किये हुए भोजन में ही, पाचक रस पूर्ण मात्रा में मिल सकते हैं। और इनका उचित सम्मिश्रण ही भोक्ता को अजीर्ण रोग से बचाता है।

१० सात्म्यत्व—

प्रत्येक शरीर की रचना भिन्न २ हुआ करती है। और इसी रचना के अनुसार कोई धर्मात्मा, कोई पापी, कोई नीच कर्मा और उच्च कर्मा एवं कोई दीर्घ, कोई ह्रस्व, कोई स्थूल, कोई कृश, कोई बहाशी, कोई अल्पाशी कोई स्वस्थ और कोई रोगी है। इस न्याय के अनुसार भिन्न २ स्वभावों और भिन्न २ शरीरों के लिए भिन्न पदार्थ-सात्म्य और असात्म्य होते हैं। ऐसा क्यों होता है यह विषय आज के लेख का नहीं है। जो भोजन मन के लिये

प्रिय और शरीर के लिए स्वास्थ्योत्पादक हो वही सात्म्य है। एवं विधि सात्म्य है। सात्म्य पदार्थ के सेवन से मानसिक-प्रसन्नता तथा शरीर का प्रतिक्षण होने वाला ह्रास पूर्ण होता है। ऐसा होने से अजीर्ण रोग उत्पन्न नहीं होता।

लेख के आरम्भ में बताया गया था कि 'अजीर्ण' 'इन तीन अक्षरों के द्वारा आयुर्वेद ने चिकित्सक को एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा है।' पाठक वृन्द! ऊपर के वर्णन में आपने देख लिया है कि अजीर्ण की उत्पत्ति में शरीर का कौन २ अवयव भाग लेता है। चिकित्सा आरम्भ करने से प्रथम यदि चिकित्सक अजीर्ण रोग के वास्तविक कारण को जानने में सफल हो जाता है तो सन्देहरहित सफलता चिकित्सक के चरण चूमेगी। अगर स्थिति इससे भिन्न हो अर्थात् किसी रोगी को पित्ताशयिक रसाल्पता के कारण अजीर्ण हो और उसकी चिकित्सा आमाशयिक-रस वृद्धि की हो रही हो तो परिणाम आप स्वयं विचार लें। एवं प्रत्येक पाचक रस की विषमता का विपरीत ज्ञान और उपाय भी असफलता के चतुर्भुज स्वरूप होंगे।

अजीर्ण रोग के दीर्घकालानुबन्धि होने से कौन २ रोग उत्पन्न होते हैं, यह बात किसी भी योग्य चिकित्सक से छिपी हुई नहीं है। तदपि एक विशेष उल्लेखनीय खेद यह है कि सम्प्रति हृदयावसाद (हार्टफेल) का रोग त्वरित गति से बढ़ रहा है। हृदयावसाद के अन्य कारणों के साथ साथ दैनिक अजीर्ण भी इसका विशेष कारण है। अजीर्ण के उपद्रवों में इसका उल्लेख विद्यमान है।

"मूर्च्छाप्रलापोवमथु. प्रसेकः सदनंभ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं वाप्यजीर्णत. ॥"

इसके अतिरिक्त रस मञ्जरीकार रससिद्ध भगवान नागार्जुन भी इसकी पुष्टि करते है। यथा—

हृदय में चलवत्ता प्राप्त कर के हृदयावसाद, मूर्च्छा और मरण तक के रूप में व्यक्त हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

हमने अपने अनुभव में हृदयावसाद के अनेक रोगियों का इतिहास लिया है। इस अनुभव के आधार पर यह निश्चय दृढ़ता का रूप धारण कर रहा है कि वर्तमान हृदयावसाद वा हृदयकार्यावरोध की उत्पत्ति में प्रतिवासरिक अजीर्ण बहुत बड़ा कारण है।

मैं चिकित्सक श्रेणी से अनुरोध करता हूं कि उपर्युक्त हृदयावसाद के कारण पर विचार करें और इसे जहां तक सत्य पायें, धन्वन्तरि द्वारा सब बन्धुओं को सूचित करें। मेरा विश्वास है कि केवल अजीर्ण की चिकित्सा करने से वैद्य समाज, जनता को इस दारुण रोग से बचा सकता है।

अजीर्ण चिकित्सा के सूत्र–

अजीर्ण की चिकित्सा के लिए चिकित्सक को पूर्ण साधन रखने की आवश्यकता हुआ करती है। यदि क्षुद्रान्त्रीय रसाल्पता से अजीर्ण हुआ है तो क्षुद्रान्त्रीय रसोत्पादक औषधों का ही प्रयोग होना चाहिये। परन्तु इस स्थान पर एक कठिनाई विशेष रूप से खटकती है। वह यह कि चिकित्सा ग्रन्थों में अजीर्ण की चिकित्सा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि अमुक स्थानीय रसाल्पता के लिये अमुक रस, क्वाथ, अवलेह, चूर्ण या अन्य औषध प्रयोगार्ह है। ऐसी अवस्था में तब ही सफलता हो सकती है जब पृथक् २ औषध वा द्रव्य समुदायात्मक योगस्थ औषधों के तात्विक विश्लेषण और तज्जन्य प्रभाव (Action) पर प्रयोक्ताका पूर्ण अधिकार (Control) हो। इस सरणी के अनुसार संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र चिकित्सा का नीचे उसी क्रम से उल्लेख किया जाता है जिस क्रम से अजीर्णोत्पत्ति पीछे दी गई है।

आमाशयिक रसाल्पताजन्य अजीर्ण में—

प्राय; उन औषधों का समावेश होना चाहिए जिनमें—अम्ल, लवण और कटु रस की अधिकता हो। क्योंकि इन्हीं रसों के द्वारा आमाशयिक रसों की वृद्धि और तीक्ष्णता हो सकती है। कारण कि—

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च।" (चरक)

शरीर प्रत्येक कमी को स्वयोनिवर्द्धक द्रव्य से ही पूर्ण किया जा सकता है।

'समानगुणाभ्यासो हि धातूनामभि वृद्धिकारणम्।'

इस विषय का विस्तृत वर्णन लेख को बहुत बढ़ा देगा। अब इस अवस्था में व्यवहृत होने वाले शास्त्रीय योगों के गुण धर्म पर विचार होगा।

आमाशयोत्थ पाचक रस नैर्बल्य में—

भास्कर लवण, सैंधवादि चूर्ण, अग्निकुमार रस, क्रव्यादि रस, शार्दूल काजिक, (भैषज्य रत्नावल्युक्त) महोदधिवटी, वडवानल रस, शङ्खवटी, (रसेन्द्र-सारोक्त) इन योगों के भीतर ऐसे ही द्रव्यों का संग्रह हुआ है जिन का प्रभाव सीधा आमाशयिक रसों की वृद्धि करना तथा उन में पाचकांश को बढ़ाना है। इनके अतिरिक्त नैतिक व्यवहारार्थ कुछ मुष्टिक योग यह हैं। यथा—

१-जरणद्यूपणोपेतो नरसारो विशोधितः।
दिन सप्तक मात्रेण जाठराग्निप्रदीपन.॥
२-मरीचसैन्धवामिसियुक्त. शुद्धो नसादरः।
आध्मानाजीर्णशमनो भुक्त मांसादि जारणः॥
३-विडाजमोद मिशिका धात्री चूर्णेन सोरकः।
भक्षितो निम्बुनीरेण विदग्धाजीर्णकं जयेत्॥

४–अर्कक्षार: सलवणो नरसार समन्वित: ।
अजीर्णं नाशयेदाशु जाठराग्निश्च दीपयेत् ॥
५–मृतं ताम्रं कणातुल्यं चूर्णं क्षौद्र विमिश्रितम् ।
निष्कार्द्धं भक्षयेन्नित्यं नष्ट वह्नि प्रदीप्तये ॥

ग्रहणी रस नैर्बल्योद्भव अजीर्ण में—

वज्रधर रस, लघुसिद्धाभ्रक, अग्निकुमार रस, शम्बूकादि चू०, लोकनाथ रस, (रसरत्न समुच्चयोक्त) महागन्धक, महाभ्रवटिका, अभ्रवटिका, महाराज नृपतिवल्लभ रस (भैषज्य रत्नावल्युक्त) उपर्युक्त रसों में ऐसे ही द्रव्यों का समह हुआ है जो ग्रहणी कला से प्रस्तुत होने वाले पाचक रस की वृद्धि और बलवत्ता करने के साथ २ ग्रहणी कला के रसांकुरों के शोथ को दूर कर के कला को स्वस्थ और बलवान् रसोत्पादन में शक्ति देते हैं ।

क्लोम रस नैर्बल्य जनित अजीर्ण में-

प्राय: वसाजातीय भोजन का पक्वीकरण भली प्रकार नहीं होता । ऐसी अवस्था में अपरिपक्व तथा आंत्र में आचूषित न होने योग्य आहार का कलल्क सूक्ष्मांत्र में पहुँच कर-आध्मान, शिरोगुरुत्व, क्षुन्नाश एवं शरीर के प्रत्येक अङ्ग में अस्वास्थ्य को उत्पन्न करता है । एतदर्थ- वाडवाग्नि रस, (रस रत्न समुच्चयोक्त) अजीर्ण बल कालानल रस, वीरभद्राभ्रक,(भैषज्यरत्नावल्युक्त) दिये जा सकते हैं । वसंतकुसुमाकर रस इस रोग की जीर्णावस्था में दिया जा सकता है ।

क्षुद्रान्त्रीय रस नैर्बल्योद्भव अजीर्ण में-

प्राय: अन्न ग्रहणेच्छा का अभाव, सूक्ष्मांत्र में मन्द २ वेदना, गुरुत्व, मुखविरसता, बेचैनी, आमरस की प्रचुरता, क्षुद्रान्त्रीय गतियों की शिथिलता, आदि लक्षण हुआ करते हैं । शनैः २ जब क्षुद्रान्त्र से अपरिपक्व और अप्रशोषित आहार बृहदन्त्र में पहुँचता है तब आनाह, आटोप, मलावरोध और

अपानवायु तथा पुरीष में अत्यन्त दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। अन्ततोगत्वा इसका परिणाम विष्टब्धाजीर्ण के रूप में प्रकट होता है। एतदर्थ वातानुलोमक और मल भेदक चिकित्सा का आश्रय लेना चाहिये। जब तक अन्तड़ियों में संचित अपरिपक्व और दूषित वाष्पों को उत्पन्न करने वाला विकृत मल आंतों से बाहिर न निकाला जावे तब तक आंतों को स्वाभाविक कार्य करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। अतः सुकुमारमोदक, जयपालादिमोदक; अग्निमुख लवण, नाराच चूर्ण, (भैषज्य रत्नावल्युक्त) दिये जा सकते हैं। अवशिष्ट चिकित्साक्रम विष्टब्धाजीर्ण का ही करना चाहिये। इस प्रकार सुचिकित्सा के द्वारा अजीर्ण और उसके द्वारा होने वाले भयङ्कर रोग स्वतः ही प्रशमित रह सकते हैं।

जलोदर पर स्नुह्यादि वटी

लें०—श्री० पं० शिवशर्मा जी बी० ए० आयुर्वेदाचार्य

जलोदर में जल शोषण के लिए और बल की रक्षा के लिए अच्छे रेचक और अच्छे पथ्य की आवश्यकता होती है। निम्नलिखित चिकित्सा उपयोगी देखी गई हैं।

सहिंजने के बीज का चूर्ण खरल में डाल कर ऊपर से इतना थूहर का दूध डालें कि चूर्ण सब अच्छी प्रकार ढक जाए। फिर इसे खरल करते २ गाढ़ा कर के ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें। आवश्यकतानुसार १ या २ गोली प्रातः सायं गरम जल से दें।

पथ्य—खजूर, गरम जल, अर्क मकोय, चने की रोटी और मधु।

जलोदर

ले० श्री० वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह जी रसायनाचार्य
अध्यक्ष—आयुर्वेदिक फार्मेसी हिन्दी यूनिवर्सिटी बनारस

यह रोग हृदय ,यकृत और वृक्क की दुर्वलता के कारण प्राय: उत्पन्न होता है। यकृत संकोच, यकृत विद्रधि और किसी अन्य उपद्रव जन्य सर्वाङ्ग-शोध होने पर भी जलोदर हो जाता है। आयुर्वेद में जलोदर के प्रकरण में यकृदाल्युदर और प्लीहोदर को भी सम्मिलित कर दिया है। वस्तुत. यह दोनो ही स्वतन्त्र रोग है। किन्तु इनकी अभिवृद्ध दशा से उदर में जल-संचय हो जाता है इस कारण इनकी परिगणना जलोदराधिकार में की गई हो ऐसा सम्भव प्रतीत होता है।

इसी प्रकार क्षतोदर और बद्धगुदोदर भी स्वतन्त्र रोग है किन्तु कोष्ठ रोग होने के कारण इनको भी उदराधिकार में सम्मिलित कर लिया गया है। वस्तुत: दकोदर (Ascites) ही है, इस लिये इस लेख में केवल इस रोग की ही चिकित्सा लिखने का यत्न करेंगे।

दकोदर का निदान जो चरक में लिखा है समुचित है। अत यहां केवल चिकित्सा पर ही प्रकाश डालना आवश्यक है।

चिकित्सा के लिये तीन सूत्र काम में लाये जाते हैं। (१) रेचन, (२) संदीपन, (३) बलकारक।

इन तीनों सूत्रों को रोगी की अवस्था विशेष को ध्यान में रख कर उपयोग में लावें, यदि रोगी क्षीण हो व जलाधिक्य और

यकृत, वृक्क एवं हृदय की दुर्बलता भी साथ ही हो तो इच्छाभेदी का रेचन देकर स्वर्णपर्पटी १ रत्ती से ८ रत्ती तक की मात्रा क्रमशः देकर केवल दुग्ध पर ४० दिन तक रोगी को रक्खे। बीच में दोषानुसार तीव्र रेचक का साप्ताहिक प्रयोग करते रहें। यदि रोगी इस प्रयोग से सुधरने लगे तो ठीक है अन्यथा 'नित्यं रेच्यो नवोदरी' के सिद्धान्तानुसार स्नुही दुग्ध और मनः शिलायुक्त जलोदरारि का प्रयोग प्रति दिन करें। यदि इस पर भी जल का शोषण और प्रवाहण न हो तो ताम्रभस्म १ रत्ती, स्वर्ण भस्म १ रत्ती मिला कर प्रयोग करें। तृषाधिक्य में नारिकेलोदक, पुनर्नवाक, काकमाच्यादि अर्क, मुण्डी अर्क का प्रयोग यथेच्छ करें।

यदि इस व्यवस्था पर भी उदर में शैथिल्य कम न हो और मांस-पेशियां स्थूलतर नीलशिराच्छादित दीख पड़ें तो निम्न-लिखित उपनाह रात्री के समय में करें। (१) स्नुही पत्र, (२) अर्कपत्र, (३) पुनर्नवापंचागं, (४) निर्गुण्डी पत्र, (५) धत्तूर पत्र।

इन सबको समान भाग लेकर, पीस कर कल्क बना लें और उस कल्क में गौमूत्र और तिल तैल समान देकर हलुआ सा बना लें। सहिष्णुता के अनुसार हृदय पर सेंक दें और सहन करने लायक जब उष्णता रह जाय तब ऊपर फैला कर बांध दें और ऊपर से नमक की पोटली से फिर सेंक करते रहें। अधिकांश में इस व्यवस्था से लाभ होजाता है। यदि जल का प्रवाह हो जाने पर भी यकृत एवं वृक्क अपना प्राकृतिक कार्य सुचारु रूप से करने में सम्पन्न न हो तो वरुणादि क्वाथ के साथ एक छटांक गौमूत्र मिला कर दिन में एक बार अवश्य

प्रयोग करें। यदि प्रति दिन गौमूत्र मिलाने में कठिनाई हो तो ४ सेर गौमूत्र लेकर उसकी मन्द आंच पर रसक्रिया कर लें, जब गौमूत्र, रसौत के समान गाढा हो जाय तब उसको उतार कर काच की शीशी में भर कर रखलो। इसमें से १ तोला द्रव्य, १ बोतल स्रुत जल (Distilled Water) मिला कर घुला लें तो, यह आध सेर गौमूत्र की ताकत का द्रव्य तैयार हो जायगा। इसमें से यथावश्यक लेकर उक्त वरुणादि क्वाथ में मिला दें।

उपरोक्त वरुणादि क्वाथ के सब द्रव्य न मिले तो यथाप्राप्य द्रव्य लेकर उसका उपयोग करें परन्तु वरुणा की छाल ताज़ी होना आवश्यक है।

यदि इस व्यवस्था पर भी उपकार दिखाई न दे तो असली गोरोचन आधी रत्ती, कस्तूरी १ चावल, इस क्वाथ के साथ और देना आरम्भ करना चाहिये। यदि हृदय दुर्बल हों और यकृत वृक्कादि ठीक कार्य करते हो तो अर्जुन क्षीर पाकके साथ प्रभाकर वटीका प्रयोग करें (सैं० २०)। हृदय यकृत वृक्क की गति ठीक हो और जल का शोषण हो जाये तदनान्तर मुद्गयूष, पंचकोल घृत के साथ देना प्रारम्भ करें। पथ्य के बाद लवणोत्तमादि चूर्ण ३ से ६ माशा प्रातः सायं अजमोदार्क के साथ दें। एवम् पथ्योत्तर, पिप्पल्यासव के अनुपान से वृहच्छंख वटी का सेवन करावें। यह व्यवस्था कम से कम ३ मास तक रहनी चाहिये फिर रोगी को धीरे २ प्राकृत भोजन शनै. शनैः देना प्रारम्भ करें। यदि बीच में मन्दाग्नि का भय हो और शरीर पर आम रस के चिन्ह दिखाई दें तो तक्रारिष्ट का प्रयोग करें और पुनर्नवा माण्डूर व नवायस लोह उचित मात्रा में प्रयोग करावें।

उदररोगों की सफल चिकित्सा

ले०—श्री० वैद्य बांकेलाल गुप्त, आयुर्वेदाचार्य, प्र०सम्पादक 'धन्वन्तरि'

धन्वन्तरि के विशेषांक में उदर रोग और उदर स्थानिक रोगों (उदरस्थ रोग) का वर्णन विद्वान वैद्यों और अनुभवी चिकित्सकों द्वारा बड़ी उत्तमता स विवेचनापूर्ण हो चुका है उस पर पुनः लिखना पिष्ट-पेषण ही होगा, यह समझ हम उदर रोग का वर्णन न करते हुए अपनी अनुभव जन्य चिकित्सा पद्धति ही लिख रहे हैं आशा है कि पाठक इसके अनुसार चिकित्सा कर रोगियों को रोग मुक्त कर धन और यश उपार्जन कर सकेंगे।

१—जिस रोगी के हाथों और पैरों पर तथा नाभि, कूख में सूजन हो, पसवाड़े, पेट, कमर पीठमें दर्द हो सूखी खांसी और मलाव-रोध हो, पेट फूला अफरा से हो जो बजाने से ढोल के समान पोला पन की आवाज वाला हो तब उनको प्रातः और सायं काल शोथोदरारि लोह १-१ माशे खिला ऊपर से अभयारिष्ट २ तोला, पुनर्नवा का अर्क २-२ तोला मिला कर पिलावें। भोजन के समय प्रथम ५ ग्रास में सामुद्रादि चूर्ण ३-३ माशे घृत मिला कर सेवन करावें। रात्रि को सोते समय-पुनर्नवादि माडूर २ गोली, गाय का मूत्र २ तोले और पानी २ तोले मिलाकर पिलावें।

२—जिस रोगी का पेट बढ़ा हुआ हो और उस पर हरे और लाल रंग की नसें उभरी हुई हों। प्यास और ज्वर हो। पतले दस्त होते हों, शरीर का रंग पीलापन लिये हो, पसीना आता हो, पर सूजन भी हो तब उस रोगी को प्रातः और सायकाल-दुग्ध वटी (अहिफेन-युक्त) एक एक गोली दुग्ध के साथ, दोपहर और रात्रि को-मांडूर

भस्म २ रत्ती, त्रिफला ३ माशे, मधु ६ माशे मिला कर चटावें ऊपर से लोहासव १-१ तोला मिला कर पिलावें।

३—जिस रोगी का पेट भारी और बढ़ा हुआ हो, तमाम शरीर पर सूजन हो, रोगी को आलस्य, निद्रा अधिक आवे, कफ-खांसी हो दस्त न होता हो या कड़ा और कम आता हो तब उस रोगी को प्रातः और सायं-शोफोदरारि लोह १-१ माशे, ऊपर से पुनर्नवादि क्वाथ पिलावें। दोपहर को और रात्रि को—पुनर्नवादि अवलेह १—१ तोले चटावें।

४—जिस रोगी का पेट बढ़ा हुआ हो साथ ही यकृत भी बढ़ गया हो, भूक कम हो ज्वर भी हो शरीर का रंग पीलापन लिये हो तब उस रोगी को—प्रात और सायं काल—वृ० यकृतोदरारि लोह १-१ गोली ऊपर से लोहासव १—१ तोले पानी १-१ तोले मिला कर पिलावें दोपहर और रात्रि को— वज्रक्षार चूर्ण ३-३ माशे गुनगुने पानी के साथ फकावें।

५—जिस रोगी का—यकृत और प्लीहा दोनों ही बढ़ी हुई हों। उदर रोग भी हो तब उसको-प्रात. सायं-यकृत प्लीहाहरि लोह १—१ गोली ऊपर से रोहितकारिष्ट २-२ तोला, पानी २-२ तोले मिला कर पिलावें। दोपहर और रात्रि को—संखद्राव १०-१० बूंद, कुमारी आसव २-२ तोला मिला कर पिलावें, अथवा गोमूत्र ५-५ तोले में सखद्राव मिला कर पिलावें।

६—जिस रोगी का पेट अधिक बढ़ा हुआ हो, बजाने पर मुश्क की तरह आवाज देता हो जिसे लोग जलन्धर कहते हैं। उस रोगी को प्रातः और सायं काल-जलोदरारि रस १-१ गोली ऊपर से पुनर्नवा का अर्क २-२ तोले पिलावें। दोपहर और रात्रि को-वारिशोषणरस १-१ गोली खिला ऊपर से कुमारी आसव दो तोले पिलावें।

दुग्ध-कल्प—

उदर रोग, शोथ, गृहणी रोग, पाचन विकार, यकृत, सीहा-वृद्धि सब के लिये अति लाभदायक और बलवर्धक है।

विधि—

प्रथम रोगानुसार औषधियां और पथ्य देते रहे। पर ध्यान रखना चाहिये कि उन्हें दुग्ध का कल्प करना है इस लिये औषधियां ऐसी देनी चाहिये कि दुग्ध भी दिया जा सके और पथ्य में थोड़ा २ दुग्ध भी देना चाहिये। इस तरह औषधियां और पथ्य देते हुए दूध धीरे २ बढ़ाना चाहिए और अन्न-जल कम करते जाना चाहिए। जब अन्न अधिक कम हो जाय तब सायंकाल का भोजन बन्द कर देना चाहिए। और अन्न के स्थान पर दुग्ध देना चाहिये, इसके पश्चात् धीरे २ सुबह का भी अन्न बन्द कर दूध ही देना चाहिए। अब जब अन्न बिलकुल बन्द हो जाय तब जल भी बन्द कर के सिर्फ दुग्ध ही देना चाहिये। दुग्ध गाय का औटा कर मिश्री मिला ठण्डा कर देना चाहिये।

अब कल्प का आरम्भ हुआ। और यह कल्प तब तक देना चाहिये, जब तक रोगी पूर्ण स्वस्थ्य न हो जाय। ४० दिन से कम तो देना ही न चाहिये। चाहें २०-२५ दिन में ही रोगी स्वस्थ्य हो जाय, हां यदि ४० दिन में भी रोगी स्वस्थ नहीं हो तब अधिक दिन देना चाहिये।

अब अन्न का पथ्य देना चाहिये। तथा अन्न जल बढ़ाकर दूध धीरे-धीरे कम करना चाहिये। जब पूर्ण अन्न जल मिल जाय तब दुग्ध बन्द कर देना चाहिये। यह कल्प का क्रम है। औषधियां भी रोगानुसार देते रहना चाहिये। स्थानाभाव से हम औषधियों के प्रयोगों का पूर्ण वर्णन् नहीं दे सके। पाठक क्षमा करें।
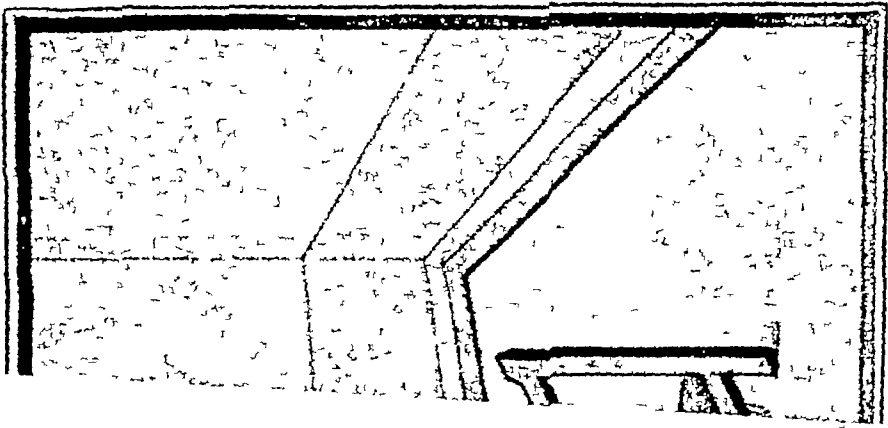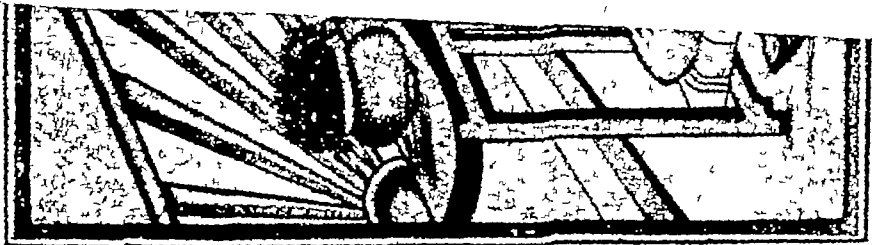
(पित्तोदर)

उदर विकृति को सब रोगों का कारण

क्यों माने हैं?
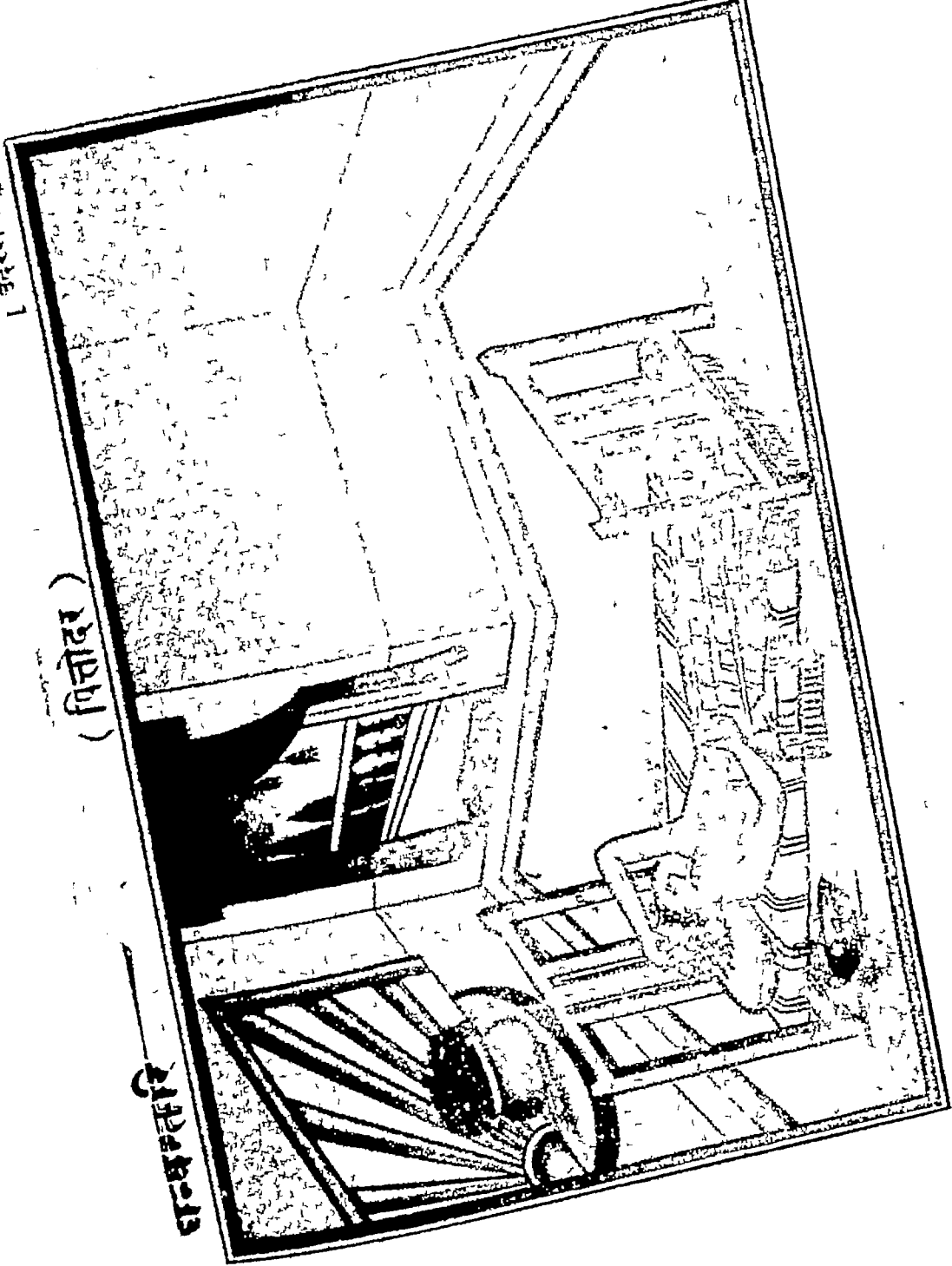
लेखक—प्रोफेसर, कविराज श्री उपेन्द्रनाथदास जी,
काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ, देहली।

प्राचीन और अर्वाचीन पद्धतिके अनुसार 'अग्नि और पित्त' के समन्वय तथा मार्मिक-विवेचन के साथ यशस्वी लेखक ने सब रोगों के कारण 'उदर-विकृति' को बड़े महत्वपूर्ण ढंग से गुम्फित किया है। माननीय लेखक का यह विवेचन अति महत्वपूर्ण है। —सम्पा०

आयुर्वेद का सिद्धांत है कि "रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ" अर्थात् अग्नि मन्द होने से सब ही रोग उत्पन्न हो सकते हैं, इस सिद्धांत को समझने के लिये अग्नि के स्वरूप और कार्य को समझना परम आवश्यक है। अग्नि से शरीर के अन्दर पाक क्रिया सम्पन्न होती है इसका अर्थ यह है कि जिससे पाक क्रिया होती है वह अग्नि है। अतएव अग्नि के स्वरूप को समझने के लिये पाक क्रिया को भी समझना पड़ेगा। स्थूल दृष्टि से हम देखते हैं कि पुष्टि कर अन्न के उपयोग से हमारे शरीर और बल की पुष्टि होती है, किन्तु वास्तव में यदि हमारी अग्नि विकृत हो और अन्न का परिपाचन ठीक २ तरह से न कर सकती हो तो, भुक्त अन्न भी बेकार ही है। चरक जी ने लिखा है कि—

'यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम् ।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्नह्यपक्वाद्रसादयः ॥'

अर्थात्—जिस अन्न को शरीर के धातु, ओज, बल, वर्ण आदि का पोषक समझा जाता है वहां अग्नि को ही कारण मानना चाहिये, क्योंकि अन्न का ठीक २ प्रकार से पाक न हो तो रसादि धातु, बल, ओज आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है, उलटा वह अन्न विष जैसा हानि कारक बन जाता है। कहा भी है कि "अजीर्णे भोजन विषम्" अग्नि के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कल्पना और मत भेद है अत. इस पर विशेष विवेचना की आवश्यकता है।

अग्नि के विषय में शास्त्रीय सकेत—

चरक जीने लखा है कि—

"अग्निरेव पित्तान्तर्गत' शरीरे शुभाशुभानि
करोति, तद्यथा पक्तिमपक्तिमित्यादि ।

इस वाक्य से मालूम पड़ता है कि शरीर में केवल पाचक अग्नि ही नहीं, जितनी अग्निया हैं सब ही पित्तान्तर्गत होकर अपने-अपने कार्य को करती हैं। पित्त से स्वतन्त्र अग्नि शरीर के अन्दर नहीं रह सकती है। सुश्रुत जी ने भी लिखा है कि—

'तत्र जिज्ञास्य किं, पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निराहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते। आग्नेये तु पित्ते दहन-पचनादिष्वभिवर्तमानेऽग्निवदुपचार क्रियतेऽन्तरग्निरिति। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिप्रवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामो, न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ॥'

अर्थ—यहां जानने की इच्छा होनी चाहिये कि, पित्त से स्वतत्र अग्नि कुछ है कि, पित्त ही अग्नि है ? इसका उत्तर यह है कि, पित्त से अतिरिक्त और कुछ अग्नि मालूम नहीं पड़ती है। पित्त अग्नि प्रधान है। दहन-पचन आदि कार्य करता है, इसलिये इसमें अग्नि जैसा उपचार किया जाता है कि पित्त अन्तरग्नि है। जब अग्नि गुण क्षीण होता है तब पित्त के समान गुण युक्त उष्ण-तीक्ष्ण आदि द्रव्यों के उपयोग से अग्नि की वृद्धि होती है। अग्नि की अति वृद्धि में शीत क्रिया से शान्ति होती है, इस युक्ति से और शास्त्र वचन से भी देखते हैं कि पित्त से अतिरिक्त स्वतन्त्र अग्नि शरीर में नहीं है।

पूर्वोक्त शास्त्र वचन के अनुसार अग्नि और पित्त को अभिन्न माना जावे तो अग्नि को तरल पदार्थ मानना पड़ता है, क्योंकि अग्नि और पित्त अभिन्न हैं, तो दोनों का स्वरूप भी एक ही होना चाहिये। शास्त्र में पित्त को उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, कटु, अम्ल और सर कहा है। यदि उपरोक्त लक्षण विशिष्ट पित्त को अग्नि माना जावे तो, आधुनिक प्रयोगवाद सिद्ध 'नानाविध पाचक-रस' को 'पाचक-पित्त' कह देना सरल हो जाता है। किन्तु अग्नि और पित्त दोनों को अभिन्न वस्तु कहने से शास्त्र विरोध भी हो जाता है जैसा कि—

१—सम दोष. समाग्निश्च...(सुश्रुत) यहां समदोष कहने से ही पित्त की समता समझी जाती है, फिर समाग्निश्च कहने से सिद्ध होता है कि दोष रूपी पित्त से अग्नि पृथक् पदार्थ है।

२—पित्त और अग्नि अभिन्न वस्तु हो तो, 'तीक्ष्णः पित्तेन' पित्त से अग्नि तीक्ष्ण होती है, ऐसा शास्त्र वाक्य निरर्थक हो जाता है।

३—कटुवजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। आप्लावयद्धन्त्य-नलम् ..आदि शा० सूत्र में पित्त वृद्धि से अग्निके नाश होनेके वर्णन से सिद्ध होता है कि, पित्त और अग्नि अभिन्न वस्तु नहीं है।

४—घृत प्रभृति कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो पित्त नाशक होकर भी अग्नि वधक हैं, तथा मत्स्य आदि कुछ ऐसे द्रव्य भी हैं, जो पित्त वर्धक होकर भी अग्नि नाशक हैं फिर पित्त और अग्नि को अभिन्न वस्तु कहना ठीक नहीं होता। पित्त वधक द्रव्य से अग्नि की वृद्धि और पित्त नाशक द्रव्य से अग्नि का नाश होना दोनों का अभेद साधक प्रमाण नहीं है। मेद, श्लेष्मा और शुक्र समान गुण वाले हैं, इनमें से एक को बढ़ाने वाला दूसरे को भी बढ़ाता है, एक को घटाने वाला दूसरे को भी घटाता है किन्तु मेद, शुक्र और श्लेष्मा अभिन्न वस्तु नहीं हैं इस प्रकार से अग्नि और पित्त भी समान गुण वाले तो हो सकते हैं, किन्तु अभिन्न वस्तु नहीं हैं।

भाव प्रकाश में—अग्नि के स्वरूप वर्णनार्थ रसप्रदीप के निम्नोक्त श्लोक उद्धृत हुए हैं—

'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः।
सौक्ष्म्याद्रसानाददानो, विवेक्तुं नैव शक्यते॥
नाभौ मध्ये शरीरस्य विशेषात् सोममण्डलम्।
सोम मंडल-मध्यस्थं, विद्यात् सूर्यस्य मण्डलम्॥

प्रदीपवत्तत्र नृणां, स्थितिमध्ये हुताशनः ।
सूर्यो दिवि यथा तिष्ठन्तेजो युक्तैर्गभस्तिभिः ॥
विशोषयति सर्वाणि, पल्वलानि सरांसि च ।
तद्वत् शरीरिणां भुक्तं, ज्वलनो नाभिमाश्रितः ॥
मयूखैः पचति क्षिप्रं, नाना-व्यञ्जन-संस्कृतम् ।
स्थूलकायेषु सत्त्वेषु, यवमात्र-प्रमाणतः ॥
ह्रस्वकायेषु सत्त्वेषु, तिल-मात्र—प्रमाणतः ।
कृमि-कीट-पतंगेषु, बाल-मात्रोऽवतिष्ठते ॥

इसका अभिप्राय यह है कि अन्न को पकाने वाला भगवान् जाठराग्नि सूक्ष्मता के कारण रसों को ग्रहण करते हुए, पृथक् नहीं किया जा सकता है। शरीर के मध्य भाग में जो नाभि है, वहां विशेष करके चन्द्र मण्डल रहता है और चन्द्र मण्डल के मध्य में सूर्य मण्डल रहता है वहां प्रदीप जैसी वह्नि है। जैसे सूर्य आकाश में रह कर अपनी तेज युक्त किरणों से पत्ते, सरोवर आदि को सुखाता है, ऐसे ही मनुष्यों की नाभि संस्थित अग्नि भी अपनी किरणों से नाना व्यञ्जन-संस्कृत अन्नों को पचाती है।

इस वर्णन से समझा जाता है कि पाचक पित्त (अग्नि) तरल रस नहीं है, किन्तु सुगदीप (स्पिरिट लैम्प) जैसा शिखा युक्त द्रव्य है, जो अपनी उष्ण शिखाओं से अन्न को पचाता है। "चरक संहिता" में भी लिखा है कि—

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः ।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥

इसका सरलार्थ यह है कि, जिस प्रकार स्थाली (बटलोई) के नीचे चूल्हे के अन्दर अग्नि रह कर भी भात बनाने के लिये चावल और पानी को पकाती है। उसी प्रकार आमाशयस्थ भुक्त-अन्न को, अधःस्थित अग्नि, उसे रस और मल में परिणत करने के लिये पकाती है।

चरक जी के इस वर्णन से भी, मालूम पड़ता है कि, आमाशय के नीचे किसी स्थान पर शिखायुक्त अग्नि है, जिसकी ज्वाला से आमाशयस्थ अन्न की पाचन क्रिया होती है। श्रीमान् वाग्भट्ट जी ने भी पाचक पित्त के वर्णन में 'त्यक्तद्रवत्वं' विशेषण लगाया है। इससे सिद्ध होता है कि पित्त एक द्रवपदार्थ है किन्तु पाचक पित्त द्रवत्व को छोड़ देता है अर्थात् उसमें द्रवत्व नहीं है। उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर, और कटु जिस पित्त को कहा गया है, वह अपने द्रवत्व को छोड़ देवे तो कठिन अर्थात् ठोस हो सकता है, प्रदीप जैसा शिखाकार नहीं हो सकता। इस प्रकार विभिन्न दिशा में ले जाने वाला शास्त्र वचन देखकर धैर्य के साथ विवेचन करना पड़ता है कि, अग्नि क्या चीज है ?

शरीर के अन्दर नाभि प्रदेश में प्रदीपवत् शिखा-युक्त अग्नि है, इसको रूपक नहीं समझ कर, यदि इसका सरल अर्थ लिया जावे तो कहना पड़ता है कि, नाभि के अन्दर एक सुरादीप जैसा दीपक है और उसके ऊपर आमाशय रूपी हांडी रखी है, उस दीपक की शिखा की गर्मी से आमाशय गर्म होता है और तब उसके अन्दर का भुक्त अन्न भी गर्म होकर उबलता हुआ पकता है। इस प्रकार सरल अर्थ लेने से निम्न-लिखित विप्रतिपत्तियां खड़ी होती हैं—

१—सुरादीप को जलने के लिये जैसे-सुरा और वर्ति चाहिये, पाचकदीप को जलने के लिये ऐसे ही कुछ दाह्य वस्तु चाहिये। जिन वस्तुओं को अग्निवर्धक माना जाता है उनको हम पाचक प्रदीप के लिये दाह्य वस्तु नहीं समझ सकते हैं और न वर्ति जैसी सतत चीयमान वस्तु नाभि के अन्दर मिल सकती है।

२—एक धातुपात्र भी अग्नि शिखा पर हमेशा के लिये रखा रहे तो कुछ दिनों में जल कर खाक हो जाता है, फिर आमाशय जैसा रक्त-मांस से बना हुआ अङ्ग, सारी जिन्दगी भर अग्नि शिखा पर रखा रहे और उसमें दाग भी न लगे यह कैसे हो सकता है ?

३—पाक पात्र में पाच्यद्रव्य रहे तो वह अत्यधिक गर्म नहीं होता किन्तु खाली पात्र अग्नि शिखा पर रहने से अत्यधिक गर्म हो जाता है। इधर पाचक प्रदीप पर रखा हुआ आमाशय रूप पात्र चाहे अन्न से भरा हो चाहे खाली हो, और किसी अङ्ग से अधिक गर्म नहीं होता है। अधिक गर्म होता तो अत्यधिक जलन का अनुभव होना चाहिये था।

४—यदि आमाशय के नीचे पाचक दीपक है और उसकी शिखा से आमाशयस्थ अन्न पकता है तो आमाशय के नीचे ग्रहणी-क्षुद्रान्त्र आदि स्थान में पाचन क्रिया नहीं हो सकती। जिसने लिखा है कि, अग्नि की अधोज्वाला से अन्त्र में भी पाक क्रिया होती है उनको परीक्षा करके देखना चाहिये कि, दीपक के नीचे रखा हुआ पानी भी अधो-ज्वाला से गर्म होता है या नहीं ?

४—यदि बाहर की अग्नि जिस प्रकार भोज्यवस्तु को गर्म करती है ऐसे ही अन्तरग्नि का कार्य भी भुक्त द्रव्य को गर्म करना मात्र ही है तो 'रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ' कहकर मन्दाग्नि के इतना भीषण वर्णन करने की आवश्यकता नहीं थी और न मंदाग्नि रोग की चिकित्सा के लिये औषध प्रयोग की आवश्यकता होती। जिसका पाचकाग्नि कमजोर है, उसके खाने को और कुछ देर तक बाहर की अग्नि में गर्म करके खिला देना ही पर्याप्त हो जाता, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता है। चरक जी ने लिखा है, भुक्त अन्न को रस और मल रूप में परिणत करने के लिये अधःस्थित पाचकाग्नि आशयस्थ अन्न को पकाती है, किन्तु बाह्य अग्नि से भोज्यपदार्थ का गर्म करके या पका कर कदापि रस और मल रूप में परिणत नहीं किया जा सकता है।

इन बातों पर विचार करने से स्वीकार करना पड़ेगा कि पाचक अग्नि प्रदीपवत् शिखायुक्त अग्नि नहीं है और भोज्य द्रव्य को गर्म करना अग्नि का कार्य नहीं है। वाग्भट्ट के 'त्यक्तद्रवत्वं' विशेषण को देख कर यदि अग्नि को ठोस पदार्थ कहना चाहें तो अग्नि को तप्त-लौह खण्ड या ज्वलन्त अङ्गारवत् कहना पड़ता है। उसमें भी भोज्य-पदार्थ के साथ अग्नि का उतना ही सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है, जितना शिखायुक्त वह्नि से। क्योंकि पाकपात्र के नीचे की अग्नि जबतक पाक पात्र में नहीं आती, तबतक पाच्य-द्रव्य को पका नहीं सकती। आमाशय के नीचे ठोस अग्नि रहे तो, तापसंवाहन द्वारा या द्रव होकर ही आमाशय में जाना पड़ता है। "त्यक्तद्रवत्वं" देख कर अग्नि को द्रव रूप नहीं मानते तो, केवल ताप संवाहन द्वारा ही भोज्य द्रव्य से अग्नि

का सम्बन्ध हो सकता है, जिससे पहिली सारी विप्रतिपत्तियां आ पड़ती हैं।

जीवित शरीर या मृत शरीर को काटकर कभी किसी ने ठोस अग्नि को प्रत्यक्ष नहीं किया और न ठोस अग्नि के आधार को प्रत्यक्ष किया, अतएव अग्नि को ठोस समझना भारी भूल होगी।

अग्नि और पित्त को सर्वथा अभिन्न वस्तु क्यों नहीं मान सकते हैं ? उसका पहिला कारण यह लिखा है कि, पित्त से अग्नि को सर्वथा भिन्न वस्तु भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि सुश्रुत जी ने लिखा है कि—

"न हि पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते ।"

इस प्रकार से यदि अग्नि पित्त से भिन्न भी नहीं है अभिन्न भी नहीं है तो फिर वही प्रश्न आ जाता है कि अग्नि क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन टीकाकार ने दिया कि, पाचक पित्त एक ऐसी मिश्रित वस्तु है, जिसमें जलीय और आग्नेय अंश दोनों ही अधिक मात्रा मे रहते हैं। मिश्रित वस्तु का नाम पित्त है और उसमें जो अग्नेयांश हैं उनमें से एक प्रकार का आग्नेयांश पाचकाग्नि है। यह पाचकाग्नि तथा और सब प्रकार की अग्नियां पित्त को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकतीं न ये आग्नेयांश को छोडकर पित्त नामक वस्तु बन सकती हैं, क्योंकि शरीर में स्वतन्त्र अग्नि नहीं रह सकती, इसलिए सुश्रुत जी का यही कहना है कि "न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योग्निरुपलभ्यते" तथा चरक जी का यह कहना है कि "अग्निरेव पित्तान्तर्गत' शुभाशुभानि करोति" सर्वथा ठीक लगता है। पित्त बढने से उसके अन्तर्गत या पाचकाग्नि भी बढ़ती है इसलिये पित्त की अधिकता से अग्नि तीक्ष्ण होती है, यह कहना

पड़ता है, जो सर्वथा विरुद्ध है। यदि केवल क्षुद्रान्त्र में पाचकाग्नि का स्थान मानें और पाचक अग्नि को पाचक पित्त रूप द्रव पदार्थ मानें तो पाक क्रिया का आरम्भ आमाशय में नहीं हो सकता, क्षुद्रान्त्र में प्रथम पाक होना चाहिये। क्षुद्रान्त्र से तरल पदार्थ स्वाभाविक अवस्था में आमाशयमें आ नहीं सकता, इसलिये क्षुद्रान्त्र यदि तरल अग्नि का स्थान हो तो वह अग्नि कभी आमाशय में नहीं आ सकती और आमाशय में पाक क्रिया भी नहीं हो सकती। पाचकाग्नि को शिखायुक्त अग्नि मानना युक्ति प्रमाण विरुद्ध है, यह तो पहिले ही लिखा है—

"भुक्तद्रव्य आमाशय में रहे या और किसी आशय (ग्रहणी-क्षुद्रान्त्र आदि) में रहे, तत्तत् आशय के रास्ते से पाचक रस निकल कर आशय के अधोभाग में अर्थात् तलदेश में सोचन होता है और आशय के तल भाग मे पाक क्रिया अधिक होती है।

दृष्टान्त भी ऐसा ही दिखाया गया है कि जैसे उत्तप्त स्थाली (पाक पात्र) अध स्थित अर्थात् पात्र के तल देश में स्थित अन्न को पकाती है और उसको धक्का देकर ऊपर फेंकती है और दूसरा अन्न अधोदेश में अर्थात् पात्र के तल देश में ही जाकर पकता है। इसी प्रकार नानाविध पाचक रस भी हमेशा भुक्त अन्न के नीचे रह कर उस अन्न में नाना प्रकार भौतिक और रासायनिक परिवर्तन करते रहते हैं जिससे भुक्त अन्न रस और मल रूप में परिवर्तित होता है। इस क्रिया को परिपाक क्रिया कहते हैं।

किसी आर्षसंहिता में पाचकाग्नि को प्रदीपवत् किम्वा यवमात्र या तिल मात्र नहीं लिखा है। संग्रहकार महोदय ने अपनी कल्पना से

रूपक अलंकार का आशय लिया है। सम्भवत: उनका अभिप्राय यह होगा कि, अग्नि को प्रदीपवत् तथा यवमात्र या तिलमात्र कह देने से मनुष्य इसकी रक्षा की ओर अधिक ध्यान दें।

इसके अतिरिक्त और भी गूढ अभिप्राय हो सकता है, जिसको न समझ कर भ्रम में पड़ते रहते हैं, किन्तु विवेक बुद्धि की सहायता लेकर निष्पक्ष दृष्टि से शास्त्र को देख कर मनन करने से मालूम पड़ता है कि, आधुनिक प्रयोगवादी नानाविध नामों से जिन पाचक रसों का वर्णन करते हैं, आयुर्वेद में उन सबका पाचकाग्नि या पाचक पित्त नाम से वर्णन किया है। प्राचीन आचार्यों की वर्णन शैली अलग है, आधुनिक वैज्ञानिकों की अलग, किन्तु हम दोनो को सामने रख कर पाक क्रिया के रहस्य को समझना चाहें तो, आसानी से समझ भी सकते हैं। पूर्व-पश्चिम का विरोध भी बहुत कुछ मिट जाता है, अब क्रिया का संक्षेप से वर्णन करूंगा। एक बात ध्यान में रखने की है कि, प्राचीनसंहिता सूत्ररूप मे लिखी हुई है और आधुनिक शास्त्र विस्तार पूर्वक लिखा गया है; इसलिये आधुनिकों का वर्णन स्पष्ट है और प्राचीनों का वर्णन सारगर्भित और विवेक-पूर्ण है। चरक जी ने अति संक्षेप से और सारगर्भित शब्दों में परिपाक क्रिया का इस प्रकार वर्णन किया है।

अन्नमादानकर्मा तु, प्राण' कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसंघात, स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥१॥

समानेनावधूतोऽग्नि, औदर्य. पवनेन तु।
काले भुक्तं सम सम्यक्, पचत्यायुर्विवृद्धये ॥२॥

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमध स्थितः ।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥३॥

अन्नस्य पच्यमानस्य, षड्रसस्य प्रपाकत. ।
मधुराख्यात् कफो भावात्, फेनभाव उदीर्यते ॥४॥

परन्तु पच्यमानस्य, विदग्धस्याम्लभावतः ।
आशयाच्च्यवमानस्य, पित्तमच्छमुदीर्यते ॥५॥

पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य, शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य, वायु स्यात् कटुभावतः ॥६॥

अन्नमिष्टं ह्युपकृतमिष्टगन्धादिभिः पृथक् ।
देहे प्रीणाति गन्धादीन्, श्रोत्रादीनिन्द्रियाणि च ॥७॥

भौमाप्याग्नेयवायव्या, पचोष्माण सनाभसा ।
पचाहारगुणान् स्वान् स्वान्, पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥८॥

× × × ×

सप्तभिर्देह–धातारो, धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभिः पाकं, यान्ति किट्टप्रसादत· ॥ इत्यादि ९ ॥

× × × ×

इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्म भाषितम् ॥

आदान (ग्रहण) करना अर्थात् वायु, अन्न आदि ग्राह्य वस्तु को अन्दर ले जाना जिसका कार्य है, ऐसा प्राण-वायु अन्न को कोष्ठ में खींच लेता है। अर्थात् धकेल कर मुख से अन्न प्रणाली द्वारा आमाशय में और क्रमशः आमाशय के पक्वाशयिक द्वार द्वारा, क्षुद्रान्त्र आदि पाचक कोष्ठ में ले जाता है। वह अन्न पाचक कोष्ठ का, श्लेष्मप्रधान स्नेह से मृदुता (मुलायमपन) को प्राप्त करता है और तत्तत् कोष्ठ के

नानाविध द्रव अर्थात् श्लेष्मपित्त प्रधान तरल से, अन्न का संघात (कठिनता) टूट जाता है।

नोट-यहां "द्रवैः" इस प्रकार वहुवचन से नाना प्रकार का द्रव, लाला, रस, क्लेदक श्लेष्मा का जलीय भाग आदि भिन्न २ स्थान के भिन्न २ प्रकार द्रव पदार्थ को समझना चाहिये। इन द्रव पदार्थों से अन्न का संघात मात्र टूटता है किन्तु परिपाक नहीं होता है।

इसके वाद समान वायु (जो आमाशय-ग्रहणी आदि पाचक अङ्गों को संचालित करके पाचक रसका निःस्राव और पोषक रस का शोषण कराता है) से अग्नि (नाना विध पाचक रस) अवधूत (संचालित) होकर, आमाशयादि पाचक कोष्ठ में आती है और यथा-काल ठीक मात्रा में खाये हुए अन्न को आयु की वृद्धि के लिये पकाती है। भुक्त द्रव्य को घुला कर शरीर में शोषण होने के योग्य वना देने का नाम परिपाक है। भुक्तद्रव्य के पोषक अंश को इस प्रकार घुलन-शील वनाने के लिये, उसमें नाना प्रकार रसायनिक परिवर्तन करना पड़ता है। उन सब रासायनिक परिवर्तन को आयुर्वेद में "पाक" कहते हैं। नाना प्रकार पाचक रसों को जिनको आयुर्वेद में अग्नि कहते हैं, पाचक कोष्ठ में पहुँचाना भी समान वायु का कार्य है। फिर पाचक रसों की क्रिया से भुक्त द्रव्यों का पोषक अंश घुल जाने के वाद, उस तरल रस को (जिसमें भुक्त द्रव्यों का पोषक अंश घुला हुआ है।) शरीर में शोषण करना, प्रथम समान वायु का कार्य है। उसके वाद व्यान वायु उस रस को सारे शरीर में संचालित करता है। रस के शोषण होने के वाद भुक्त द्रव्य का जो भाग वचा रहता है, वह क्रमशः मलाशय में

संचित होकर अपान वायु की क्रिया द्वारा बाहर निकल आता है। इस प्रकार रस और मल रूप में परिणत होजाने को स्थूलतः परिपाक क्रिया कहते हैं। यद्यपि क्लेदक-श्लेष्मा और समान वायु भी परिपाक क्रिया में यथोचित सहायता देते हैं, किन्तु पोषक अंश को घुला कर रस रूप में परिणत करना, केवल पाचक पित्त का (जो नाना विध पाचक रसों के अन्दर रहता है) ही कार्य है। इसलिये क्लेदक श्लेष्मा और समान वायु को पाचक न कह कर केवल पित्त को ही पाचक कहा जाता है।

रस-मल विभाजन रूप स्थूल पाकक्रिया का संक्षेप मे वर्णन करके; त्रिदोष, पंचमहाभूत, सप्तधातु और मलादि आवश्यक द्रव्यों की उत्पत्ति भुक्तद्रव्य से किस क्रम से होती है? उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हैं।

भुक्त द्रव्यों के तीन प्रकार अवस्था पाक होते हैं। सबसे प्रथम षट् रस विशिष्ट अन्न, प्रपाक से कथंचित् मधुर हो जाता है। भुक्त द्रव्यो के उस मधुर अशो से फेन स्वरूप (भाग जैसा) कफ उदीरित होता है। यह श्लेष्मा शरीर का धारक भी नहीं, मल भी नहीं, और न इसमें श्लेष्मा के सब गुण ही होते हैं। इसलिये फेन भाव श्लेष्मा कह दिया। रस के अन्दर रह कर रसाग्नि से क्रमशः पक्व होकर, तीन हजार पन्द्रह कला के बाद रस से मल नाभि से पृथक् होकर श्लेष्म धातु बन जाता है। अन्न के इस प्रकार मधुर होजाने को 'प्रथम अवस्था पाक' कहते हैं। इसको मधुर विपाक कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विपाक का लक्षण वाग्भट्ट जी ने स्पष्ट लिखा है कि—

जाठरे साग्निना योगाद्, यदुदेति रसान्तरम् ।
रसानां परिणामान्ते, स विपाक उदाहृतः ॥

विपाक का प्रत्यक्ष भी शास्त्रकार नहीं मानते हैं। वे स्पष्ट लिखते हैं कि—

रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया ।
वीर्यं यावदधिवासान्निपाताच्चोपलभ्यते ॥

तीन प्रकार अवस्था पाक को तीन प्रकार विपाक कहना चाहें तो, दो प्रकार विपाक मानने वाले सुश्रुत जी के मत से स्वस्थ मनुष्य के पित्त की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—

भूतगुणादागमाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति । पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैति, अग्नेर्मन्दत्वात् । यद्येवं लवणोऽप्यन्यो विपाको भविष्यति श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैति ।'

इसका अर्थ यह है कि महाभूतों के गुणों के ऊपर विचार करने से तथा प्राचीन शास्त्रों का मनन करने पर मालूम होता है कि, मधुर और कटु विपाक के अतिरिक्त अम्ल विपाक कुछ नहीं है। अग्नि मन्दता के कारण पित्त विदग्ध होकर अम्ल बनता है। यदि इस अम्ल को विपाक माना जाये तो, अग्नि मन्दता के कारण श्लेष्मा विदग्ध होकर, जो लवण बन जाता है, उसको भी विपाक कहना पडता है।

इस प्रकार से श्रीमान् सुश्रुत जी ने स्वस्थ मनुष्य के अम्लविपाक का खण्डन किया है। केवल अग्निमान्द्य रोग से, पित्त विदग्ध होकर अम्ल हो सकता है इतना ही लिखते हैं। स्वस्थ मनुष्य के आमाशयिक अम्ल रस के मिश्रण से भुक्त द्रव्य का एक बार अम्ल हो

जाना भी स्वाभाविक पाचन क्रिया है। इस बात को सुश्रुत जी नहीं जानते थे, ऐसा कहना भारी दु साहस है। इसलिये अवस्था पाक को विपाक समझने का भ्रम नहीं करना चाहिये।

प्रथम अवस्था पाक में मधुर होने के बाद पच्यमान अन्न (यहां का पच्यमान शब्द भी विपाक कहने में बाधक है) आमाशयिक आग्नेय रस के संयोग से विदग्ध और अम्ल होकर, जब आमाशय से च्यवमान (ग्रहणी में जाने वाला) होता है, तब उससे अच्छ पित्त उदीर्ण होता है।

यहां भी पित्त को अच्छ कहने का अभिप्राय यह है कि, रसाग्नि से तीन हजार पन्द्रह कला तक और रक्ताग्नि में तीन हजार पन्द्रह कला तक पकने के बाद ही, पित्त जैसे सम्पूर्ण गुण धर्म युक्त शरीर का धारक, रक्तधातु का मल 'पित्त' नाम से उत्पन्न होता है। अन्न के पच्यमान काल में असम्पूर्ण लक्षण युक्त, कच्चा पित्त उत्पन्न होकर शरीर पित्त को उदीर्ण करता है। इस प्रकार प्रथम अवस्था पाक में, मधुर और द्वितीय अवस्था पाक में अम्ल होने के बाद, जब अन्न पक्वाशय में उपस्थित होता है (यहां पक्वाशय शब्द से क्षुद्रान्त्र से बृहदन्त्र के कुछ अंश तक को समझना चाहिये) तब वहां वह्नि से (नानाविध पाचक रसों से) वह अन्न केवल पच्यमान ही नहीं, शोष्यमान भी होता है। अर्थात् नाना प्रकार रसों की क्रिया से तर-लता प्राप्त अन्न से पोषक रसों का शोषण होता रहता है। तरल रस के शोषण से बृहदन्त्र में जाकर अन्न जब परिपिंडित मल रूप प्राप्त

करने लगता है, उस समय उसकी कटुता से वायु उत्पन्न होती है। 'अर्थात् भुक्त अन्न से मधुरादि कफ वर्धक अंशों का और अम्ल आदि पित्त वर्धक अंशों का शोषण हो जाने के बाद पक्वाशय (वृहदन्त्र) में कटु-रूक्ष आदि अंशों से वायु की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक विज्ञानवादी भी कहते हैं कि, अन्न को मुख में लेकर जब चबाते हैं उस समय लालाग्रन्थिओं से लाला रस निकल कर भुक्त द्रव्यों के साथ मिलकर आमाशय में जाता है। चबाने और आमाशय के दबाव से अन्न बारीक होता है और लाला-रस के अन्दर 'टाईलीन' नामक एक पाचक वस्तु है, उसकी क्रिया से भुक्त द्रव्यों का श्वेतसार शर्करा में परिणत होता है। चावल, गेहूँ आदि के श्वेतसार शर्करा में परिवर्तित हो जाने से भोज्य वस्तु पूर्वापेक्षा मधुर होजाती है। इसको प्राचीन वर्णित प्रथम अवस्था पाक कहे तो कुछ भेद नहीं रहता है। आमाशय में लाला रस का यह कार्य (श्वेतसार को शर्करा में परिणत करना) तब तक होता रहता है, जब तक आमाशयिक अम्ल-रस, भुक्त अन्न से नहीं मिलता है।

द्वितीय अवस्था पाक या अम्ल पाक आमाशयिक रस से होता है। भुक्त द्रव्य आमाशय के गात्र में लगने से आमाशय में उत्तेजना होकर, आमाशय गात्र से एक प्रकार अम्ल रस निकलता है इसमें लावणिकाम्ल, पेप्सीन आदि प्रोटीन के विलायक द्रव्य होते हैं। इस अम्ल रस के संयोग से भुक्त द्रव्य भी अम्ल हो जाता है।

आमाशयिक रस जब निकलना आरम्भ करता है, उस समय

आमाशय-गात्र के पास तो आमाशयिक रस से अम्ल-पाक होता है, किन्तु आमाशय के मध्य भाग में तबतक लाला-रस से मधुर पाक होता रहता है। आमाशयिक रस से अम्लपाक आमाशय-गात्र के पास ही होता है, पका हुआ अन्न मध्य देश की ओर आता है और मध्य देश से कच्चा अन्न, आमाशय गात्र के पास जाकर पकता रहता है। इसको प्राचीनो ने 'आमाशयमध्यस्थितः' कहा है।

आमाशयिक रस की क्रिया से भक्त द्रव्य के कुछ अंश जब खूब अम्ल हो जाते है तब उसके लिये आमाशय का पक्वाशयिक द्वार खुल जाता है और उतना अन्न ग्रहणी में चला जाता है। इसप्रकार से क्रमशः आमाशय का अन्न अम्ल होकर ग्रहणी में चला जाता है, वहां वह अन्न तबतक आवद्ध रहता है, जबतक उसमें यकृत से आकर पित्त और क्लोम (पैन्क्रियास) से क्षारीय रस आकर नहीं मिलता है और भुक्त द्रव्य पर उनकी क्रिया ठीक २ तरह से नहीं होती है।

ग्रहणी में यथोचित क्रिया हो जाने के बाद, तरल अन्न क्षुद्रांत्र में चला जाता है, वहां फिर यथोचित परिवर्तन होता रहता है। पोषक रस का शोषण भी होता रहता है क्रमशः क्षुद्रान्त्र को अतिक्रम करके उण्डुक के अन्दर के कपाट को पार करता हुआ बृहदन्त्र में चला जाता है। वहां अवशिष्ट तरल रस का शोषण होता है। अन्न के ऊपर सहज कृमियों की क्रिया से वायु उत्पन्न होती है। इस प्रकार से आधुनिक विद्वान् अन्न परिपाक का वर्णन करते हैं।

प्राचीन और आधुनिकों के वर्णन में कुछ अधिक अन्तर नहीं है, केवल प्राचीनों के वर्णन में कफादि दोषों की उत्पत्ति कहां २ होती है,

उसका वर्णन अधिक है। आधुनिकों के वर्णन में किस स्थान के कौन से रस से भुक्त द्रव्यों में से श्वेतसार, प्रोटीन, वसा (स्नेह) आदि कौन से अवयव का परिपाक होता है, उसका वर्णन अधिक है। सहज-कृमि का उल्लेख चरक जी ने भी किया है, किन्तु पक्वाशय में वायु-उत्पत्ति का कारण प्राचीनों ने कटुपाक को माना है, और आधुनिक उसको कृमियों की क्रिया कहते हैं, पर यह कोई भारी भेद नहीं है।

भोक्ता का अभीष्ट और अभीष्ट गन्ध-रसादि युक्त अन्न शरीर में गन्धादिकों और श्रोत्रादि इन्द्रियों को तृप्त करता है। शारीरयन्त्र के चलन से प्रतिक्षण शरीर के गन्ध-रसादि का क्षय होता है और इन्द्रियों की वृत्ति से इन्द्रियोपादान का क्षय होता है। उन सबका पूरण भी भुक्त पदार्थ से ही होता है।

जठराग्नि के कार्य का संक्षेप से वर्णन करके पंच-भौतिकाग्नि का वर्णन करते हैं कि भौम, आप्य (जलीय) आग्नेय, वायव्य और नाभस (आकाशीय) ये पांच प्रकार की अग्नि निज २ अर्थात् पार्थिवादि पाच आहार कणों को पकाती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर के घटक पृथ्वी आदि पाच महाभूतों में से प्रतिदिन जितने अंश का क्षय होता है, उतने अंश का पूरण भी भुक्त द्रव्यों से ही होता है, किन्तु अन्न पानीयस्थ पृथ्वी आदि महाभूत तबतक शरीर घटक महाभूतों में नहीं मिल सकते हैं, जबतक शरीरस्थ पार्थिवादि अग्नि उनको पकाकर अपने समान नहीं बना लेती है। इसलिये शरीरस्थ पार्थिवाग्नि भुक्त द्रव्यों में से पार्थिव अंशों को पकाकर अपने समान

बना लेती है उससे शरीर के पार्थिव अंश का पोषण होता है। इस प्रकार से और चार भौतिकाग्नि का कार्य भी समझ लेना चाहिये।

सप्त धातु पाक-क्रिया—

देह को धारण करने वाले सात धातु भी अपनी २ अग्नि से अर्थात् सात प्रकार धातु को पकाती हैं। सात धातु अपनी २ अग्नि से दो प्रकार अर्थात् किट्ट और प्रसाद रूप से पकते हैं।

अर्थात् भुक्त द्रव्य से जिस रस का शरीर में शोषण होता है, वह रस तत्काल ही शरीर को धारण करने वाला रस धातु नहीं कहलाता है, और वह रस धातु का कार्य कर सकता है। जैसे नवागता नवोढ़ा वधू गृहिणी नहीं कहलाती, गृहिणी बनने के लिये श्वसुर कुल में कुछ दिन शिक्षा लेनी पड़ती है। इसी प्रकार नवोत्पन्न धातु को शरीर धारक धातु बनने के लिए धात्वग्नि से तीन हज़ार पन्द्रह कला तक पकना पड़ता है।

भुक्त द्रव्य से जो पोषक रस शरीर में शोषित होता है, रसाग्नि से ३०१५ कला (पांच दिन से कुछ ऊपर) तक उसके पाक होने के बाद वह किट्ट और प्रसाद रूप में परिणत होता है। इसके किट्ट भाग से शरीर धारक सर्व गुण युक्त कफ उत्पन्न होकर सब कफ स्थानों में बंट जाता है। प्रसाद भाग के स्थूल अंश से रस धातु का पोषण होता है और सूक्ष्म भाग से रक्त की उत्पत्ति होती है।

इस रक्त के भी रक्ताग्नि से ३०१५ कला तक पाक होने के बाद प्रसाद और किट्ट भाग बनता है। प्रसाद भाग के स्थूल अंश से रक्त धातु का पोषण होता है सूक्ष्म अंश से मांस बनता है, किट्ट भाग से

सर्व गुण धर्म युक्त पित्त उत्पन्न होकर सब पित्त स्थान मे जाकर अपने अपने कार्य करता है।

मांस के भी मांसाग्नि से ३०१५ कला तक पाक होकर प्रसाद और किट्ट बनता है। प्रसाद भाग के स्थूल अंश से मांस धातु का पोषण होता है और सूक्ष्म अंश से मुखादि छिद्रो का मल बनता है।

मेद का भी मेदोऽग्नि से उस प्रकार पाक होकर प्रसाद और किट्ट बनता है। किट्ट भाग से स्वेद उत्पन्न होता है। प्रसाद भाग के स्थूल अंश से मेद. धातु का पोषण होता है। सूक्ष्म अंश से अस्थि बनती है।

अस्थि का भी अस्थि अग्नि से ३०१५ कला तक पाक होकर प्रसाद और किट्ट बनता है। किट्ट से नख, रोम उत्पन्न होकर उनका पोषण होता है। प्रसाद भाग के स्थूल अंश से अस्थिधातु का पोषण होता है। सूक्ष्म अंश से मज्जा बनती है।

मज्जा का भी मज्जाग्नि से ३०१५ कला तक पाक होने के बाद प्रसाद और कि ट्ट बनता है। किट्ट से नेत्र-विट् (आंख का कीचड़) और त्वचा का स्नेह बनता है। प्रसाद भाग के स्थूल अंश से मज्जा-धातु का पोषण होता है। सूक्ष्म अंश से शुक्र बनता है।

शुक्र का भी शुक्राग्नि से ३०१५ कला तक पाक होकर शुक्रधातु बनती है पर इससे किट्ट भाग उत्पन्न नहीं होता है।

यहां पर यह ध्यान रखना चाहिये कि, कफ, पित्त आदि जो एक धातु का मल है, वह शरीर के लिये मल नहीं है। वह तो शरीर

को धारण करने के कारण धातु कहलाता है। जैसे लौह का मल, मण्डूर फिर लौह नहीं बन सकता है। इसलिये लौह का तो मल है किन्तु मनुष्य शरीर के लिये लौह से मण्डूर कम उपयोगी नहीं है। इस प्रकार कफ, पित्त आदि जिस धातु के मल हैं, उस धातु के पोषक तो नहीं बन सकते हैं, किन्तु शरीर के धारण के लिये और नाना विध कार्य करके धातु संज्ञा को भी प्राप्त करते हैं। जब वह पदार्थ शरीर के लिये सर्वथा अनुपयोगी बन जाता है तब शरीर से निकल जाता है। मल या किट्ट नाम देखकर इसको शरीर के लिये अनुपयोगी नहीं समझना चाहिये। चरक जी ने इन मलों को भी शरीर का धारक करके ही वर्णन किया है— उन्होंने लिखा है कि—

प्रसादकिट्टे धातूनां, पाकादेवाविगर्हत।
परस्परोपसंस्तम्भाद्, धत्ते देहे परस्परम्॥

सुश्रुत जी ने भी लिखा है कि, "दोष-धातु-मल-मूलं हि शरीरम्।" मल नाम देख कर ही उनको शरीर के लिये अनुपयोगी वस्तु समझने का भ्रम हो सकता है। इसके लिये श्रीमान् चरक जी ने केवल "परस्परोपसंस्तम्भात्" इस एक हेतु से दिखला दिया कि, धातु और मल परस्पर एक दूसरे के धारक हैं, अतएव शरीर के लिये दोनों की उपयोगिता समान है। सुश्रुत जी ने भी दोष, धातु और मल तीनो को, एक ही सूत्र में शरीर के मूल मानकर तीनो की समान उपयोगिता मानी है।

जो चीज शरीर के लिये अनुपयोगी है और शरीर जिसको बाहर फेंकना चाहता है, जिसका अन्दर रहना केवल बेकार ही नहीं अपितु हानिकारक भी है, ऐसे द्रव्यों को मल या किट्ट कहते हैं। किन्तु स्वस्थ

मनुष्य के शरीर में सम्यक् पाक से प्रसाद और किट्ट नामक जो दो प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती हैं, उनमें से किट्ट संज्ञक वस्तु भी ऐसा त्याज्य मल नहीं है। हां, अन्न के किट्ट विन्मूत्र (पुरीष और पेशाव) में त्याज्य अंश अधिक होता है, जो यथासमय नहीं निकलने से दुःखदायी भी होता है, किन्तु अन्न का प्रसाद भाग जो रस नाम से शरीर में शोषित होता है, उससे अथवा उसके प्रसन्नतर रक्तादि से ऐसा त्याज्य या हानिकर मल नहीं निकलता है।

इन मलों में से कफ और पित्त, अविकृत अवस्था में रह कर शरीर को धारण करने के कारण होते हैं, इसलिये इनको धातु भी कहते हैं। इनकी वृद्धि अथवा क्षय होने से ये स्वयं दुष्ट होकर दूसरे को दूषित करके रोग उत्पन्न करते हैं। दुष्ट होकर भी फिर शुद्ध होकर शरीर धारक बन सकते हैं। अत्यन्त दुष्ट होकर शरीर के लिये अनुपयोगी और घातक बन जाते हैं, तब उनको मल (त्याज्य) कहा जाता है। दुष्टि अर्थात शरीर में किसी प्रकार विकृति के कारण, अर्थात् दुष्टिकर्ता केवल वात, पित्त और कफ ही हो सकते हैं, इसलिये इन तीनों की दोष-संज्ञा शास्त्र और व्यवहार में प्रसिद्ध है।

रसादि के सम्यक् पाक से जो किट्ट संज्ञक कफ और पित्त उत्पन्न होते हैं, उनको यदि त्याज्य मल समझना चाहें तो, पूर्वोद्धृत शास्त्र वचन से विरोध होता है। दूसरी बात यह है कि, त्याज्य मल की प्रतिक्षण शरीर में उत्पत्ति होती रहे किन्तु निःसरण न हो तो मनुष्य कभी स्वस्थ नहीं रह सकता है। किन्तु यह तो सबका अनुभूत सत्य

है कि स्वस्थ मनुष्य के शरीर मे कफ-पित्त का निःसरण नहीं होता है, केवल रुग्ण मनुष्य के शरीर से ही अत्यन्त विकृत मलीभूत कफ-पित्त का निःसरण होता है। जिससे सिद्ध होता है कि, स्वस्थ मनुष्य के सम्यक् पाक क्रिया द्वारा जो कफ और पित्त उत्पन्न होते हैं वह त्याज्य मल नहीं हैं।

इस दीर्घ निबन्ध में जाठराग्नि अर्थात् अन्न पाचकाग्नि पांच भौतिकाग्नि एवं सात धात्वग्नि के कार्यका सक्षेप से वर्णन किया गया है, इन तेरह प्रकार अग्नि के कार्य ठीक २ तरह से नहीं हो तो, स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता है फिर भी इन अग्नियों में से अन्न पाचक अग्नि अर्थात् जाठराग्नि को सर्व श्रेष्ठ माना जाता है इसका कारण यह है कि गेहूँ, चावल, दाल, शाक आदि विजातीय द्रव्यों को पका कर अर्थात् उनमें नाना विध रासायनिक परिवर्तन करके शरीर में शोषण और पोषण होने के योग्य, रस में परिवर्तन कर देना केवल पाचकाग्नि (जाठराग्नि) का ही कार्य है। पाचकाग्नि प्रबल होगी, तो अधिक परिमाण में अन्न का परिपाक करके, अधिक रस उत्पन्न करेगी, रस अधिक हो तो रसाग्नि भी अधिक होगी। इस प्रकार आगे के धातु और धात्वग्नि दोनों अधिक बनने से शरीर में बल और पुष्टि सब ही बढ़ता है, किन्तु किसी कारण से जठराग्नि कमजोर पड़ जाय तो रसादि धातु और धात्वग्नि दोनों ही कम उत्पन्न होंगे जिससे शरीर के बल, पुष्टि आदि घट जाते हैं। इस प्रकार विचार करने से मालूम पड़ता है कि, बाकी अग्नि का मूल भी जाठराग्नि है तथा मनुष्य के बल, पुष्टि, स्वास्थ्य

आदि सब सुख का मूल भी जाठराग्नि है। चरक जी ने इसलिये ही लिखा है कि—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां, पक्तॄणामधिको मत: ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मका ॥

जैसे किसी घर में एक योग्य कमाने वाला होता है, उसकी कमाई से और सब घर वाले आराम से खाकर, अपने २ कार्य को करते रहते हैं, घर में भी शान्तिपूर्वक सब कार्य सम्पन्न होते हैं। कमाने वाले की कमाई बढ़ जावे तो घर वालों के लिये अन्न वस्त्रादि भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। कमाने वाले की कमाई घट जाने पर घर वालों की भी दुर्दशा होती है। अन्न वस्त्रादि की कमी होने लगती है, जिससे घर में नाना प्रकार अशान्ति फैल जाती है। उस अशान्ति की वृद्धि से घर का नाश होना भी असम्भव नहीं है। इसीप्रकार शरीर में एक जाठराग्नि ही कमाने वाली है, यह आवश्यक पोषक पदार्थों को कमाती रहे तो शरीर मे शान्ति रहती है, अन्यथा नाना प्रकार अशान्ति फैल जाती है। जिससे शरीर का नाश होना भी असम्भव नहीं है।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध हुआ कि पाचकाग्नि शरीर की रक्षा और बल-पुष्टि आदि के लिये एक परम आवश्यक वस्तु है। उस पाचकाग्नि के कार्य स्थल उदर में आमाशयादि अंश है। कार्यस्थल विकृत होने से भी कार्य कर्त्ता पाचकाग्नि अपने कार्य को ठीक २ तरह से नहीं कर सकती है। अग्नि के कार्य के मन्द हो जाने से शरीर में कहीं भी विकृति होकर कुछ भी रोग हो सकता है। सब ही रोग मन्दाग्नि से हो सकते हैं इसलिये शास्त्रकार लिखते हैं कि 'रोगा: सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ'

सभी बुद्धिमान मनुष्य जानते हैं और मानते हैं कि, उदर विकृति में सब ही रोग हो सकते हैं।

पाचक संस्थान और पाचकाग्नि को ठीक रखना अथवा विकृत करना बहुत कुछ हमारे हाथ में है। जो मनुष्य केवल रसनेन्द्रिय को सन्तुष्ट करने के लिये सारे शरीर को भूल जाते हैं, आहार सम्बन्धी शास्त्रोक्त विधि निषेधों को नहीं जानते या नहीं मानते हैं वह ही पाचक संस्थान और जठराग्नि को विकृत करके नाना प्रकार दुःख भोगते रहते हैं। शास्त्र में लिखा है कि—

अनात्मवन्तः पशुवद् भुंजते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥

आहार-विधि लंघन करके खाने वालों को शास्त्र में पशुवत् कह कर गाली दी है, किन्तु अब अनुभव से सिद्ध हुआ कि, इस विषय में मनुष्य पशु से भी बहुत गिरे हुये हैं। आहार के दोष से जितने मनुष्य बीमार पड़ते हैं, उससे १/१००० भी पशु बीमार नहीं पड़ते हैं जो खाने में स्वतन्त्र हैं। हम जीवित रहने के लिये खाते हैं, इस सत्य को भूलकर समझ लेते हैं कि हम खाने के लिये ही जीवित रहते हैं। इस भूल से मनुष्य बहुत ही दुःख भोगते रहते हैं। पाचक संस्थान विकृत हो जाने के बाद उसको सुधारना आसान नहीं है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने लिये जो २ अन्न पानीय हितकर हैं उन्हींका युक्ति-युक्त उपयोग करके जठराग्नि और पाचक संस्थान को स्वस्थ और सबल रखे। तब ही अपने आयु और बल की रक्षा हो सकती है चरक जी ने लिखा भी है कि—

तस्मात्तं विधिवद् युक्तैः अन्नपानेन्धनैर्हितैः ।
पालयेत् प्रयतस्तस्य, स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥

पाचक संस्थान और जठराग्नि की विकृति के कारण क्या हैं ? उससे क्या २ रोग होते हैं ? उन रोगों के लक्षण और चिकित्सा इस विशेषांक में विशेष रूप से देख सकेंगे।

उदररोगों पर आर्ष-वाक्य।

अग्निदोषान्मनुष्याणां, रोगसंघाः पृथग्विधाः ।
मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते, विशेषेणोदराणि तु ॥

मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसंचयः ।
प्राणाग्न्यपानान्संदूष्य, मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान् ॥

त्वङ्मांसांतरमागत्य, कुक्षिमाध्मापयन्भृशम् ।
जनयन्त्युदरम् .... ॥

चरक-चिकित्सास्थानस्य उदरचिकित्सिते ६, १०, ११ श्लोकाः ।

अर्थात्—अग्नि के मंद होजाने से, मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग आक्रमण करते हैं, और 'उदर-रोग' तो विशेषकर मंदाग्नि से ही पैदा होते हैं।

अग्नि के मन्द होने पर, मैले-खराब-वासे आहार के सेवन से, अन्न का पाचन न होने पर, दोषों का संचय होता है। उससमय वे प्राणवायु, जठराग्नि और अपानवायु को दूषित करके, ऊपर तथा नीचे के मार्गों को रोक देते हैं।

फिर यह दोष-समूह त्वचा और मांस के बीच में आकर, उदर को अत्यधिक फुलाकर (अफारा पैदा करके) भिन्न भिन्न प्रकार के 'उदर-रोग' पैदा करता है।

आन्त्रपुच्छशोथ या उपान्त्रशोथ

APPENDICITIS

लेखक-आयुर्वेद-पंचानन श्रीजगन्नाथप्रसाद जी
शुक्ल राजवैद्य, सुधानिधि, प्रयाग

'किसी रोग का नया डाक्टरी नाम देख कर, जनता सोचने लगती है कि, इस रोग का पता सब से पहिले डाक्टरों ने ही लगाया है' लेखक ने प्रस्तुत लेख में जनता की इस मिथ्या धारणा का कट्टर-प्रतिवाद करते हुए, आयुर्वेदीय ढङ्ग पर, सर्व साधारणोपयोगी निदान तथा चिकित्सा का प्रभावक-वर्णन किया है। साधारण जनता के साथ साथ नवपठित वैद्य भी इससे अवश्य लाभ उठावेंगे। —संपादक।

रोग परिचय-

मुख द्वार से गुदा द्वार तक रबर की सी कहीं पतली कहीं मोटी २८ से ३२ फुट लम्बी एक नली गई है। स्थान भेदसे इसके आकार प्रकार में भेद और कई नाम भेद भी हो गए हैं। मुख द्वार से आमाशय के मुख तक जो भाग है उसे अन्ननलिका या आहारपथ कहते है। इसीके द्वारा खाया हुआ आहार आमाशय में पहुँचता है। इसकी लम्बाई १०–११ इंच होती है इसके बाद सवा फुट के अन्दाज मशक के आकार की चार इंच चौडी एक थैली होती है, जिसे आमाशय कहते हैं। खाया हुआ आहार यहां कुछ समय तक ठहरता और आमाशयिक अम्ल रस तथा अन्य क्रियाओं के द्वारा उसका पचन होकर मांड सा कच्चा रस बनता है।
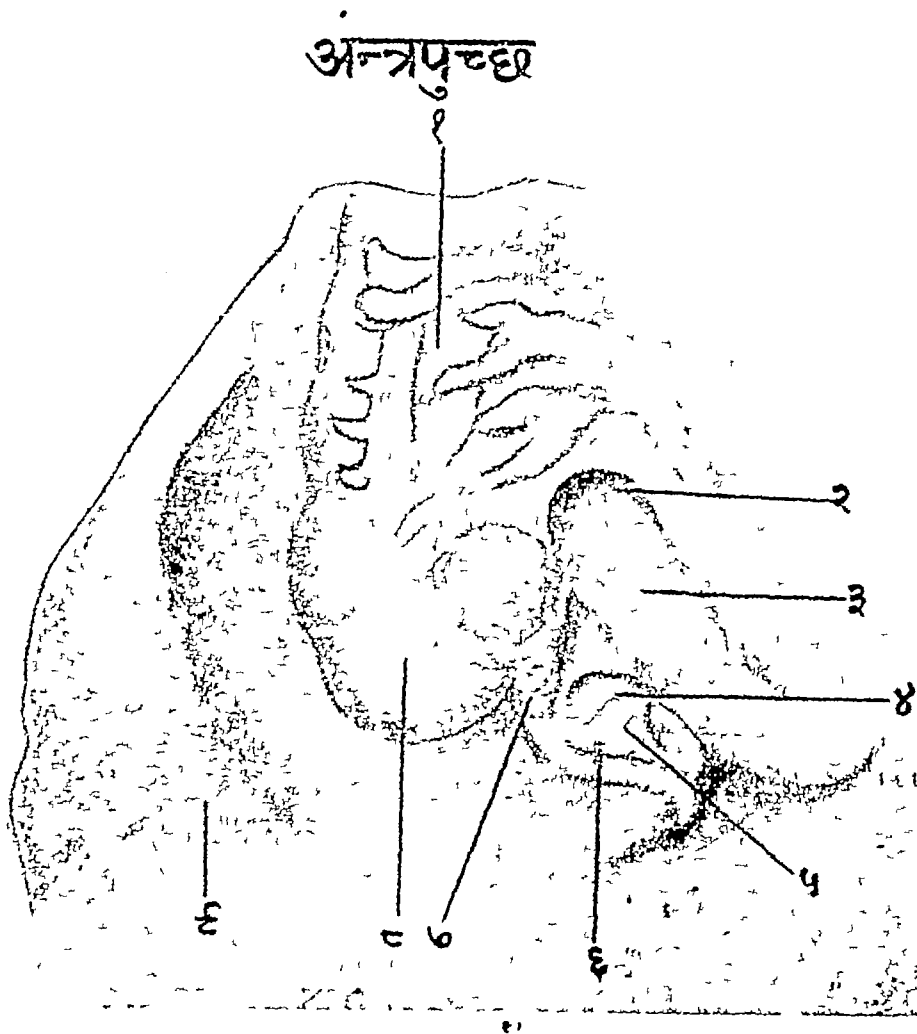
अंत्रपुच्छ

(१) बृहदन्त्र का ऊपरी भाग (२) बृहदन्त्र और लघु अन्त्र के जोड़ का स्थल
(३) लघु अन्त्र (४ ५) अन्त्रपुच्छ की झिल्ली (६) अन्त्रपुच्छ अच्छी हालत में
(७) अन्त्रपुच्छ शोथ युक्त (८) बृहदन्त्र (९) अन्त्र की सहायक त्वचा

आमाशय के निम्न मुख से छोटी आंत के ऊपरी मुख तक जो १२ अंगुल की नली रहती है उसे ग्रहणी कहते हैं क्योंकि यह आमाशयके आम-रस को ग्रहण कर छोटी आंत तक पहुँचाती है। यहा पर आम रस में एक एक प्रकार का पित्त रस और पाचक रस मिल कर आहार रस छोटी आत में पहुँचता है। यह छोटी आत २१ से २४ फुट तक लम्बी और पौने दो इञ्च व्यास वाली होती है और उदर में साप की सी गेंडुली मारे पडी रहती है। यहां पर पित्त रस और पाचक ग्रन्थियों के रस तथा अग्नाशय के रस की सहा-यता से आहार रस का परिपाक होता है।

इसके भीतरी भाग में एक इञ्च के आठवें भाग से लेकर अड़तालीसवें भाग तक के बाल के उभाड जैसे अंकुर खड़े रहते हैं जो आहार रस ग्रहण कर पचाने का काम करते हैं इन्हें ग्राहकांकुर कहते हैं। उनसे छोटी कुछ नलाकार ग्रन्थियां भी होती हैं। छोटी आंत के निचले भाग में ऐसी ग्रन्थियां न होकर आधे इञ्च से ४ इञ्च लम्बाई और आधे इञ्च चौड़ाई तक की २० से ३० तक श्लेश्मिक कला के नीचे ग्रन्थियां रहती हैं। छोटी आंत के क्षारीय रस के प्रभाव के कारण यहां आहार द्रव्य बिलकुल पच जाता है। उदर के दाहिनी ओर नीचे श्रोणि भाग के पास छोटी आंत का एक सिरा बड़ी आंत के सिरे से जुडा रहता है।

बड़ी आंत की लम्बाई यद्यपि पाच फुट ही रहती है तथापि यह अधिक मोटी और चौडी होने के कारण इसे बडी आंत कहते हैं। यहां से बड़ी आंतों में जो भाग जाता है उससे रस का भाग रक्त बनने के लिये यकृत की ओर आकर्षित हो जाता है। बेकाम जल का भाग मूत्राशय की ओर जाता और मल भाग मलाशय की ओर जाता है।

छोटी आंत का अन्तिम भाग जहां बड़ी आंत से मिलता है उसके नीचे एक थैली सी बनी रहती है। इस चार अंगुल के भाग को आयुर्वेद में उण्डुक और डाक्टरी मे सीकम कहते है। इस थैली से लगी हुई उण्डुकपुच्छ

अथवा अन्त्रपुच्छ तथा अन्त्र परिशिष्ट कहते हैं। डाक्टर लोग इसे अपेंडिक्स कहते हैं। और इस नली में जो बीमारी होती है उसे अपेंडिसाइटिस कहते हैं।

इस नली की दीवाल की बनावट छोटी आंत की दीवाल की बनावट जैसी होती है। भेद यह है कि इसकी श्लैष्मिक कला और मांस के बीच में जो सौत्रिक तन्तु होते हैं उनमें बहुत से लसीकाणुओं जैसी सैलों के समूह होते हैं। इसकी श्लैष्मिक कला में जो ग्रन्थियां होती हैं वे बहुत थोड़ी होती हैं।

इस उपान्त्र के विशिष्ट कार्यों का पता अभी तक ठीक २ नहीं लगा। इसकी लम्बाई किसी मनुष्य में कम से कम आधे इञ्च और किसी २ में अधिक से अधिक ८ इञ्च तक होती है। कभी २ छोटी आंत से बड़ी आंत में पका हुआ आहार या मल भाग जाते समय नीचे की थैली वाले भाग में कुछ भाग जमा हो जाता है। कभी २ कोई ऐसी वस्तु भी यहां आ जाती है जो कड़ी और चिकनी होने के कारण आमाशय या पक्वाशय में चूर्ण होकर सीधे यहां आ पहुँचती है और वह इस आन्त्र पुच्छ में चली जाती है। नीबू या सन्तरे के बीज या कंकड़ यहां पहुंच जाने से उनका परिपाक तो होता नहीं, वे यहां संचित होकर विकार उत्पन्न करते हैं। ऐसी दशा में यहां शूल और वेदना होती है और कभी २ इसमें दाह या शोथ भी हो जाता है इसे ही उपान्त्र शोथ या उपान्त्र शूल या अपेंडिसाइटिस कहते हैं।

आयुर्वेद से सम्बन्ध

आंतों के भिन्न २ अंशों की पीड़ाओं में यह प्रधान पीड़ा है, तथापि इसके समझने और निर्णय करने में सभी देशों में कठिनाई उपस्थित होती रही है। पाश्चात्य डाक्टर पहले इसे सीकम का प्रदाह टाईफ्लाइटिस और उसका आवरण करने वाली झिल्ली का प्रदाह पेरीटाईफ्लाइटिस समझते थे। डाक्टर लोग सीकम उस थैली को कहते हैं जो छोटी आत और बड़ी आंत के मिलने की जगह के नीचे थैली सी रहती है। अब विशेष अनुसन्धान और

परीक्षाओं से विदित. हुआ है कि इस थैली और उसके आवरण में शोथ जो कभी होती है, यथार्थ में यह अन्त्रपुच्छ का ही प्रदाह या शोथ है।

बाल्यावस्था में आंतों की यह थैली बड़ी रहती है, ज्यों २ अवस्था अधिक होती जाती है यह सिकुड़ जाती है। वही सिकुड़ा भाग बड़ी सीकम का अवशिष्ट अंश अपेंडिक्स वार्मिफर्मिस कहलाता है। उसका आकार पूंछकी तरह होता है इसलिये वैद्य लोग उसे अन्त्र-पुच्छ कहते हैं। ऊपर इसकी लम्बाई आधे इञ्च से आठ इञ्च तक बतलाई गई है। इसका व्यास प्राय. एक चौथाई इञ्च होता है। बहुत करके इसके अन्तिम भाग में एक त्रिकोणाकार उपपुच्छ मेषो अपेंडिक्स भी होती है। यह नली से भी छोटी और पतली होती है और मुड़कर कड़ी पड़ जाती है। इसके मूल देशमें एक छोटी लसीका ग्रन्थि भी रहती है। उदर गह्वर में इसका अवस्थान स्थिर नहीं है; किन्तु साधारणत थैली के नीचे भाग से कुछ ऊपर और उदर के भीतर ही और मुड़ी हुई रहती है। इसका अगला भाग प्लीहा की ओर रहता है। कभी-कभी थैली के पिछले भाग पर और कभी २ वस्ति के ऊपरी भाग की ओर (पेलविक ब्रिम) रहती है। इसके सिवाय उदर गह्वर में अन्यत्र भी रह सकती है। किन्तु इसका निर्माण थैली के निर्माण के अनुरूप रहता है, चाहे वह उदर यन्त्र के किसी भी अंश से संलग्न क्यों न हो। यह शरीर में एक दम निरर्थक नहीं है, क्योंकि इसमें अंकुर और एक छोटी धमनी आई है जो इसका पोषण करती है ।

छोटी आंत बड़ी आन्त से दाहिने श्रोणि प्रान्त में उस जगह मिलती है जहां अनुदान्तरिक रेखा उदर की दाहिनी खड़ी रेखा को काटती है। जहां छोटी और बड़ी आत का जोड़ होता है वहां दोनों आंतों के बीच में दोपल्ले का एक कपाट होता है दोनों पल्ले श्लैष्मिक कलासे निर्मित होतेहैं। इस कपाट के कारण आहार रस बड़ी आत में तो जा सकता है किन्तु प्राय उलटा छोटी आंत में नहीं लौट सकता। हां, यदि आंतों की खराबी से उफान या हलचल

हो तो उण्डुक भाग में ऐसा रस आ जाता है और कभी उण्डुक पुच्छ में भी चला जाता है।

कुछ लोगों का मत है कि अन्त्र-पुच्छ शोथ और शूल का विवरण आयुर्वेद में नहीं है। ऐसे लोगों को समझना चाहिये कि आयुर्वेद दोष विकृति से लक्षणोत्पत्ति मानता है, वह अंग विशेष को महत्व नहीं देगा। ऊपर के वर्णन से इतना तो स्पष्ट ही हो गया है कि इस पुच्छ का निकट सम्बन्ध छोटी और बड़ी आंत के जोड़, उण्डुक, बस्ति के ऊपरी भाग, दक्षिण वृक्क, नाभि और अग्न्याशय, यकृत तथा प्लीहा के निम्न भाग से होता है, और यह प्रान्त अधो-दान्तरिक रेखा के अन्तर्गत है।

अन्त्रपुच्छ में दोष संचय होने पर शोथ होता है और यह लघु द्रव्य बढ़कर विद्रधि का रूप धारण करता है अतएव आयुर्वेद ने इसे विद्रधि माना है। अवश्य ही बाह्य विद्रधि की सम्प्राप्ति में अस्थि समाश्रित दोषों के द्वारा त्वचा, रक्त, मांस और स्नेह का दूषित होना माना गया है; किन्तु इसमें त्वचा मांस और मेद के दूषित होने पर भी अस्थि समाश्रित दोषों के द्वारा ही यह दूषण होता है अथवा अन्याश्रित दोषों के द्वारा होता है यह निश्चय नहीं कहा जा सकता, तथापि अन्त्र विद्रधि और आगन्तुक विद्रधि में अस्थि समाश्रित दोषों की अपेक्षा नहीं रहती। उसमें भिन्न २ कारणों से आघात क्षत से अथवा अपथ्य सेवन से क्षत का होना माना जाता है और वायु से उसकी विस्तृति होती है तथा रक्त और पित्त का प्रकोप होता है।

तैस्तैर्भावैरभिहते, क्षते वाऽपथ्यकारिणः।
क्षतोष्मा वायुविसृतः, सरक्तं पित्तमीरयेत् ॥

ज्वर तृष्णा च दाहश्च, जायते तस्य देहिनः।
आगन्तुविद्रधि ह्येष, पित्तविद्रधिलक्षणः ॥

अन्त्र रस में श्लेष्मा की उपस्थिति रहती ही है अतएव उसके दूषित हुए बिना शोथ का होना सम्भव नहीं होता। बाह्य आघात अथवा कठिन

पदार्थ का पहुंचना आगन्तुक कारण होता ही है। वायु से उसकी विस्तृति होती है और ऊष्मा से रक्त और पित्त का दूषण होकर ज्वर, तृष्णा और दाह होता है। अतएव अस्थि समाश्रित दोषों की व्याप्ति प्रधान और सर्वत्र नहीं होना इससे सिद्ध है।

यही कैसे कहा जा सकता है कि ऐसी विद्रधि में अपथ्य सेवन से अस्थि समाश्रित दोषों की प्राप्ति अन्त्रगत रस को प्रभावित कर विप्रकृष्ट निदान का काम न करती होगी। इसके सिवाय अस्थि समाश्रित दोषों का कारण प्रधानतः बाह्य विद्रधि के लिये है किन्तु अन्त्र पुच्छ का शोथ अन्तर्विद्रधि के अन्तर्गत आता है और अन्तर्विद्रधि के स्थानोंमें वस्ति, नाभि, कोख (कुक्षौ पार्श्वयोरधोभागे) वृक्क, प्लीहा, यकृत और क्लोम का भी समावेश होता ही है। जैसा कि सुश्रुत और माधव निदान में लिखा है—

> पृथक् सम्भूय वा दोषाः, कुपिता गुल्मरूपिणम्।
> वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम्॥
>
> गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां, कुक्षौ वंक्षणयोस्तथा।
> वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति, हृदि वा क्लोम्नि वाप्यथ॥

इन स्थानों का निर्देश करने में आयुर्वेदाचार्यों को यही अभिप्रेत नहीं है कि इन अंगों के भीतरी भाग में ही व्याधि हो, वल्कि इन अंगों का प्रान्त अभिप्रेत है।

संस्थान संश्रय के इस विषय को टीकाकारों ने वस्ति मुख की व्याख्या करते हुए खोल दिया है। अर्थात् वस्तिमुख इति वस्तिमुख एव विद्रध्याधारभूत मांसादि सम्भवात्, न वस्तौ तस्य तनुत्वात्" मधुकोष तथा "वस्ति मुख इति वस्ति मुखाश्रितमांसादौ न च वस्तौ" (आतङ्क दर्पण) अतएव इन अङ्गों के प्रान्त में इसका अन्तर्भाव हो जाता है। यह समन्वय समाधान अन्त्रपुच्छ व्याधि के उन्नत स्वरूप के सम्बन्ध में हुआ।

शोथ के सम्बन्ध में आचार्यों का यह कथन है ही कि अपने दूषित होने के कारण से वायु दूषित होकर दुष्ट हुए रक्त, पित्त और कफ को बाहर की नसों में प्राप्त कर उनकी गति रोक देता है, जिससे वह वायु त्रिदोष संग्रह से त्वचा और मांसमें कठिन और ऊंची सूजन उत्पन्न करता है यानी शोथ उत्पन्न करता है। शोथ उत्पन्न होने के कारणों का विवेचन करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि वमन, विरेचन, ज्वरादि रोग, उपवास, विगुण भोजन आदि से कृश हुआ मनुष्य यदि क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण और भारी पदार्थों का सेवन करता है अथवा दही, कच्चे पदार्थ, मिट्टी, सूखे शाक, विरोधी पदार्थ, दूषित पदार्थ, विपाक्त पदार्थ खाता रहता है तथा व्यायाम और परिश्रम नहीं करता, मिथ्या योग करता रहता है तो उसके शरीर में शोथ उत्पन्न होता है। अभिघातज शोथ का भी वर्णन है ही, इस प्रकार शोथ का समन्वय होता है।

यह व्याधि उदर के अन्तर्गत है और उदर रोग उत्पन्न करने में मन्दाग्नि, अजीर्ण, मलिन अन्न सेवन, विरोधी पदार्थों का सेवन, मल, दोष तथा पुरीषादि की वृद्धि को कारणीभूत माना गया है। सम्प्राप्ति का विवेचन करते हुए कहा गया है—

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि, दोषः स्रोतांसि संचिताः।
प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य, जनयन्त्युदरं नृणाम्॥

अर्थात् सचित एवं वृद्धि को प्राप्त वातादि दोष स्वेद और जल वाहिनी स्रोतों के मार्ग को ऊपर और नीचे से रोक कर प्राण वायु, अग्नि और अपान वायु को भी दूषित करते और उदर रोग को उत्पन्न करते हैं। उदर की पूर्णता अन्न रस से होती है और प्राण वायु तथा अग्नि और अपान वायु के दूषण से मन्दाग्नि होती है जो उदर रोग का कारण है। सुश्रुत भी कहते है—

तत्पूर्व रूपं बलवर्णकांक्षा, वलीविनाशो जठरे हि राज्य.।
जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो, वस्तौ रुजः पादगतश्च शोथः॥

इस प्रकार उपान्त्र शोथ का विचार करने में उदर रोग, शोथ और विद्रधि का विचार करने पर ही आयुर्वेद की रीति से समन्वय होता है।

निदान और विकृति।

उपान्त्र पुच्छ में विकार होने के कई कारण होते हैं और कारणों के अनुरूप उस अन्त्रपुच्छ के स्वरूप में भिन्न-भिन्न प्रकार विकृति भी होती है।

१—कभी २ उण्डुक और आन्त्र पुच्छ में कड़े मल की गांठ सञ्चित हो जाती है। कभी २ यह मल नरम भी रहता है तथापि वह दो-तीन हिस्सों में बटा रहता है, जिससे उसका अन्तिम भाग गोला सा हो जाता है। कभी २ अन्न-रस कफ दोष से घनी-भूत होकर इतना कड़ा हो जाताहै कि उसे अन्त्राश्मरी कहा जा सकता है। प्रकुपित अपान वायु से मल की गांठ बनती है और श्लेष्मा दोष से अश्मरी की उत्पत्ति होजाती है।

२—कभी फलों के बीज, बेर, कपित्थ आदि की गुठली, अस्थि-खण्ड आदि बाह्य पदार्थ इस नली में पहुँच जाते हैं और वहां क्षत-शोथ और शूल की उत्पत्ति करते हैं।

३—कभी २ अन्त्रपुच्छ की समस्त नली फूल कर मोटी होजाती है। और उसे आवरण करने वाली झिल्ली चिकनी और लाल हो जाती है। श्लैष्मिककला और पेशी का आवरण मोटा पड़ जाता है, जिससे उसमें दृढ़ता और कठोरता आजाती है और उसमें लम्बी सूजन पड़ जाती है। इतना होने पर भी नली की दीवाल की दृढ़ता के कारण नली का पोलापन नष्ट नहीं होता। किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों

वारम्बार अन्त्र शूल होता रहता है। बहुत कम अवसरों में नली का पोलापन भी शोथ और स्थूलता के कारण बन्द हो जाता है।

ऐसी दशा में उण्डुक के जिस भाग से यह नली जुड़ती है, वह बन्द हो जाने से समूची नली में ही अन्नरस रहता है और कभी-कभी घाव होकर मवाद भी पैदा हो जाता है। अन्त्रशूल, वेदना और शोथ के कारण ज्वर हो आता है और अन्नपुच्छ की नली पर भी सूजन हो सकती है।

४—क्षतयुक्त उपान्त्र शोथ कई कारणों से होता है। अन्त्रपुच्छ मे अश्मरी पड़ जाय अथवा फल-बीज आदि कोई बाह्य पदार्थ पहुँच जाय, अथवा भोजन के साथ नख, केश, कंकड़, अस्थिखण्ड चला जाय और अन्त्रपुच्छ में जा पहुँचे तो उसकी रगड़ से नली की भीतरी दीवाल क्षतयुक्त होजाती है। कभी २ उण्डुक में जीवाणु ओ की उत्पत्ति या कृमि दोष से भी क्षत हो जाता है। यह घाव टाइफाइड और अन्त्र-क्षय जन्य कीटाणुओं से भी हो जाता है।

यह भी हो सकता है कि नली मे मलपिण्ड अथवा बाह्यपदार्थ रहने पर भी नली की श्लैष्मिक-झिल्ली मे किसी प्रकार का क्षत न हो अथवा नली के अग्र मुख पर अश्मरी या बाह्य पदार्थ पहुँच कर क्षत उत्पन्न करे। क्षतयुक्त शोथ में नली फट जाने का भय रहता है। क्षत होने पर नली की भीतरी झिल्ली मोटी पड़ जाती है। यदि कीटाणु-जनित क्षत हो तो जिसप्रकार के कीटाणु हों उसीके अनुरूप क्षत होगा।

५—ऊपर लिखे कारणों से शोथ और क्षत होने पर अन्त्रपुच्छ

के किसी अंश विशेष या सम्पूर्ण अंश के पक जाने का बराबर भय रहता है। किसी अंश विशेष में शोथ और पचन होने पर अन्य अंश की अपेक्षा इस पक अंश में तनाव अधिक पडता है अतएव उस अंश के फट जाने का भय रहता है। किन्तु समूची नली पकने पर हो सकता है कि वह न भी फटे। तथापि दोनों अवस्थाओं में अन्त्रावरण झिल्ली में स्थानिक शोथ और दाह अथवा समग्र अंश में शोथ और दाह होता ही है। ऐसी दशा में नली फैल कर तन जाती है और दोष भेदानुसार लाल, कृष्णवर्ण अथवा हरिताभ पीतवर्ण की होजाती है।

अन्त्रपुच्छ पर दबाव पड़ने से जो व्रण उत्पन्न होता है वह उण्डुक से अलग अन्त्रपुच्छ के गढ़े में रहता है और नवसंक्रामक अन्त्रपुच्छ व्रण कहा जाता है; जो क्षत कीटाणुओं की क्रिया द्वारा होता है वह अधिक भयङ्कर होता है, क्योंकि ऐसा क्षत कभी-कभी तत्रस्थ-धमनी की किसी शाखा में घाव और सड़न पैदा कर देता है। ऐसी दशा में यदि नली फट जाय तो भीतरी दोष आंत के बाहरी भाग में अन्त्रावरण झिल्ली में शोथ और दाह उत्पन्न करते हैं। यदि संक्रामक कीटाणु हों तो, उनका संक्रमण भी होता है।

यदि किसी अंश विशेष में शोथ होकर सड़न हो तो उसका आकार अखरोट की गिरी के आकार से लेकर छोटे नारियल के गोले के समान आकार का भी हो सकता है। यह गोला पेशी के ऊपर उण्डुक के पास नाभि के बगल में रहता है। ऐसी दशा में घाव धूसर वर्ण पीला, कड़ा और मल जैसी गन्ध सहित मवाद से युक्त रहता है।

ज्यों ज्यो दिन वीततेहैं इसका रङ्ग गाढ़ा पाण्डु रङ्गका होता जाताहै और मवाद दुर्गन्धित होता है। कभी कभी ऐसा गोला नली मे लगा हुआ अलग दीखता है और कभी घाव में मवाद और शोथ होने से ऐसा भरा रहता है कि अलग नहीं मालूम पड़ता ।

जब अन्त्रपुच्छ की नली फट जाती है तब उसका दूपित मवाद उण्डुक या नाभि के पास बाहरी भाग में भी व्रण पैदा कर देता है। पेशी का अनुसरण कर वह उरुसन्धि का भी भेद कर सकता है। बड़ी आत और उसके सहारे अण्डकोप में भी अपना प्रभाव प्रकट कर घाव कर सकता है। नली फटने से रक्तस्राव होता है और पूयोत्पादक दोप यकृत में पूयोत्पत्ति कर सकते हैं।

यह बीमारी स्त्रियो मे कम और पुरुपों में अधिक होती है। जिन लोगों को भारी वजनदार वस्तुए उठाने का काम अधिक करना पड़ता है उन्हें यह बीमारी प्राय: हो जाती है। दुर्जर पदार्थों, विरोधी पदार्थों और अहित पदार्थों के अधिक सेवन से इसका आक्रमण बार-म्बार हो सकता है।

रोग निर्णय–

नवीन अन्त्रपुच्छ शोथ मे प्राय: उदर के दाहने भाग कुक्षि और वृक्क के पास सहसा वेदना होती है, हल्का बुखार रहता है, पक्वाशय और आंतों के विकार दिखाई पड़ते हैं, जी मचलना, वमन होना, होकर कोठा कड़ा पड़ जाता है। अन्त्रपुच्छ के स्थान पर दर्द होता और वहां दबाने से असह्य वेदना होती है। जब अन्त्रपुच्छ की नली का सिरा

बड़ी आंत
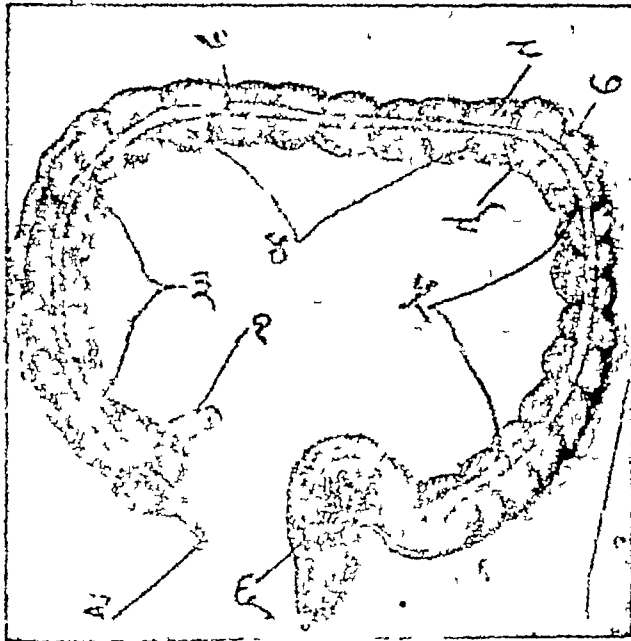
(१) मुग्र जहां छोटी आंत मिलती है ।
(२) अन्त्रपुच्छ, जो अन्त्र-संधि मे निकली है ।
(३) ऊर्ध्वगामी वृहदन्त्र (चढ़ता हुआ भाग)
(४) अनुप्रस्थ वृहदन्त्र (आड़ा भाग)
(५) अधोगामी वृहदन्त्र (उतरता हुआ भाग)
(६) आंत का अन्त
(७) बीच की लाल रेखा रूप पट्टी

वस्ति मुख की ओर मुड़ा रहता है तब वस्ति की ओर शोथ जन्य अन्त-विद्रधि के लक्षण प्रकट होते हैं और मूत्र थोड़ा—थोड़ा करके उतरता है।

यही विकार जब नाभि प्रदेश की ओर होता है तब दर्द के साथ हिचकी आती और जमुहाई अधिक मालूम होती है। पेट फूला-सा रहता है। जब दाहने वृक्क या गुर्दे की ओर विकार होता है तब दाहनी ओर की नीचे की पसली में खिंचाव होता है। नली का मुख प्लीहा की ओर रहने से जब रोग होता है तब श्वासावरोध होता है और यकृत के नीचे की ओर विकार होने से श्वास जोर से चलता और हिचकी उत्पन्न होती हैं।

यही विकार जब क्लोम के समीपी भाग में होता है तब प्यास अधिक लगती है। अभिघात जन्य उपांत्रशोथ में ज्वर, पिपासा तथा दाह की अधिकता होती है।

अन्त्रपुच्छ का रङ्ग पके गूलर के समान श्यामता लिये हुए रहता है। इसकी विद्रधि शीघ्र उठने और पकने वाली होती है। पित्त दोष जन्य उपान्त्र विद्रधि में भी यही लक्षण होते हैं। धुएं सी डकार आती है जब इस व्याधि के उत्पन्न होने में वायु की विकृति कारणी-भूत होती है तब शोथ की जगह काली लाल तथा तीव्र वेदना युक्त होती है। शोथ का उभाड़ छोटा होता है, कभी २ उभाड़ बढ भी जाता है। मलावरोध होता, और दर्द की जगह सुईसी चुभती है। यह शोथ जल्दी पकता नहीं है।

उदर की दाहिनी कोख के पास होती है। पुच्छ नली का सिरा यदि नाभि की ओर हो तो मध्य उदर के पास भी वेदना प्रकट होती है। यह वेदना कभी २ तीव्र शूल के समान होती है। जब कभी वेदना का झुकाव पित्ताशय की ओर होता है तब यहभी सन्देह होता है कि पित्ताश्मरी की पीड़ा है, इसी तरह वस्ति मुख की ओर पीड़ा होने से मूत्राश्मरी का भी सन्देह होता है। कभी २ वेदना कम और पेट ऐंठने के ढंग की होती है। इस शूल और वेदना के कारण ज्वर भी हो आता है। कभी कभी ज्वर के साथ कंपकपी भी मालूम पड़ती है। "तत्र वातादृभृ शं चार्तो दन्तान् खादति वेपते।" इसी से अश्मरी का सन्देह होने लगता है। प्राय ज्वर हलका और वाह्य शरीर की गर्मी १०० से १०२ डिग्री तक रहती है। वेदना की तीव्रता वात के कारण—

"कृष्णोऽरुणो वा विषमो, भृशायत्यर्थ वेदनां।
चित्रोत्थान प्रपाकश्च विद्रधिर्वातसम्भवः।"

तथा ज्वर पित्त के कारण होता है।

पक्कोदुम्बर संकाश श्यावो वा ज्वरदाहवान्।
क्षिप्रोत्थान प्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसम्भवः।"

सुकुमार बालकों को यदि यह वेदना हो तो उनमें आरम्भ से ही १०३॥ तक और कभी इससे भी अधिक उत्ताप रहता है। यदि चत अन्त्रपुच्छ के किसी एक भाग से ही हो तो शरीर का उत्ताप साधारण ही रह सकता है। नाड़ी की गति ज्वर की स्थिति के अनुसार कम अधिक रहती है।

इस बीमारी में जीभ प्रायः कफयुक्त होनेसे गीली और फटी सी, वायु विकार अधिक होने से कभी २ सूखी रहती है। पित्ताधिक्य होने से वमन होता है और ऐसी दशा में क्षत के पकने और नली के फटने का भय रहता है। यदि रोगी के आराम होने की दशा हो तो वमन एक-दो दिन में ही रुक जाता है। यदि नली के भीतरी भाग में श्याम रंग का क्षत हो और तीव्र दाह और वेदना से और वह रक्तवाहिनी के समीप हो तो उसमें रक्तज विद्रधि के लक्षण मिलते हैं।

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाकरः।
पित्त-विद्रधिलिङ्गस्तु रक्त विद्रधिरुच्यते॥

ऐसी विद्रधि के फट जाने और रक्तस्राव होने का भय रहता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि अन्त्र विकार उदर रोग के अन्तर्गत है अतएव आन्त्रपुच्छ रोग में भी उदर विकार के लक्षण वर्तमान रहते हैं। कोठा कड़ा होकर आध्मान और वद्ध कोष्ठ के लक्षण रहते हैं।

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता।
शोथः सदनमङ्गानां, सङ्गो वातपुरीषयोः।
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु, जठरेषु भवन्ति हि॥

विशेष कर बालकों के अन्त्रपुच्छ रोग में इन लक्षणों की व्याप्ति अधिक होती है। रोग की प्रथमावस्था में उदर टटोलने से विकार का पता नहीं लगता। क्योंकि उस समय उदर और आवरण कला में तनाव और प्रसार उतना नहीं रहता। किन्तु दाहिनी ओर की पेशी में तनाव रहता है और दबाने से दर्द मालूम पड़ता है। उण्डुक और अन्त्रपुच्छ के स्थान के ऊपरी भाग में कड़ापन और शोथ तथा तनाव

भी दृष्टिगत होता है। समीपी होने के कारण अन्त्रपुच्छ विकार का असर मूत्राशय पर भी पड़ता है। कभी २ मूत्राशय में शोथ और दाह भी होता है, पेशाब रुक रुक कर होता और रोगी दाहना पैर समेट कर लेटने की इच्छा करता है।

साध्यासाध्य -

उपान्त्र शोथ और शूल प्रारम्भिक अवस्था में उचित उपचार होने से आरोग्य होने की सम्भावना अधिक रहती है। तीन चार दिनों में ही वेदना में कमी पड़ जाती है। शारीरिक उत्ताप घटकर साधारण हो जाता और कोष्ठ परिष्कार होकर वायुदोष घटने लगता तथा जीभभी साफ होजातीहै; पेट साफ होने से वमन भी बन्द हो जाते है। उपान्त्र शोथ की जगह पर दबाने से कष्ट भी कम होने लगता है और एक सप्ताह में रोगी का रोग ठिकाने पर आ जाता है। यदि इसमें मवाद आ जाय तो दो, तीन और चार सप्ताह भी आराम होने में लगते हैं। ज्वर कुछ बना रहता है, शारीरिक दुर्वलता मालूम पड़ती है। उपान्त्र शोथ की जगह पर कुछ कड़ापन और तनाव बना रहता है। कभी २ रोग का आक्रमण भी दुहरा जाता है।

सारांश यह कि यदि वात विकार से अन्न द्रव शूल के समान उपान्त्र में विकार हो अथवा पित्त प्रकोप से ज्वर दाह युक्त शोथ हो अथवा कफ दोष से मल की गांठ या स्निग्ध रस आंत्र पुच्छ में वर्तमान होने से शोथ और अल्प वेदना हो तो उपाय करने से शीघ्र आराम होने की सम्भावना रहती है। फल, बीज, कंकड़, बाल आदि के कारण यदि नाना वर्ण की विषम वेदना युक्त अधिक उठी हुई सान्निपातिक विद्रधि के लक्षण युक्त हों तो वह असाध्य होती है। हां, शस्त्र चिकित्सासे वह भी साध्य हो सकती है किन्तु साधारण पितज या रक्तज हो तो उसके भी आराम होने की सम्भावना रहती है।

साध्या विद्रधय: पञ्च, विवर्ज्य: सान्निपातिक: ।
आम-पक्व-विदग्धत्वे, तेषां ज्ञेयञ्च शोथवत् ॥

पोले स्थान की सूजन जल्दी बढ़ती है और साधारणतः मृदु होती है। इसके सिवाय इसकी सूजन उदर के भीतरी भागों में होती है, इसलिये इसका शीघ्र समझना सहज नहीं होता। नली के भीतर क्षत या फटने की कल्पना भी चतुर चिकित्सक को शीघ्र होजाती है।

एक सप्ताह के भीतर ही इस रोग की भयङ्करता बढ़ जाती है। यदि औषधोपचार से तुरन्त लाभ न हो तो समझना चाहिये आवरण कला तक विकार का प्रभाव बढ़ गया है और भीतरी क्षत भी चिन्तनीय हो गया है। यद्यपि साधारणतः शोथ में पूयोत्पत्ति होने पर ज्वर होता है किंतु अन्त्र पुच्छ शोथ में विना मवाद आये भी ज्वर रहता है। स्थानिक तनाव और वृद्धि तथा वेदना से क्षत का अनुमान करना पड़ता है। वेदना के स्थान पर अंगुली से दबाने पर यदि कुछ पीलापन मालूम पड़े और अंगुली हटाने पर फिर ललाई या श्यामता आ जाय तो समझ लें कि शोथ पक रहा है। उस स्थान पर हाथ रखने से कुछ गर्मी भी मालूम पड़ेगी। शोथ के स्थान पर दबाने से धमनी का रक्त भार और लसिका स्पन्दन बढ़कर वात नाड़ियों के अग्रभाग पर दबाव और क्षोभ होता है। इसलिये वहां पर दबाने से दर्द होता है किन्तु पोले भाग में क्षत होने से जब तक उसका असर ऊपरी भाग तक नहीं आता तब तक दबाने से भी वेदना की तीव्रता नहीं होती।

यदि वेदना के स्थान में चींटियों के काटने का सा दर्द हो, जलन और चीरने या फाड़ने का सा कष्ट हो, दबाने से बिजली का सा करण्ट या बिच्छू काटने की सी व्यथा हो, बैठने, सोने आदि में चैन न पड़े, ज्वर, तृषा और अरुचि हो तो समझ लें कि भीतर शोथ पक रहा है। जब मवाद इकट्ठा हो जाता है तब वहां की धातुयें नष्ट होने लगती हैं। शोथ की जगह की ऊंचाई घट जाती है। वेदना में कुछ कमी मालूम पड़ती है, रह रह कर सुई सी चुभने लगती है. ऊपरी भाग में कुछ खुजलाहट मालूम पड़ती है तब उस शोथ को पका हुआ समझना चाहिये। शोथ की इस पकी अवस्था को ही विद्रधि कहते

हैं। ऐसी दशा में यदि साधारण चिकित्सा से लाभ न हो तो शस्त्र चिकित्सक की सलाह से शस्त्र-क्रिया द्वारा आराम करने का प्रयत्न करना चाहिये।

साधारण विद्रधि की अपेक्षा अन्त्र-पुच्छ की विद्रधि विशेष भयानक होती है। आरम्भ से ही इसकी भीतरी झिल्ली, सौत्रिक तन्तु, लसीकाणु, सेल आदि पर असर पड़ता है। जी मचलाने, वमन, ज्वर और दबाने से वेदना सभी अवसरों में होती है। इससे अन्त्रावरण झिल्ली में रोग संक्रमण का परिचय मिलता है। इस रोग के प्रधान लक्षण उदर का तनाव, दबाने से दर्द, पेट का जकड़ा सा रहना है। जी मचलाना और वमन होना आरम्भ से ही पाया जाता है। नाड़ी की चाल तेज रहती है, जीभ सूखी सी रहती और अधिक बाहर निकालने में कष्ट होता है। ज्यों २ रोग की वृद्धि होती है त्यों २ पेट की जकड़न और तनाव अधिक कष्टकर होता है, ज्वर के साथ ही नाड़ी की चाल तीव्र हो जाती है। रोगी घुटने मोड़कर चित्त लेटने की इच्छा करता है। मुख उतरा हुआ और उद्वेग युक्त रहता है ज्वर प्रथमावस्था से ही रहता है। तीन चार दिनों के बाद साढ़े सौ से भी ऊपर हो सकता है। शारीरिक उत्ताप की अपेक्षा नाड़ी की चाल से रोग की साध्यासाध्यता का अधिक पता चलता है।

कभी २ देखा जाता है कि रोगी सम्पूर्ण अच्छा हो गया है किन्तु तीन-चार महीने अथवा उसके पहले या पीछे फिर रोग का आक्रमण होता है, उसी प्रकार ज्वर, शूल, स्थानिक दाह, शोथ आदि लक्षण फिर प्रकट हो जाते हैं। यही नहीं वारम्बार ऐसा आक्रमण वर्षों तक होता रहता है। ऐसा आन्त्र शूल प्रायः घातक नहीं होता, स्थानिक तनाव और कठिनता कायम रहती है, कुछ दोष रहते और मिथ्या आहार विहार से बढ़कर रोग का आक्रमण होता है। लगातार पथ्य-कर्म पूर्वक अच्छी चिकित्सा करने से वह आरोग्य भी हो-जाता है। ऐसी दशा में कभी २ सौत्रिक तन्तुओं में विक्षोभ होकर घत भी हो जाते हैं।

वायु प्रकृति वाले मनुष्य को ऐसा आक्रमण प्रायः अधिक व्यायाम, तेज सवारी या बैल गाड़ी अथवा घोड़ेकी सवारी में ऊंची नीची गड्ढेदार जगह

में चलने, अत्यन्त मैथुन, रात्रि जागरण, अत्यन्त शीतल जल के पीने, मटर उड़द, अरहर, कोद्रव तथा रूक्ष अन्न पान के अधिक सेवन, कषाय, तिक्त और अंकुरित धान्यों के अधिक सेवन, विरुद्धाहार, सूखे शाक, मल मूत्रादि वेगों का रोकना, उपवास आदि अथवा आंत में आघात लगने से वायु कुपित हो जाता है और आंतों का कुपित अन्न रस अन्त्र पुच्छ में पहुँचने से रोग का आक्रमण होकर विषम शूल उत्पन्न करता है। ऐसे समय स्थानिक वेदना के साथ वृक्क, बस्ति देश और त्रिक स्थान में भी वेदना हो सकती है।

इसी तरह क्षार द्रव्य मिर्च, राई, करील, बांस का अचार, तेल, सेम, तिल की खली, कुलथी, खट्टे अचार, सेंधा नमक, सिरका, तेज मद्य, कांजी क्रोध, उत्ताप आदि विदाही क्रिया कलाप से पित्त दूषित होकर भी शूल उत्पन्न करता है। ऐसे शूल के समय रोगी को वेदना से पसीना आ जाता, मूर्छा होती, चक्कर आते और रोग का प्रकोप दोपहर तथा आधी रात और अन्न के परिपाक के समय विशेष कर शरद ऋतु में होता है शीत काल में उपद्रव प्रायः नहीं होता।

इसी तरह जलचर जीवों के मांस के सेवन, खट्टा मट्ठा, फटा दूध, फटा दही, अधिक पूड़ी कचौड़ी, खिचड़ी और कफ कारक पदार्थ खाने वाले का कफ दूषित होकर अपक्व मलकी गाठ बन जाती और आंत से अन्त्र पुच्छ में पहुँचने से विकार उत्पन्न करती है।

जिन लोगों का पेट वायु दोष से भोजन के बाद फूलता है। गुड़गुड़ शब्द करता है, कम्पकपी छूटती है अथवा पित्त दोष से भोजन के पश्चात् प्यास, दाह, पसीना छूटने का उपद्रव होता है, इसी तरह कफ दोष से वमनेच्छा या जी मचलाने, मुंह से पानी छूटने का विकार होता है। ऐसे परिणाम शूली का दूषित अन्न द्रव उपान्त्र में पहुंचने से भी उपान्त्र में शूल हो सकता है।

जिन लोगों को प्रायः अजीर्ण होता रहता है, उनका भी अन्न द्रव उपान्त्र में पहुँचने से शूल उत्पन्न करता है। ऐसा शूल वमन के पश्चात् धीमा पड़ जाता है। ऐसा उपान्त्र शूल बारम्बार हो सकता है किन्तु मारक नहीं होता

लघु अन्त्र
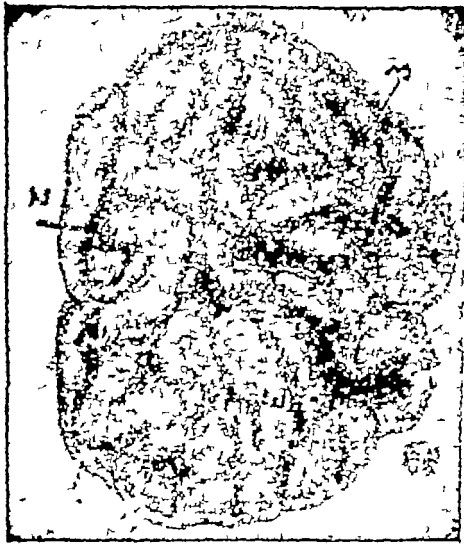
(१) छोटी आंत का मुख (पक्वाशय वाला)
(२) छोटी आंत का अन्त
(३) छोटी आंत की गेंडलियां

संक्षिप्त-विवरण—छोटी आंत मांस की पट्टियों से बनी हुई और जगह २ सिकुड़ती हुई नली के समान है। यह लगभग २॥ फीट लम्बी है और आडी-टेढ़ी गेंडलियां मारे हुए नाभि के चारों ओर पड़ी है। इसकी मोटाई १॥ इंच और अन्दर की पोली-चौड़ाई प्राय १ इंच होती है। इसकी दीवार में चारों ओर ग्राहकांकुर होते हैं, ये आहार रस में से साररूप शरीरोपयोगी अंश ग्रहण करते हैं।

फल, बीज, केश, अस्थि खण्ड, ककड़, कांटा किसी धातु के टुकडे, सुई या अलपीन के टुकडे भोजन के साथ आंत में और फिर आहार रस के साथ उपान्त्र में पहुँच जाने से जो उपान्त्र शूल होता है, उसमें यदि आंतों की जलौकागति से ये पदार्थ बडी आंत में पहुँच कर मलद्रव के साथ मल द्वारा गुदामार्ग से निकल न जावें तो वहां रहकर उपान्त्र की दीवाल में घर्षण द्वारा शोथ और क्षत उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी दशा में वहां क्षतोदर के लक्षण प्रकट होते हैं।

शल्यं तथान्नोपहितं यदन्त्रं, भुक्तं भिनत्यागतमन्यथा वा।
तस्मिन्स्रुतान्त्रात्सलिलप्रकाश, स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः।
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धि, निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम्।

इसमें उपान्त्र में शोथ होता, उसका आकार बढ़ जाता और यदि वह शल्य रूपी बाहरी पदार्थ सीधे होकर मल द्रव के साथ निकल न गये तो टेढ़े होकर वहां घाव कर देते हैं। ऐसी दशा में उपान्त्र से अन्त्र रस, रक्त या पक जाने से मवाद झरने लगता है यह झरा हुआ द्रव नाभि के नीचे इकट्ठा होकर पेट को फुला देता है और गुदा मार्ग से भी बाहर निकलता है। कभी कभी विद्रधि फूटने से मुख के रास्ते भी मवाद आता है। ऐसी परिस्थिति भयङ्कर होती है। कहा भी है—

अधः स्रुतेषु जीवेत्तु, स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति।
हृन्नाभि-वस्ति-वर्ज्येषु, तेषु भिन्नेषु बाह्यतः।
जीवेत्कदाचित्पुरुषो, नेतरेषु कदाचन।
आध्मानं बद्धनिष्पन्दं, छर्दि-हिक्का-तृषान्वितम्।
रुजाश्वाससमायुक्त, विद्रधिर्नाशयेन्नरम्।

उपान्त्र से निकला हुआ विकृत जल जलोदर उत्पन्न कर सकता है और कीटाणु जनित होकर विषाक्त प्रभाव उत्पन्न कर रोगी को मार सकता है। गुदा द्वारा दूषित भाग निकलने से रोगी कुछ दिन बच सकता है, किन्तु मुख

द्वारा विपरीत और विषम मार्ग होने से दोष पूरे निकल नहीं पाते और विपाक्त प्रभाव उत्पन्न कर रोगी के लिये मारक होते हैं।

इसलिये पेट फूलने, मल मूत्र का अवरोध होने, वमनाधिक्य और हिचकी पैदा हो जाने, वेदना की अधिकता, प्यास की अधिकता और श्वास उत्पन्न होने से यह रोग असाध्य हो जाता है। इसके लक्षण प्रकट होते ही शस्त्र चिकित्सक की सलाह से शस्त्र चिकित्सा द्वारा शल्य निकलवा देना चाहिये और यदि उपान्त्र फट गई हो तो उसे कटवाकर निकलवा देना चाहिये इसके कटवा देने से भी मनुष्य बच सकता है और इससे भविष्य में भी कोई हानि नहीं होती है।

चिकित्सा—

अन्त्रपुच्छ विकार एक संकर व्याधि है। आंत का अङ्ग होने से आंत के विकारों का प्रभाव इस पर पड़ता है और उनके कारण से इसमें विकारों की उत्पत्ति हो सकती है। उदर रोगों का प्रभाव और उनकी व्याप्ति इसमें हो सकती है और होती है। इसमे शूल होता है अतएव उदर शूलों का प्रभाव इसमें पड़ता है। शोथ और क्षत होकर पाक सर्वथा सम्भव है, अतएव व्रण शोथ और विद्रधि के लक्षण और उपचारों से इसे किसी प्रकार पृथक नहीं किया जा सकता। यही नहीं नाभि, वृक्क, वस्ति, यकृत और प्लीहा का समीपी अङ्ग होने के कारण उनके रोगों का भी इसमें भ्रम हो सकता है, उन सबों का विचार कर रोग निर्णय करना साधारण काम नहीं है।

पित्ताश्मरी शूल और मूत्राश्मरी शूल के लक्षणों का भी भ्रम सर्वथा सम्भव है। स्त्रियों के ऋतु काल के समय जो शूल होता है तथा

गर्भाशय के विकारों में भी कुछ उपद्रव ऐसे हैं जिनमें उपांत्र शूल का भ्रम हो सकता है। पित्ताशय में वेदना, शोथ और वृद्धि होने से जो दाह और शोथ होता है उसमें उपांत्र शोथ और शूल का भ्रम होसकता है। आंतों के आटोप और आवद्ध होने पर भी वेदना और वान्ति होती है, किन्तु उस वमन में मल निकलता है, उपांत्र विकार के वमन में मल नहीं आता। गुदामार्ग से स्राव होने पर यदि कांखने से मल मिश्रित रक्त आवे तो उसे उपान्त्र से आया हुआ नहीं समझना चाहिए, उपांत्र से स्रुत द्रव रक्त और पूय मिश्रित होगा अतएव उपांत्र विकार की चिकित्सा करने के पहले इन सब बातों की समीक्षा कर लेनी चाहिये।

साधारण उपांत्र विकारों की चिकित्सा औषधोपचार द्वारा हो सकती है, किन्तु यदि शल्य का सन्देह हो, क्षत होकर विद्रधि और तज्जन्य पाक से अन्त्रपुच्छ के फटने का सन्देह हो तो बिना विलम्ब अस्त्रचिकित्सा करानी चाहिये।

तीव्र विरेचन देने का कभी प्रयत्न न करें, क्योंकि विरेचक द्रव्य आंतों में एक प्रकार की हल-चल उत्पन्न करते हैं। इस गति से उपांत्र में अन्न रस आने की संभावना रहती है। आवश्यकता होने पर आरोग्य वर्धिनी जैसी मृदु विरेचक औषधि दे सकते हैं। बड़ी आंत साफ रखने के लिये गरम जल में सैंधव नमक छोड़ कर वस्ति देने से उपकार होता है, क्योंकि बड़ी आंत साफ और खाली रहे तो उपांत्र के विकार जलौका गति के द्वारा ऊपर उठ कर उण्डुक से बड़ी आंत में पहुँच कर बाहर निकल सकते हैं।

लक्षणों से जिस दोष की प्रबलता मालूम पड़े उस दोष के नाशक द्रव्यों के क्काथ से भी वस्ति देना हितावह होगा। उपांत्र शोथ का पाक तीन चार दिनों में हो सकता है। यदि मवाद के लक्षण हों तो अस्त्र चिकित्सक की सलाह से व्यवस्था करे अन्यथा औषधोपचार जारी रखे और वस्ति प्रयोग में गरम जल में साबुन घोल कर वस्ति देवे। यदि रोग का उपशमन होने लगे तो केवल किंचित् उष्ण जल और सैंधव की ही पिचकारी दे। अथवा लवण युक्त विरेचक औषधियों की पिचकारी वस्ति दे। कुछ पाचक द्रव्य देते रहना चाहिये। बद्ध कोष्ठ किसी प्रकार रहने न पावे। जितना ही कोठा साफ रहेगा उतना ही शीघ्र लाभ होगा।

शूल और शोथ प्रशमन के लिये स्वेदन और सेक की व्यवस्था अवश्य करे। खूब खौलते हुए जल में सेंधा नमक या भुना सोहागा अथवा बोरिक एसिड छोड़ कर उदर के दाहने भाग के नीचे के हिस्से में सहते हुए सेक करे।

यदि पैत्तिक लक्षणों की अधिकता हो तो अधिक सेक न करे। सेक के साथ ही कुछ लेप लगाना भी आवश्यक है। क्योंकि सेक और लेप की उष्णता से अन्त्रपुच्छ गत घनद्रव्य पतले पड़ कर उण्डुक की ओर उठ जावेंगे और शोथ का भी शमन होगा, किन्तु लेप ऐसे न हों जो शोथ को पका देवें। पकने से अन्त्रपुच्छ के फटने का डर रहता है।

१—जौ, गेहूँ तथा मूङ्ग को घी में पीस कर लेप करने से अपक्व विद्रधि लुप्त हो जाती है।

२—घीग्वार के पट्ठे का छिलका नीचे की ओर से निकालदे और उसमें हल्दी और सेंधा नमक डाल ऊपरी छिलके वाले भाग को आग पर रख गरम करे और फिर सहता हुआ दर्द की जगह पर बांध दे।

३—मुसब्बर गूगल सोहागा काली जीरी
सेंधा नमक पुनर्नवा की जड़ मकोय की पत्ती
एरण्ड की जड़ आवा हल्दी सज्जी

—सबको पानी या गोमूत्र में पीस पका कर शोथ और दर्द के स्थान में दिन में दो बार लेप करे।

४—दशमूल के काढ़े में घी डाल कर गरम २ कपड़े से सेंक दे इससे वातज शोथ और शूल नष्ट होगा।

५—बरगद गूलर पीपल पलाशपीपर पाकर की छाल
—सहिंजने की पत्ती के रस में पीस कर लेप करे।

६—सहिंजने की पत्ती के रस में सींगिया घिस कर लेप करे। अथवा सहिंजने की छाल पानी में घिस उसीमें सींगिया भी घिस कर लेप करे।

७—क्षीरकाकोली खस मुलहठी लाल चन्दन
—पीस कर दूध में बांटे और उसमें घी मिला कर लेप करे तो पैत्तिक, रक्तज और आगन्तुक विद्रधि नष्ट होगी।

८—ईंट का चूर्ण, बालू, लोहकिट्ट और गाय के गोबर को गोमूत्र में

पीस कर उष्ण लेप करे। इससे कफजन्य अन्त्रपुच्छ शोथ और विद्रधि नष्ट होगी।

९—लाल चन्दन मजीठ हल्दी मुलहठी गेरू

—दूध में पीस कर लेप करने से रक्तज आगन्तुक और दाह जन्य अन्त्रपुच्छ विद्रधि नष्ट होती है।

१०—खरैंटी की पत्ती और लौंग पीस कर ठण्डा लेप करे।

११—गेहूं का चोकर, सेंधा नमक, हल्दी, एरण्ड बीज अजवाइन काले तिल

—पीस कर मोटे कपड़े में बांध कर पोटली बनावे और आग पर तवा रख उसीमें पोटली सेक कर पेट के नीचे भाग में सेक दे।

शूलगजेन्द्र तैल या शोथशार्दूल—तैल या नारायण-तैल की मालिश करे।

१२—निगु ण्डी के पत्तों को पानी में उबाल कर उन्हीं से दर्द की जगह पर बफारा दे और फिर गुनगुने पत्ते से बांध दे।

खाने की औषधि—

१३—पिप्पली, स्याह जीरा, इन्द्रायण की जड़, और कड़वी तोरई का फल पीस कर पिलावे।

१४—श्वेत पुनर्नवा की जड़ और वरुण की जड़ की छाल का काढ़ा कर पीने को दे।

१५—खैर की छाल पीलीहरड़ बहेड़ा आंवला
नीम की छाल कुटकी मसूर की दाल मुलेहठी निशोथ
—समान भाग तथा परवर की जड़ चार भाग लेकर काढ़ा कर पिलावे इसे 'गायत्री क्वाथ' कहते हैं। इससे व्रण, गुल्म, विद्रधि, विसर्प, दाह, मोह, ज्वर, पिपासा, मूर्छा, वमन, हृद्रोग, रक्त पित्त, कुष्ठ और कामला के विकार भी नष्ट होते हैं।

१६—सहिजने की जड़ धोकर पानी में पीस मधु मिलाकर पिलावे।

१७—ताम्र भस्म १ रत्ती मंडूर भस्म २ रत्ती
शंख भस्म ४ रत्ती कपर्द भस्म ४ रत्ती
—सबको मिला कर ४ पुड़ियां बनावे और दिन में चार बार इसे अदरख रस और शहद से चटा कर ऊपर से धमासा की जड़ चावल के धोवन में पीस कर मधु मिलाकर पिलावे।

यदि अन्त्रपुच्छ में अश्मरी पड़ जाने या मल की गांठ या कंकड़ का सन्देह हो तो—

१८—शुद्ध हीराकसीस सैंधव शिलाजीत भुनी हींग
—मिला कर १-१ माशा लेवे, और इसे मुख में रख नीचे लिखी वस्तुओं का काढ़ा पीवें।

१९—इलायची के दाने मुलेठी गोखरू रेणुका बीज
अडूसे के पत्ते पीपल पाषाणभेद एरण्ड मूल
—समान भाग लेकर दो तोले औषधि को आध सेर जल में पकावे और आध पाव रहने पर उतार छान कर पीवें।

प्रवाल पंचामृत २ रत्ती, शहद और पीपल से [illegible] कर ऊपर से पुनर्नवादि क्वाथ पीवें। दोपहर मे-अग्नितुण्डी १ गोली, अग्निमुखलौह १ गोली, अश्वकंचुकी १गोली और वृहत् शंखवटी की एक गोली खाकर ऊपर से कुमारी आसव १ तोला, पानी २ तोला मिला कर पीवें।

शाम को सूतशेखर १ रत्ती अदरखके रस अथवा भुनी इलायची २ नग और भुनी लौंग ४ पीस कर मधु मिला कर चाटें।

शूलगज केसरी या शूलदावानल ६ रत्ती, दुर्जलजेता ६ रत्ती और अग्नि तुण्डी ६ रत्ती इसकी ३ खुराक कर सवेरे, दोपहर, शामको लेवें; ऊपरसे विडङ्गारिष्ट पानी मिला कर पीवें।

सवेरे लशुनादि गुटिकाको पुनर्नवादि क्वाथसे निगलें। दोपहर में शंख वटी खाकर ऊपर से २ तोले जल में १६ बूंद शंखद्राव मिला कर पीवें।

शाम को भोजन के वाद आरोग्यवर्धिनी २ से ४ गोली तक खाकर दूध पीवें या १ तोला दशमूलारिष्ट २ तोला जल मिला कर पीवें।

२०—नागरवेल (पान के पत्ते) और सहिजने की छाल कुचल कर दो तोले रस निकाल कर दिन में तीन वार पीवें। इसे किसी औषधि के अनुपान के रूप में भी ले सकते हैं। इससे फूली हुई नली शीघ्र प्राकृत अवस्था में आजावेगी।

२१-सहिजने की छालके काढ़े मे भुनी हींग मिला कर लेवे।

२२-पुनर्नवा की जड़ के काढ़े में सोंठ की वुकनी मिला कर पीवें।

वृहदन्त्र (COLON) के तीनों-भाग।

४॥ से ६॥ उद्‌गामी वृहदन्त्र।

६॥ से ६ अनुप्रस्थ (दिगन्तसम) वृहदन्त्र।

६ से १२ अधोगामी वृहदन्त्र।
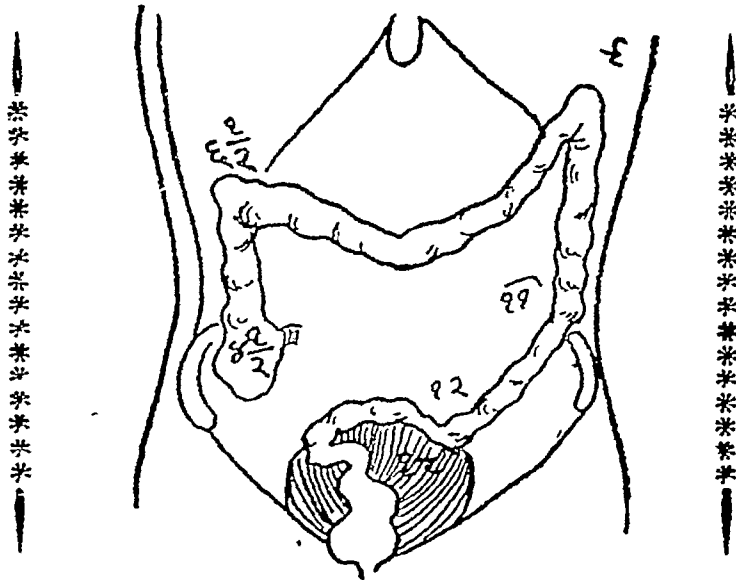
१२ से १८ घंटे तक मलाशय में भोजन-रस पहुंच जाता है, फिर गुदामार्ग से निकल जाता है।

२३–छोटी पीली हर्र का चूर्ण मधु से चाटें तो वान्ति और शूल नष्ट होगा।
२४–छोटी हर्र, सेंधा नमक और धाय के फूल का चूर्ण मधु और घृत से लें।

पथ्यापथ्य

अन्त्रपुच्छ शोथ के विकार में पथ्यापथ्य निर्णय करते समय विद्रधि, शोथ, शूल और उदर रोग का विचार कर खान-पान और आहार-विहार निश्चित करना चाहिये। रोगी को एक दम चारपाई पर लेट कर पूर्ण विश्राम करना चाहिये। आरम्भ में जब तक भूख न लगे तब तक कोई वस्तु खाने को न दे। प्यास अधिक होने पर गरम किये हुए जल में पीपल की छाल जलाकर बुझाये और वही पानी पीने को दें। प्रत्येक अवस्था में उष्ण जल अथवा उष्ण किये हुए ठण्डे जल का व्यवहार करना चाहिये। किंचित् उष्ण जल में आधा तोला नमक मिलाकर बड़ी आंत में पिचकारी देने से भी प्यास कम होती है।

रक्तज अथवा पैत्तिक व्याधि होने पर वेदना के स्थान पर बर्फ रखा जा सकता है, अथवा गीली मिट्टी का लेप किया जा सकता है। वेदना की शान्ति के लिये अफीम का इञ्जैक्शन दिया जा सकता है।

पुराने चावल का भात, जौ का दलिया, मूंग, अरहर, मसूर की दाल, गेहूँ और जौ की रोटी देनी चाहिये। यदि वेदना शामक गण की औषधियों के क्वाथ में दाल पकाई जाय और रोटी के लिये आटा साना जाय तो अच्छा हो।

परवल, वन परवल (ककोड़ा) सहिजन, घिया तोरई, कुलफा, मेथी, सूरण, बथुआ, पालक, करेला, कोमल मूली, गाजर, अगस्त्य के

फूल, पर्वीनाशा शाक देना चाहिये। नीबू, आंवला, हरा धनियां, अदरख, प्याज, लहसुन, हींग आदि की चटनी देवें। फलों में मीठा नीबू, मुसम्मी, सन्तरा, अनार, नारियल का पानी, अंगूर, मुनक्के, कसेरू, कच्च, पपीता आदि दिये जावें। टमाटर-रस भी छान कर दे सकते हैं। पका हुआ दूध, मक्खन और घी भी देना चाहिये। सेंधा नमक, चीनी मिश्री, आम, साबूदाना, मानकन्द डालकर पका क्षीरपाक दूध हित है।

भरपेट भोजन न कर तीन चार घण्टे का अन्तर देकर थोड़ा २ पथ्य लेवें। अण्डा या मछली का स्वरस लिया जा सकता है। पेट के निचले भाग में गरम कपड़ा बंधा रखना अच्छा है।

हानिकारी अपथ्य में—अति जल पान, दिन में सोना, अधिक परिश्रम, मैदा के पदार्थ, दाह कारक पदार्थ, सेंधा नमक के सिवाय अन्य नमक, क्षार द्रव्य, पत्र शाक, तिल के पदार्थ, मछली और दूध आदि विरुद्धान्न दूषित जल, भारी और कब्जियत करने वाले पदार्थ, गुड़, तैल, गाड़ी-घोड़े आदि की सवारी, घी से चुपड़ी रोटी, कुन्दरू लौकी, आदि, मद्य, अम्ल पदार्थ, मटर, सेम, उड़द की खिचड़ी, दही, ठण्डा पानी, मलावरोध करने वाले पदार्थ, जलन करने वाले पदार्थ, अधिक भोजन आदि अपथ्य हैं।

यदि सावधानीसे अन्त्रपुच्छ रोग की चिकित्सा की जाय तो प्रति सैकड़ा पचास से अधिक रोगी आराम किये जा सकते हैं। कभी २ रोग निर्णय ठीक समय पर न हो पाने से व्याधि बढ़ जाती है। इसके कई रोगी हमने आराम किये हैं और सावधान होकर कोई भी चिकित्सक इसमें सफलता पा सकता है।

ले०—रायबहादुर पं० श्रीदत्तजी शर्मा वैद्यराज,
आनरेरी मजिस्ट्रेट व सबजज, भिवानी।

उदर के क्षेत्र के विषय में आज वैद्यसमाज में बड़ा मतभेद है, विद्वान् लेखक ने अपने विचारानुसार उसका सप्रमाण समाधान करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार उदर रोगों की संख्या आठ से कहीं बहुत ज्यादा हो सकती है, इस विषय को भी सप्रमाण स्पष्ट किया है। प्रस्तुत लेख वैद्यसमाज को विचारक बनाने में अवश्य सहायक होगा। —सम्पादक।

उदर का क्षेत्र—

हमें सर्व प्रथम यह व्याख्या करनी चाहिये कि, उदर शब्द की व्यापकता कहां तक है? कौन २ आशय उदर शब्द में आ जाते हैं? क्योंकि इस विषय में मत भेद है।

बहुत लोगों का मत है कि, हृदय स्थान फुफ्फुस (फेंफड़े) उदर में सम्मिलित नहीं हैं, हमारा अपना ही विचार नहीं किंतु सिद्धांत ग्रंथों से यह प्रमाणित होता है कि, हृदय स्थान, फुफ्फुस उदर में ही सम्मिलित हैं। इसलिए श्लेष्माशय, आमाशय, अग्न्याशय, पक्वाशय, मलाशय, वस्तिमूत्राशय, यकृत, प्लीहा, गुर्दे आदि का स्थान उदर है, और उदर ही इस शरीर में एक बड़ी भारी मशीन है अर्थात् इंजिन है, जिसके द्वारा शरीर का भरण-पोषण होता है। उदर ही सब

विकारों की उत्पत्ति का स्थान है और सब रोगों की चिकित्सा भी उदर से ही शुरू होती है।

उदर रोगों की संख्या—

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में उदर रोग अधिकार में सिर्फ आठ रोगों की गणना की है।

"सम्भवंत्युदराण्यष्टौ, तेषां लिंगम् पृथक् शृणु"।

किंतु और भी उदर सम्बन्धी बहुत व्याधियां हैं। जिनका वर्णन पृथक् अधिकारों मे सुविधा के लिये आचार्यों ने दिया हुआ है और जो पृथक् २ रोगों के नाम से प्रसिद्ध हैं, किन्तु वह सभी उदर रोगों में गिने जा सकते हैं। जैसे अतिसार, ग्रहणी, अग्निमांद्य, कृमि-रोग, अन्त्र क्षय, कोष्ठ बद्धता, भस्मक, पांडु रोग, अरोचक, वमन, तृष्णा सब प्रकार के उदर शूल, उदावर्त, आनाह, गुल्म, अन्तर्विद्रधि, अम्ल-पित्त, पित्ताश्मरी, यकृत, तिल्ली, वृक्क विकार, अन्त्र पुच्छ प्रदाह (अपें-डिसाइटिस) आदि सभी एक प्रकार से उदर व्याधियां ही हैं।

वैद्यक ग्रन्थों में स्वतन्त्र अधिकारों मे इनका निदान, सम्प्राप्ति, चिकित्सा मिलती है, किन्तु उसमें अब नवीन चिकित्सकों के साथ सङ्घर्ष के लिये विशेष विवेचन की आवश्यकता है। पश्चिमीय चिकि-त्सकों के नवीन विज्ञान का कहां तक हमारे साथ समन्वय है और कहां उनके विज्ञान मे त्रुटि है? हमें यह सर्व मान्य तर्क और प्रमाणों से सिद्ध करना चाहिये। यह ऐसा विषय है कि उपरोक्त एक २ रोग के लिये एक-एक स्वतन्त्र विशेषांक या निबन्ध लिखे जावें। यदि वैद्य समु-

दाय मीमांसक होकर गवेषणापूर्ण लेख लिखने का बचन दे तो मैं धन्वन्तरि के सम्पादक और मालिकों से प्रार्थना करूंगा कि वह आगामी वर्ष का मासिक प्रोग्राम अभी से एक २ रोग का विशेषांक रूप से निश्चित कर लेंगे। तब उस मास में धन्वन्तरि का वही अङ्क उसी रोग का मासिक रूप से विशेषांक होगा, किन्तु मैं जैसे असमर्थ हूँ मुझे दूसरे महानुभावों की भी वैसी ही चेष्टा प्रतीत होती है, इसलिये जो भी प्रयास किया जा रहा है वही पर्याप्त है।

कुछ अनुभूत व सफल प्रयोग

अब मैं नीचे आपकी जानकारी के लिए कुछ अनुभूत प्रयोग देता हूँ जो वड़े साधारण हैं और वड़े २ चिकित्सकों के छोड़े हुये रोगियों की चिकित्सा करने मे उनसे सफलता मिलती है।

अजवायन रसायन-

२५-अजवायन देशी   १ सेर   मेथी   पाव भर
चन्द्रशूर   काली जीरी   हरीतकी   पोदीना
नौसादर   नमक सेंधा   —प्रत्येक १-१ पाव।
सोंठ   सुहागा   काली मिर्च   —प्रत्येक आध सेर।
जवाखार   १ छटांक   काला नमक   आध सेर

—इन सबको दरदरी कूट कर किसी बड़ी नांद में डाल कर इन्द्रायण के फल का गूदा, बीज निकाल कर ३ सेर डाल दें, और २ सेर घृत कुमारी का गूदा डालकर रखें, पात्र का मुख बन्द करदें। महीना

बीस दिन में जब द्रव सब सूख जावे तब इसका चूर्ण बनालें और उदर व्याधियों में प्रयुक्त करें।

मात्रा—३ माशा।

गुण—सब प्रकार के उदर शूलों में बड़ा लाभ करता है।

अन्त्रपुच्छ प्रदाह (अपेंडिसाइटिस) के रोगी को प्रातः सायं इसका प्रयोग जलसे करावे और दोनों समय के भोजन के बाद कुमार्यासव का प्रयोग करें, ऐसा ३-४ मास करनेसे आपरेशन की आवश्यकता न रहेगी।

अग्निमांद्य अजीर्ण में इस रसायन का प्रयोग दिन में रात्रि में चार बार करने से भूख लगने लगती है जिनके पेट में अधिक वायु का प्रकोप रहता हो उनको गर्म जल से दिया जावे।

कोष्ठबद्धता के लिए रात्रि को लेकर सोने से लाभ होता है यकृत प्लीहा विकारों में लाभ करता है गुल्म, शूल, परिणाम शूलों में उपयोगी है जिनके आम का संचय हो उनके लिए मुफीद है।

दर्द गुरदे में भी लाभ करता है शिर दर्द, हिक्का, ऊर्ध्ववात में लाभदायक है। हम बहुत प्रकार से इसका प्रयोग उदर व्याधियों में करते रहे हैं।

वृक्क (दर्द गुरदे) की वटी—

ऐसे रोगी जिनको गुरदे का शूल रहता था उन्हें निम्न प्रयोगसे बहुत लाभ हुआ है।

धन्वन्तरि

उदररोगांक

वृक्क
गुर्दा

-ॐ-
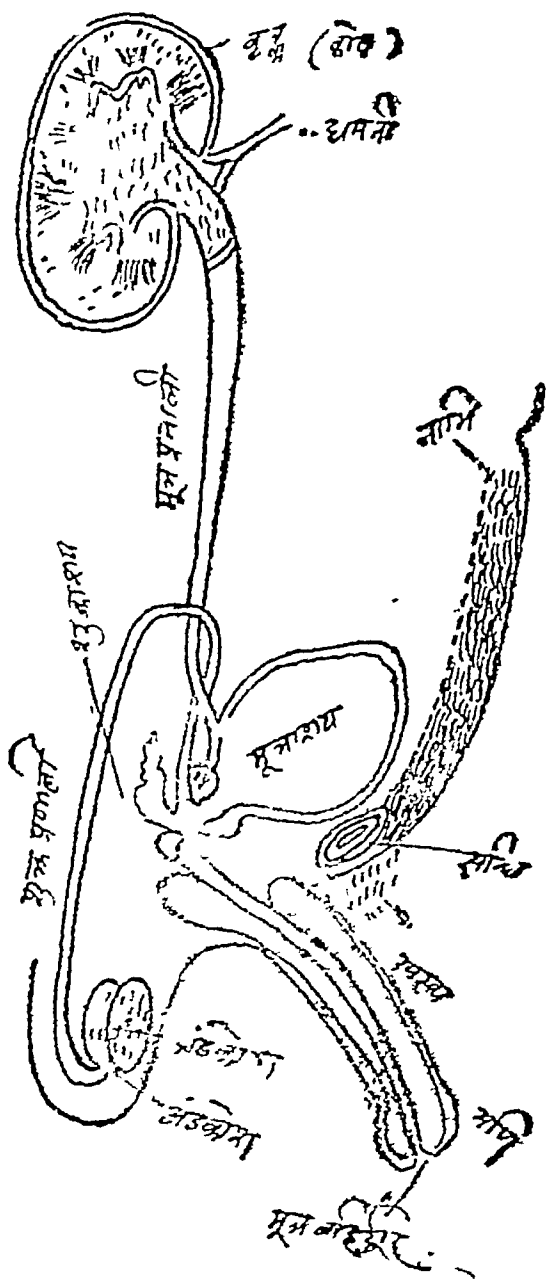
२६—जीरा स्याह जीरा सफेद पीपल छोटी कालीमिर्च
सुहागा खील पोदीना अमलतास यवक्षार
—प्रत्येक १-१ तोला।
कालानमक सेंधा नमक सांभर नमक
—प्रत्येक ३-३ तोला।
शंख भस्म ५ तोला
डासरिया १ तोला हींग (भुनी हुई) १ तोला
—अर्क सहिंजना ८ छटांक में भावना देकर घुटाई करें उसके बाद नीबू के अर्क में भावना देकर घुटाई करके बदरी वेर प्रमाण वटी बनावें। यथानुकूल अनुपान से इसका प्रयोग करें।

अग्निमांद्य, शूल, विशूचिका—

२७—गन्धक आमलासार पारा जीरा सफेद
जीरा स्याह पीपल छोटी दाना इलायची बड़ी
दाना इलायची छोटी मिरच काली लौंग
—प्रत्येक १-१ तोला।
चित्रक छाल २ तोला
सुहागा ६ तोला नौसादर ६ तोला
—इनकी घुटाई २० घण्टे होनी चाहिये और विशूचिका में जल का अनुपान नहीं दिया जावे और वमन में भी जल का अनुपान न हो, शेष जैसी २ अवस्था हो अनुपान भेदसे इसका प्रयोग अद्भुत लाभ देता है।

मानसिक प्रभाव

चिकित्सा कार्य में अच्छे परिज्ञान के साथ ही बड़ी सावधानी की भी आवश्यकता है, किन्तु उससे भी अधिक कठिनाई 'निदान' करने में हुआ करती है।' तदनुसार विद्वान् लेखक ने एक उपेक्षित कारण 'उदर रोगों में मानसिक प्रभाव' को स्पष्ट करते हुए साधारण चिकित्सकों को इस ओर पूर्ण ध्यान रखने के लिये बाध्य किया है। —सम्पादक।

हमारे विचार, भय, चिन्ता, क्रोध, विषाद, ग्लानि, मानसिक-संघर्ष, उथल-पुथल आदि बहुत से उदर विकारों को उत्पन्न कर सकते हैं; यह हमारे प्राचीन आयुर्वेद के विधाताओं से छिपा नहीं था। चरक में पाण्डु रोग, उदर रोग, तृष्णा रोग, अतिसार इत्यादि उदर विकारों के कारणों में काम, चिन्ता, भय, क्रोध, शोक, क्षोभ, पापकर्म आदि मानसिक कारण स्पष्ट रूप से लिखे हुए हैं।

परन्तु चिकित्सक गण इन मानसिक कारणों की प्राय उपेक्षा ही करते हैं। बहुधा जान कर भी कि, अमुक रोग मानसिक कारणों से

उत्पन्न हुआ है, चिकित्सा में मानसिक कारणों को दूर करने के साधनों को कोई स्थान नहीं देते।

यह जानना कि, किसी विकार विशेष का कारण मानसिक है या नहीं, अत्यावश्यक है। आवश्यक तो इतना है जितना किसी भी रोग के मूल कारण को समझना। फिर उसी कारण को दूर करना, यथार्थ-रूप से चिकित्सा कही जा सकती है। प्रायः रोगी के मुख से या सम्ब-न्धियों से यह सुन लिया जाता है कि, अमुक मानसिक आघात या चिन्ता आदि करने से यह अवस्था हो गई है, परन्तु चिकित्सा विधि में वैसी ही प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है, जैसा कि अन्य साधारण अवस्थाओं में।

इस सम्बन्ध में दो ही बातें यहां चिकित्सक समुदाय से निवे-दित करनी हैं। (१) तो यह कि बिल्कुल प्रत्यक्ष मानसिक आघात या चिन्ता से उत्पन्न हुए रोगों के अतिरिक्त भी बहुत सी उदररोगों की अवस्थायें मानसिक कारणों से उत्पन्न हुई होती हैं। (२) यह कि उनकी चिकित्सा मानसिक उपायों से हो सकती है, या यूं कहिये कि पूर्ण चिकित्सा केवल मानसिक उपायों से ही हो सकती है। इन्हीं दो बातों का निर्देशरूप से स्पष्टीकरण यहां दिया जा सकता है।

मानसिक कारण।

मोटे रूप में अतिसार या संग्रहणी को कभी २ चिन्ता जनित समझ लिया जाता है, जब कि रोगी या उसके निकटवर्त्ती स्वयं भी इस बात को जानते हैं और बताते भी हैं। चिकित्सक को रोगी से तथा अन्य

लोगों से अवश्य अधिक जानना चाहिये। रोग के मूल कारण को बिना क ही समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

मानसिक कारणों से न केवल छोटे-बड़े उदर रोग प्रत्युत शरीर में हर प्रकार के रोग पैदा हो सकते हैं, इस तत्व की ओर अभी भारत वर्ष में चिकित्सकों का ध्यान आकर्षित ही नहीं हुआ है। 'साइकोअनैलिसिस' जो नवीन मनोविज्ञान इस शताब्दी के आरम्भ में आविर्भूत हुआ, उसके विकास और अनुभव से चिकित्सा संसार मे एक नई क्रांति आचुकी है। मानसिक कारणों से कैसे २ उपद्रव बनते हैं और उनकी चिकित्सा सिवाय इस विज्ञान के और कुछ नहीं हैं यह यूरोप और अमेरिका के चिकित्सक समझ चुके हैं। वहां बड़े से बड़ा विशेषज्ञ अपने किसी भी रोगी को जिसे वह मानसिक कारणों का शिकार समझता हो, उसे साइकोअनैलिस्ट के पास भेज देता है। उसकी चिकि- वह स्वय नहीं करता।

यह निश्चय करना कि मानसिक कारण व्याधि के मूलभूत हैं या नहीं, कोई कठिन नहीं है। प्राय: ऐसे रोगी की मानसिक प्रगति ही भिन्न होती है। जैसे-निरर्थक भ्रम, वहम, भय, चिन्ता करते रहना, अपने स्वास्थ्य और शरीर के सम्बन्ध में अत्यधिक चिन्ता और दुर्विचार जगाए रखना, साधारण २ बातों का पहाड़ बनाते रहना इत्यादि। इसके अतिरिक्त ऐसे रोगियों के विकारों का कोप भी अकारण या व्याज मात्र से ही हो जाता है, जिससे आश्चर्य होता है कि कारण तो राई-सा और विकार पहाड़-सा। तब चिकित्सा भी इच्छित फल नहीं

दिखाती। अच्छी से अच्छी चिकित्सा करवाते हैं। भटकते फिरते हैं-पर लाभ होता नहीं या होता है तो स्थायी रूप से नहीं।

उदर रोगों में ऐसे रोगी कम नहीं प्रत्युत अधिकांश में हैं। इन की व्याधि का नाम प्राय. *Nervous dyspepsia* या *Hypochondria* दिया जाता है और इसके अन्तर्गत प्राय: सब प्रकार के उदर रोग हैं।

साइको-अनेलिसिज का अध्ययन करते हुए वियाना मे कई रोगी इस प्रकार के मेरे दृष्टि-गोचर हुए। उदाहरणार्थ मैं एक रोगी का वृत्त यहां देता हूँ, जिससे पाठकों को कुछ निर्देश मात्र मेरे विषय का पता चल जायगा।

एक युवा लड़की आयु २२ साल किसी स्कूल में पढती थी। उसका एक अध्यापक देखने में बडा सुन्दर और स्त्रियों को मोहने वाली आकृति वाला था। यह लड़की जो कि अच्छे कुल वाली साध्वी थी, मन ही मन में इसे चाहने लगी, परन्तु मनके इस झुकाव की उसने अपनी बुद्धि से अवहेलना की और उसे भुला देना चाहा। एक दिन अचानक वह अपनी एक मित्राके पासगई और वहां उसे किसी औषधि की बुरी सी गन्ध आई। पूछने पर पता चला कि पास के कमरे मे वही अध्यापक रहता है और वह उपदश रोग में ग्रस्त है। वही से यह दुर्गन्धि आ रही है।

जिस रोज यह उसने सुना उससे अगले ही रोज से इस लड़की को वमन प्रारम्भ हो गए। जो कुछ खाती निकल जाता, दो सप्ताह हो

गए किसी औषधि से लाभ न हुआ। अन्त में उसे डाक्टर स्टैकल (मेरे गुरु) के पास लाया गया। एक सप्ताह तक दैनिक एक घण्टा बातचीत करने पर तथा उसके स्वप्न सुन २ कर सारी बात समझ में आई।

उसे यह विचार तक न था कि उस दिन जो उसने उस अध्यापक के उपदंश ग्रस्त होने की बात सुनी थी उसका इस व्याधि के साथ कोई सम्बन्ध होगा। वह उस अध्यापक के विचार को भी मन में न लाना चाहती थी। केवल उसके स्वप्नों से हमें पता चला कि उस अध्यापक का उसके मन पर गहरा प्रभाव था।

जब उसे भली प्रकार से यह समझाया गया कि उसके मन में जो आकर्षण और ग्लानि उस अध्यापक के लिये है, उनका संघर्ष उसके मन में हो रहा है और उसे आकर्षण से यह अनुभव हो रहा है कि कहीं मैं उसकी न बन जाऊ और इस अनुभव के साथ ही ग्लानि आ रही है कि वह तो उपदंश ग्रस्त है। उपदंश के घावों का चित्र भी उसे स्वप्न में आया। बस, वही ग्लानि का अर्धजागृत, प्रत्युत प्रसुप्त विचार उसकी इस व्याधि का कारण था। यह बात समझ में आते ही, प्रसुप्त विचार के जागृत होते ही—यह स्थान भ्रष्ट ग्लानि अपने ठीक उद्देश्य उपयुक्त स्थान पर केन्द्रित हो गई और मानसिक संभ्रम के कारण विक्षिप्त ग्लानि का लोप हो गया। लड़की की व्याधि इस ज्ञान के पाते ही दूर हो गई।

मुझे यहां भी अपने चिकित्सा कार्य में नित्य अनेकों रोगी इसी प्रकार के दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। कोई खाहमखाह डकार मारता फिरता है, कोई केवल फलाहार ही करता है, कोई सदा से ही कब्ज में ग्रस्त है, कोई विचित्र २ परहेज करते हैं, कइयों ने अजीव २ वस्तुऐं खाने की आदत डाली होती है इत्यादि।

चिकित्सा–

यह समझना भूल है कि ऐसे रोगों की चिकित्सा औषधों से हो सकती है। चरक में स्पष्ट लिखा है—

'मानसो ज्ञान–विज्ञान–धैर्य–स्मृति–समाधिभि: ।'

मानस रोग नष्ट करने के लिये 'साइकोअनैलिसस' ज्ञान, स्मृति, धैर्य इत्यादि का आश्रय लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी व्याधियों में वातादि दोष कुपित हुए होते हैं, परन्तु उनका शमन केवल अस्थायी रूप से ही लाभ कर सकता है। मूल-भूत कारण के बने रहने से फिर व्याधि आक्रमण करती है। यही कारण है कि ऐसे रोगियों को लाभ नहीं होता।

चिकित्सकों को 'साइको-अनैलिसिस' का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। फिर वे देखेंगे कि वे चिकित्सा क्षेत्र में जनता का कितना लाभ कर सकते हैं? परन्तु इस विज्ञान का अध्ययन करने के विना भी उन्हें चाहिये कि ऐसे रोगियों को मोटे रूप में यह बातें समझाएं और उन्हें औषधियों का आश्रय छोड़ कर वहम त्याग कर मनोबल से अपने आपको ठीक करने का उपदेश दें।

अजीर्ण पर चरकोपदेश

(CHARAK ON DYSPEPSIA)

(ले०—आचार्य श्रीसुरेन्द्र मोहन जी, बी० ए०)

अजीर्ण बहुत सी व्याधियों का मूल कारण है। इससे अर्श, अम्लपित्त, अतिसार, ग्रहणी, आमवात, प्रमेह, शिरःशूलादि रोग प्रादुर्भूत होते हैं। चरक महर्षि ने अजीर्ण के लक्षण यों लिखे हैं:—

तस्य लिंगमजीर्णस्य, विष्टम्भोऽङ्ग' च सीदति ।
शिरसो रुक् च मूर्च्छा च, भ्रमः पृष्ठकटिग्रह' ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च, ज्वरश्छर्दि. प्रवाहणम् ।
अरोचकोऽविपाकश्च, घोरमन्नविषं च तत् ॥

(च० चि० अ० १५)

अजीर्ण के लक्षण यह हैं—विष्टम्भ (कब्ज वा मलस्तम्भ) अङ्गसाद (शरीर में सुस्ती, Lassitude शिरोव्यथा (Headache), मूर्च्छा (Fainting), भ्रम (चक्कर आना, Giddiness), पीठ और कमर का जकड़ा रहना वा वेदना होना, (Pain in the back and lions), जृम्भा (Yawning), अङ्गमर्द (अङ्गों में दर्द, Muscular cramps), तृष्णा (पिपासा), ज्वर (Rise of temperature), छर्दि (वान्ति, Vomiting), प्रवाहण (प्रवाहिका, Dysentry), अरोचक (अन्न में अरुचि—Anorexia), अविपाक (अन्न का न पचना Indigestion)—यह अजीर्ण एक घोर अन्नविष है।

दोषसम्पर्क से लक्षण भेद।

संसृज्यमानं पित्तेन, दाहं तृष्णां मुखामयान्।
जनयत्यम्लपित्तं च, पित्तजांश्चापरान्गदान्॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन्कफजान्कफसंगतेः।
करोति वातसंसृष्टं, वातजांश्च गदान् बहून्॥
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं, कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्।
रसादिभिश्च संसृष्टं, कुर्याद्रोगान्रसादिजान्॥
(च० चि० अ० १५)

यदि यह अन्न-विष पित्त से युक्त हो जाता है, तो दाह, तृष्णा, मुखामय (मुख के छाले—Stomatitis) अम्लपित्त (Hyper Acidity) और अन्य पित्त-रोग उत्पन्न करता है। कफ के संयोग से राजयक्ष्मा पीनस (नज़ला, जुकाम प्रमेह (Urinary diseases) आदि कफज रोग उत्पन्न होते हैं और वायु के संग से बहुत से वायु रोग प्रादुर्भूत होते हैं। यदि यह अन्न-विष मूत्र से मिल जावे, तो मूत्र रोग, मल के साथ मिलने से कुक्षि-रोग (उदर रोग, Abdominal Diseases), रस, रक्तादि धातुगत होने से रस विकार, रक्त-विकार, मांस विकार, मेदोविकार आदि सप्त धातु-रोग तथा सप्त उपधातु विकार उत्पन्न होते हैं।

चरक को ध्यान से पढ़िये।

चरक के उपर्युक्त साधारण वचन न समझें। इनको पुनः २ ध्यान पूर्वक पढ़ें और चिकित्सा करते समय प्रयोग में लावें, तो रोग निदान (Diagnosis) में बहुत सहायता मिलेगी। मनुष्य का मुख

(Mouth) वस्तुतः शरीर का प्रधान द्वार (Gate) है। किसी ने यथोचित कहा है, "Mouth is the gateway of the body"—जैसे द्वार के भीतर यदि सज्जन पुरुष प्रवेश करें, तो आपके गृह में कल्याण, शान्ति, हर्ष और मंगल का उदय होगा। यदि दुष्ट पुरुष आजावें, तो कलह, चोरी, मारपीट और मृत्यु तक का भय हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को चाहिये, कि जो वस्तु खाये, उसे अच्छी प्रकार देखकर खाए, हिताहित का विचार करे, हाथ धोकर खाये, आदि २। यदि अहितकर आहार करेगा, तो अजीर्ण रूपी उपद्रव होने से नानाविध रोग उत्पन्न होंगे, जिनका वर्णन ऊपर चरक ने किया है। यहां 'अजीर्ण' का अर्थ केवल यह नहीं कि अधिक अन्न खा लेने से उसका न पचना या जीर्ण न होना। 'न जीर्णमजीर्णम्'–जीर्ण न होना, चाहे अन्न थोड़ा हो या बहुत, हित हो या अहित। कुछ लोग मूङ्ग की दाल खाकर भी, जो सर्वथा हित है, अजीर्ण की शंका करते रहते हैं। इस अजीर्ण को चरक ने अन्नविष कह कर अत्यन्त बुद्धिमत्ता का प्रकाश किया है। फिर उसे घोर विष (Fatal Poison) माना है—"घोरमन्नविष च तत्"–यह वाक्य स्मरणीय है। इसी अन्नविष को पश्चिमी विद्वानों ने Ptomaine Poisoning (टोमेन प्वायज़निंग) नाम दिया है, दूसरा नाम जो पीछे प्रचलित हुआ है, Bacterial Food Poisoning है। इस पर बड़े २ अध्याय पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थों में मिलते हैं। इसका लक्षण पढ़िये:—

"This is the form of poisoning caused by the contamination of food with certain forms of bacteria and the resulting symptoms are

caused by the toxic substances, produced in the food by its bacterial contamination, and there may also be an actual bacterial infection, should the organism not be killed in the process of cooking Since bacterial contamination finds a most suitable culture medium in foods rich in protien, this type of food poisoning usually follows the consumption of meat, fish or milk, specially meat."

By W. H Willcox (Practice of Medicine by Price.)

अर्थात्:-यह वह विष है, जो नानाविध जीवाणुओं द्वारा आहार दुष्टि से उत्पन्न होता है। इसके लक्षण उन विषैले द्रव्यों से प्रादुर्भूत होते हैं, जो इन जीवाणुओं द्वारा दुष्ट आहार में जन्म लेते हैं, और हो सकता है, कि यदि वह जीवाणु आहार के पकते समय नष्ट न हों, तो उन जीवाणुओं द्वारा संक्रम उत्पन्न हो जावे। यह जीवाणुकृत दुष्टि प्राय: प्रोटीन-युक्त आहार में होती है, इसके लक्षण बहुधा मांस, मत्स्य वा दुग्ध-विशेषत. मांस के प्रयोग के अनन्तर ही उत्पन्न हुआ करते हैं।

"It was formerly thought that food poisoning was caused by the presence in food of poisonous alkaloidal substances, called ptomaines, produced by putrefective changes."　　(Ibid.)

पहले यह विचार किया जाता था, कि आहार-जनित विष का कारण यह विषैले क्षारोद (वा क्षारीय) द्रव्य थे, जो टोमेन (Ptomaine) कहलाते थे और जिनकी उत्पत्ति सड़ांद (पूति) जनक परिवर्तनों से होती थी।

विचारणीय विषय ।

उपर्युक्त उद्धरणों से विदित होगा, कि प्राचीन एलोपैथिक डाक्टरों का मत अन्नविष सम्बन्धी वही था, जो हमारे ऋषियों का था, अर्थात् अन्न में विकृतियों (सड़ांद-जन्य परिवर्तनो) के कारण ही अन्नविष की उत्पत्ति होती थी, परन्तु पीछे जब जीवाणुवाद चला, तो उस अन्न विकृति का मुख्य कारण जीवाणुकृतदुष्टि (Bacterial Contamination) माना गया। एवं (Ptomaine Poisoning) नामक संज्ञा (Bacterial food poisoning) में बदल गई। इन मतों (Theories) में अधिक न जाते हुए अब हम आगे चलते हैं।

नानाविधि विष जो दूपित आहार से उत्पन्न होते हैं, वह अनेक रोग उत्पन्न करते हैं, यथा-ज्वर, प्रवाहिका, विशूचिका आदि २, जिनको चरक ऋषि ने अच्छी प्रकार पूर्व कथित श्लोकों में वर्णित किया है।

जो कृमि वा कीटाणु (Bacteria) इस सम्बन्ध में मिले हैं, वह प्राय: यह हैं :—

Bacillus Paratyphosus A & B, Bacillus asiaticus, the Bacillus of epidemic jaundice (B. E. J.). Bacillus dysenterioe morgan. B. foecalis alkaligenes, etc., etc.

मलादि की परीक्षा से भी इन कीटाणुओं का साक्षात्कार हो सकता है, जो पुन: चिकित्सा में सहायता देता है।

इन कीटाणुओं का दुष्ट दुग्ध, मांस, फल, शाकादि द्वारा होता है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। बड़े २ नगरों में मलमूत्रयुक्त

उदररोग-हर

आंवला
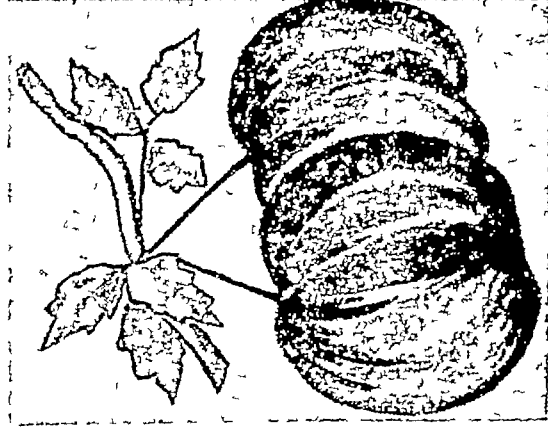
टमाटर

जल (नालियों द्वारा क्षेत्रों में प्रवाहित किया जाता है, और तज्जन्य फल, शाक (खीरे, गोभी, पालकादि) लोगों को खाने के लिये मिलते हैं। यह प्रायः दूषित होने से अनेक रोग (प्रवाहिका, शूल, विशूचिकादि) उत्पन्न करते हैं। लाहौर की गोभी, जिसे प्रायः मोरी की गोभी कहते हैं, वस्तुतः भक्षणयोग्य नहीं। यदि सुपाचित (Well-cooked) न हो, तो अवश्य उदरशूल, प्रवाहिकादि करेगी।

आजकल कच्चे टोमैटो (टमाटर-Tomato) खाने का बहुत प्रचार हो रहा है, विशेषतः ग्रीष्म ऋतु में, क्योंकि हमारे एलोपैथिक बन्धु उनमें विटामिन (Vitamin) होने का उपदेश करते हैं। बड़े २ नगरों में टमाटर को प्रायः मलिन जल (मोरी के पानी) से उत्पन्न किया जाता है, और मेरे विचार में लाहौर आदि नगरों में मन्थर ज्वर (Typhoid Fever) का अधिक फैलना टोमैटो के अधिक और कच्चा खाने का परिणाम है, पका खाने में कोई भय नहीं।

बच्चों को अन्नविष का संक्रम शीघ्र और अधिक होता है। कच्चा खट्टा वा ठण्डा दुग्ध; अशुद्ध पात्र (बोतलादि) मक्षिका-दूषित अन्न, मोदक, फलादि देने से उन्हें अतिसार (Diarrhoea), प्रवाहिका (Dysentry), वमन (Vomiting), ज्वरादि अनेक व्याधियां हो जाती हैं, जो कभी २ वा प्रायः उनका अन्त कर देती हैं।

इस मिथ्याहार से बाल, युवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष कष्ट उठाते हैं और इसीलिए ऋषियों ने मिथ्याहार' को प्रायः सब रोगों का कारण माना है यथा :—

सर्वेषामेव रोगाणां, निदानं कुपिता मलाः ।
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं, विविधाहितसेवनम् ॥
मिथ्याहारविहाराभ्यां, दोषाह्यामाशयाश्रयाः ।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं, ज्वरदाः स्यूरसानुगाः । ५
(मा० नि०)

यह अतिप्रसिद्ध श्लोक हैं, जिन्हें प्रत्येक वैद्य जानता है। व्याख्या अनावश्यक है। यहां 'विविधाहितसेवनं' और 'मिथ्याहारविहाराभ्यां,' 'दोषाह्यामाशयाश्रयाः' वचन मेरे उपरिकथित भाव के समर्थक हैं। विहार (Individual movements) भी रोग का कारण है, परन्तु यह मेरा विषय नहीं।

पुनः चरक ने इसी विषय को विमान-स्थान अ० २ में बहुत स्पष्ट किया है, जहां उसने विशूचिका (हैजा) और अलसक (गुम हैजा) का वर्णन किया है। 'आम प्रदोष' के कारण वर्णन करते हुये लिखा है :—

'न खलु केवलमतिमात्रमेवाहारराशिमामप्रदोषकरमिच्छन्ति, अपितु खलु गुरुरूक्षशीतशुष्कद्विष्टविष्टम्भिविदाह्यशुचिविरुद्धानामकाले चान्नपानानामुपसेवनम्।'
(च० वि० अ० २)

अर्थात् यहां आम प्रदोष के कारणों में शीत, विदाही, अशुचि (अपवित्र, मलिन, Impure unclean, contaminated), विरुद्धादि शब्दों पर पाठकों को ध्यान देना चाहिये। फिर आगे चल कर आप कहते हैं :—

"विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजः, विषसदृशलिङ्गत्वात्।"

तत् परमसाध्यमाशुकारित्वात् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥
(च० वि० अ० २)

यहां चरक ने आम दोष को 'आम विष' कहा है, क्योंकि यह विष (Poison) के समान है। यह वही वस्तु है, जिसे पाश्चात्यों ने Ptomaine Poison नाम दिया है। इसे Autotoxin भी कह सकते हैं, अर्थात् स्वजात विष (Toxin), जो स्वयं आहार दुष्टि से शरीर के भीतर उत्पन्न हो जाते हैं। पुनः चरक ने उसे परम् असाध्य (Incurable) माना है, क्योंकि यह आशुकारी है, (शीघ्र फैलने वाली वा शीघ्र प्रभाव करने वाली महामारी की तरह), इसी आशुकारी भाव को प्राईस (Price) महोदय यों लिखते हैं :—

"Diagnosis—The Diagnosis is usually clear from the sudden onset of typical symptoms a short period after taking the contaminated food" (Price)

दूषित आहार खाने के शीघ्र ही अनन्तर विशेष लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है, जैसे हैजे मे Sudden onset का भाव 'आशुकारी' है। यह बात दारुण (Acute) दशा की जानें, परन्तु मृदु अवस्था (Mild cases) में लक्षण भी मृदु होंगे। यह सब बुद्धिमान् समझते हैं।

मेरे विचार में अन्न-विष और आम प्रदोष चरक ऋषि ने एकार्थवाचक शब्द माने हैं। आमविष को अजीर्ण का उग्ररूप (Acute) जानना चाहिये, न कि साधारण वा मृदु (Mild) 'आमाजीर्ण' और 'आमप्रदोष' को एक समझना भूल होगी।

अजीर्ण-निदान पर अधिक प्रकाश न डालते हुए अब हम चिकित्सा पर कुछ संक्षिप्त विचार प्रगट करके विषय को समाप्त करते हैं।

अजीर्ण चिकित्सा पर चरक महर्षि ने कुछ अपूर्व बातें कही हैं, जिन का हम क्रमशः उल्लेख करेंगे।

(१) अजीर्ण और लंघन-

कुछ लोग इस भ्रांति में हैं, कि अजीर्ण में जितना लङ्घन वा उपवास (Fasting) किया जावे उतना अधिक लाभ होता है, क्षुधा बढ़ती है, और जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह ठीक है कि अजीर्ण को कभी १ सप्ताह में एक बार व्रत (Fast) रख लेने से अवश्य लाभ होता है। आमाशय, क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र आदि पाचन सम्बन्धी यन्त्रों को विश्राम मिलता है, अग्नि प्रदीप्त होती है और पूर्व भक्षित अन्नदोष पक कर शरीर से बाहर मल मूत्रादि के आकार में निकल आते हैं। देह में लघुता उत्पन्न होती है, परन्तु क्षीण शरीर वाले रोगियों को अधिक लंघन करना हितकर नहीं।

पुनः कुछ लोग अजीर्ण होने पर भी अतिशय आहार करते रहते हैं और समझते है कि यह पच जावेगा। लंघन करेंगे तो दुर्बल हो जावेंगे आदि २। यह विचार (View-Point) भी ठीक नहीं अतः चरक ऋषि कहते हैं,—

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात्।

(च० चि० अ० १५)

अर्थात् कायाग्नि वा जठराग्नि अभोजन (लंघन, उपवास वा व्रतों) से प्रदीप्त नहीं होती और न अतिभोजन (बहुत खाने) से, "Neither too much fasting nor excessive feeding will help the digestion"

यह चरकोक्ति वैद्यों के सदैव कण्ठगत रहनी चाहिये और अजीर्णियों को उनकी अवस्था वा स्वभावानुसार यह परामर्श देना चाहिये। इसको ऋषि एक दृष्टांत से यों विशद करते हैं —

यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वातीन्धनावृतः।

जैसे ईंधन (Feul firewood) के बिना अग्नि शान्त हो जाती है, इसीप्रकार उपयुक्त आहार के बिना जठराग्नि भी कार्यहीन होकर बुझ जाती है। अति ईंधन से अल्प अग्नि भी नष्ट हो जाती है। अल्प अग्नि पर थोड़ी २ लकड़ी डालने से अग्नि प्रचण्ड होकर जलने लगती है, परन्तु एक बार अतिशय काष्ठ पड़नेसे अल्प अग्नि बुझ ही जाती है।

(२) अजीर्ण में औषध प्रयोग

चक्रदत्त, शार्ङ्गधरादि में अनेक प्रकार के चूर्ण, आसवारिष्टादि औषध अजीर्ण शमनार्थ हमें मिलते हैं, परन्तु उनका मूल मन्त्र चरक के वचनों में यों मिलता है:—

स्नेहान्नविधिभिश्चित्रैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः ।
प्रयुक्तैर्भिषजा सम्यग्बलमग्नेः प्रवर्धते ॥

(च० चि० अ० १५)

वैद्य के उपदेशानुसार स्नेह (घृतादि), नाना रूप अन्न, चूर्ण, अरिष्ट, सुरा, आसव आदि के सम्यक् प्रयोग से अग्नि बल बढ़ता है। अतिशय घृत का प्रयोग ठीक नहीं, परन्तु उत्तम गोघृत थोड़ी मात्रा में लेने से अग्नि को बढ़ाता है। एवं भिन्न २ अन्न, शाक, मूलकन्द फलादि का उचित प्रयोग भी हितकर सिद्ध होता है, यह सभी वैद्य जानते हैं। पुनः लवणभास्कर, हिंग्वाष्टक, हिंग्वादि चूर्ण, द्राक्षासव, द्राक्षारिष्ट, कुमार्यासव प्रभृति प्रसिद्ध औषध समूह का हम अजीर्ण में प्रयोग कराते हैं। इन सब चूर्णों में प्रायः अम्ल, लवण, और कटु तीन रस प्रधान हुआ करते हैं। यह तीनों रस अग्नि वर्धक हैं। तिक्त (Bitter) रस भी वर्धक और क्षुद्बोधक है, यथा:—

"तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुररोचकघ्नो दीपनः पाचनः"
(च० सू० अ० २६)

अर्थात् तिक्त रस स्वयं अरुचिकर होता हुआ भी, अरुचिनाशक और दीपन पाचन है। यदि आप २-३ रत्ती सुदर्शन चूर्ण खालें तो कुछ देर के पश्चात् शुद्ध उद्गार होकर क्षुधा होने लगती है, अजीर्ण वा आम-दोष के कारण जो अरुचि होती है, वह दूर हो जाती है। शरीर लघु प्रतीत होता है। इस भाव को दृष्टि में रखते हुए पश्चिमी विद्वानों ने कुछ तिक्त द्रव्यों को Bitter Tonic की संज्ञा दी है। वह Quinine, Gentian आदि कई पदार्थों को अजीर्ण नाशक मिश्रणों (Carminative mixtures) में डालते हैं। इसी भाव से चरक महर्षि ने अग्निमांद्याधिकार (च० चि० अ० १५) में जहां मरिचादि वा नागरादि चूर्ण (कटु, अम्ल और लवण युक्त मिश्रणों) का आदेश किया है, वहां उन्होंने भूनिम्बादि वा किरा-

नादि चूर्ण (चिरायता, कुटकी, मुस्तक, इन्द्रयव, पाठादि तिक्त द्रव्ययुक्त) का भी विधान किया है। यह तिक्त मिश्रण यद्यपि खाने में कुछ अरोचक से प्रतीत होते हैं, परन्तु अन्तमें इनका प्रभाव शुभ वा हितकर होता है। अग्नितुण्डी रस में कुचला (Nux vomica) भी इसी हेतु से पड़ता है। कुमार्यासव में कुमारी रस वा कई अन्य तिक्त द्रव्य पड़ते है। एवं चंद्रप्रभा वटी मे चिरायता, शिलाजीत, गुग्गुल आदि तिक्त पदार्थ डाले जाते हैं। यह सब अग्निबोधक और स्वास्थ्यप्रद द्रव्य रसायन (Restorative) का कार्य करते हैं। "चिकित्सिते चरक"–यह प्रसिद्ध उक्ति सर्वांश में सत्य प्रतीत होगी, यदि चरक को ध्यान से पढ़ा जावे। संसार का कल्याण चरक को विशुद्ध रूपमें समझने पर ही होगा। आयु० सन्देश।

ले०—श्री० पं० मनोहरलाल जी वैद्य
प्रधानाध्यापक—अनवारीलाल
आयुर्वेदिक विद्यालय, देहली।

विज्ञ, अनुभवी और वयोवृद्ध लेखक ने अपने सनातन-अनुभव के आधार पर कतिपय उदररोगों पर उत्तमोत्तम प्रयोग प्रगट किये हैं। सचमुच जनता इन अनुपम प्रयोग-रत्नों से अवश्य लाभ उठायगी।

—संपादक।

आयुर्वेद ने सब रोगों की उत्पत्ति का स्थान उदर ही माना है।

यथोक्तम्—रोगाः सर्वेऽपि मन्देग्नौ, सुतरामुदराणि च।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसंचयात्॥

तन्त्रान्तरे—अतिसंचित-दोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्।
उदराण्युजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः॥

उदर रोग ८ प्रकार के हैं, वातादि दोषों द्वारा पृथक् २ तीन, सन्निपातसे चौथा, प्लीहोदर, बद्धोदर, क्षतोदर, और जलोदर। उदररोगों का सामान्य लक्षण यह माना है :—

यथाचोक्तम्—आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता।
शोथः सदनमङ्गानां, सङ्गो वातपुरीषयोः॥
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु, जठरेषु भवन्ति हि॥

उदर रोग प्रायः आरम्भ से ही कष्ट-साध्य हैं, जो उदर बलवान्

पुरुष का है, अजाताम्बु है और नवीन है, वह यत्न-साध्य है। आठ प्रकारके उदररोगो मे आदि के तीन साध्य हैं, शेष सन्निपातोदरादि कष्ट साध्य माने हैं, जलोदर असाध्य तथा शस्त्रसाध्य है।

उदररोगों की चिकित्सा-

उदररोग वालों को प्राय: रेचन औषध बल, काल विचार कर नित्य देना चाहिये। दोषों के निकलने से ही उदररोग शांत होते हैं।

उक्तंहि—दोषातिमात्रोपचयात्, स्रोतोमार्ग-निरोधनात्।
सम्भवन्त्युदरं तस्मान्नित्यमेनं विरेचयेत्॥

विरेचन होने पर उदर रिक्त हो जाता है अत: उदर को ४ अंगुल चौड़ी पट्टी से ४ लपेट देकर पिन लगा कर बांध दें। जिससे वायु खाली पेट को पुनः न फुला दे।

यथाचोक्तम्—हृते दोषे परिम्लानं, वेष्टयेद् वाससोदरम्।
तथास्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाध्मापयेत्पुनः॥

वातोदरी को-

स्नेह, स्वेद कराकर पश्चात् स्निग्धरेचन दें और निम्न-लिखित चूर्ण गोघृत में मिला कर भोजन के समय ग्रास के साथ सेवन करावें।

२८—सामुद्र नमक काला नमक सेंधा नमक
यवक्षार अजवायन वायविडङ्ग पीपल
चित्रक मूल त्वक् सोंठ हींग (घी में भुनी)

—यह सर्व औषध समान भाग ले, कपड़ छान कर पूर्वोक्त विधि से

सेवन करें, अतिलाभप्रद है। यह प्रयोग वृन्द-माधव ग्रन्थ का बहुशः अनुभूत है।

प्लीहोदर पर योग-

२९-सेंधा नमक हल्दी राई तीनों २०—२० तोला
—लेकर भिगो दें। ५ सेर गोतक्र में मिट्टी के पात्र में ३ दिन मुख वन्द कर रखा रहने दें।

३०—शङ्खनाभि की भस्म, जंभीरी नीबू के रस में पीस कर ३-३ माशे प्रातः एवं सायंकाल पीवें। यह प्लीहा को शांत करता है।

प्लीहा रोग पर-वज्रक्षार योग भी विशेप लाभप्रद है।

३१-समुद्रशुक्ति की भस्म, यवक्षार, सेंधानमक चूर्ण कर; गोदधि के साथ प्रयोग करने से सर्व उदररोग शांत होते हैं। यह वृन्द-माधव का विशेप गुणकारी प्रयोग है।

जलोदरघ्नी वटी-

३२-पीपल १ तोला स्नुहीक्षीर ५ तोला
में खरल करें, जब शुष्क होजाय, तब चने प्रमाण वटी बनाकर छाया में सुखालें। गोदुग्ध के साथ दो वटी प्रातः, दो रात्रि को सोते समय सेवन करावें। जल नमक का परहेज करावें। जब बुभुक्षा हो तथा तृपा हो, तब दुग्ध ही दें। १५ रोज सेवन से जलो-दर शांत हो जाता है।

नोट-यदि बालक १० वर्ष तक का हो तो १-१ गोली दोनों समय दूध के साथ दें। यह प्रयोग अनेक वार का परीक्षित है। दस्त होने से जलोदर

शान्त होता है। जलोदर में उष्ट्रीक्षीर परम भेषज है।

जलोदर पर - (नाराचरस)

३३-सुहागा भुना　　मिरच स्याह　　शुद्ध पारद
शुद्ध गन्धक　　पीपल　　सोंठ　　समभाग लें।

सबके समान शुद्ध जयपाल लें। दो रत्ती मात्र गर्म गोदुग्ध से सेवन करें। नित्य रेचन होने से जलोदर शांत हो जाता है। बलाबल देख कर प्रयोग करें।

पथ्यम्-दोषैः कुक्षौ हि सम्पूर्णे, वह्निर्मन्दत्वमृच्छति ।
तस्माद्भोज्यानि योज्यानि, दीपनानि लघूनि च ॥
शालिषष्टिकगोधूमयवनीवारभोजनम् ।
विरेकास्थापनं श्रेष्ठम्, सर्वेषु जठरेषु च ॥

अपथ्य—अम्बुपानं दिवास्वापं, गुर्वभिष्यन्दिभोजनम् ।
व्यायामं चाध्वयानं च, जठरी परिवर्जयेत् ॥

जलोदर में-जलपान वर्जित है, अन्न भी न सेवन करें। उक्तं हि, जलोदरे विशेषेण द्रवसेवां विवर्जयेत् ।

अतिसार में-

प्रथम पक्वापक्व का विज्ञान कर चिकित्सा करनी चाहिये।

उक्तं हि-

आमपक्वक्रमं हित्वा, नातिसारे क्रिया यतः ।
अतः सर्वातिसारेषु, ज्ञेयं पक्वामलक्षणम् ॥

आम युक्त मल, स्निग्ध, दुर्गन्धि युक्त, साटोप, वेदना युक्त वार २

होता है। जल में डालने से डूब जाता है। पक्वमल इन लक्षणों से विपरीत होता है।

आमातिसार में-

प्रथम लंघन तथा पाचन औषध सेवन करावें; पश्चात् द्रव, लघु भोजन देवें अर्थात मूङ्ग या मसूर का जल उसमें लवण, धनिया सोंठ, कालीमिर्च डालकर पिलावें। उक्तञ्च-

आमे विलङ्घनं शस्तमादौ पाचनमेव च।
कार्यञ्चान्नशनस्यान्ते, प्रद्रव लघुभोजनम्॥

अतिसार में वृहद्गङ्गाधर चूर्ण अथवा वृहन्नायिका चूर्ण अति लाभप्रद है।

ग्रहणी--

ग्रहणीमाश्रिते दोषमजीर्णवदुपाचरेत्।
अतिसारोक्तविधिना, तस्यामं च विपाचयेत्॥

ग्रहणी पर पञ्चामृत पर्पटी योग गो-दुग्ध के साथ निम्न प्रकार कल्प विधान से देना विशेष हितकर है।

मात्रा--१ मास तक १-१ रत्ती वृद्धि करे पुन: इसी क्रम से १-१ रत्ती घटावें, इसी प्रकार दुग्ध की वृद्धि क्षय करें। ५० दिन के प्रयोग से आशातीत लाभ होता है।

अग्निमांद्य रोग में-

वड़वानल चूर्ण (शार्ङ्गधरोक्त) ४-४ माशे प्रातः सायंकाल गोतक्र के साथ सेवन करें। जब तक सेवन करें- तब-

३४—जीरा भुना काला नमक मिर्च स्याह अनार दाना
दालचीनी इलायची बड़ी के दाने —प्रत्येक १-१ तोला
—इन सबका चूर्ण कर थोड़ा सा तक्र में घोल कर पीवें।

शूल रोग में—

३५—हरड़ का बक्कल सोंठ मिर्च पीपल
हींग घी में भुनी शुद्ध कुचला सेंधा नमक
काला नमक यवक्षार नवसादर का जौहर (उड़ा हुआ)
—समभाग लेकर नीबू के रस में चने प्रमाण वटी बनालें, प्रात: सायं
२-२ वटी गर्म जल से, बालक को १-१ वटी सेवन करावें।
परहेज—दाल का है। भोजन खिचड़ी, दलिया, दूध का सेवन करे।

चिकित्सको सावधान !

जठर दाह

लें०—श्री० पं० कृष्णप्रसादजी त्रिवेदी B A आयुर्वेदाचार्य,
ब्रह्मांड घाट (मथुरा)

उदर-रोगों में 'जठर-दाह' अपना निराला ही स्थान रखता है। इसके परीक्षण में अच्छे-अच्छे अनुभवी-चिकित्सक भी चकरा जाते हैं। लेखक ने 'भ्रम के उन स्थलों को' स्पष्ट करते हुए इस रोग सम्बन्धी महत्व-पूर्ण निदान, लक्षण और चिकित्सा का गम्भीर वर्णन किया है। पाठक इस आवश्यक लेख से अवश्य लाभ उठावेंगे।

—सम्पादक।

जठर या आमाशय में दाह किसी तीव्र, अग्नि उत्पन्न करने वाले विषैले पदार्थों के जाने से होता है, अथवा विशेष गरिष्ठ पदार्थों के सेवन से, या अपक्व फल या सड़ा हुआ कृमि-दूषित फल, साग, दूध, दही, मांस, मछली आदि के सेवन से जठरदाह होता है। दूध पीने वाले बच्चों को यह रोग विकृत दूध के पीने से होता है।

लक्षण-

उदर पर हाथ फेरने से या स्वयं भी अत्यन्त वेदना होती है, चीकट रक्त मिश्रित वमन होती है, और अत्यन्त शक्ति-पात होता है। यदि तेजाब, सोमल, रस कपूर आदि दाहक पदार्थों के पेट में जाने से जठर-दाह होवे तो उक्त लक्षणों की तीव्रता होकर शीघ्र ही मृत्यु होजाती है।

यदि इसका कारण कोई तीव्र विष न हो तो उदर जड़ मालूम देता है, अन्दर सुचिवत् (सुई टोंचने जैसी) वेदना होती है, उदर पर हाथ फेरने से या कुछ खाने से यह वेदना अधिक हो जाती है। फिर जी मितलाता है, शुष्क वमन होती है, जो कुछ खाया जाता है वह वमन द्वारा बाहर निकल
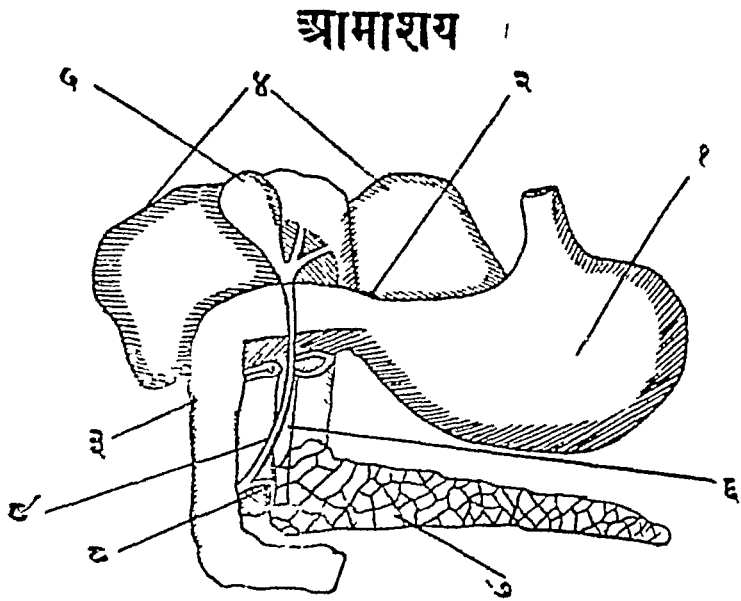
आमाशय

(१) आमाशय

(२) आमाशय-द्वार, जो भोजन को आमाशय से बाहर ले जाता है।

(३) नली (इसकी लम्बाई १० अंगुल है)।

(४) कलेजा

(५) पित्ताशय, जिसमें पित्त इकट्ठा होता है।

(६) खून की बड़ी नली है, जिससे हृदय के नीचे वाले भाग में साफ खून जाता है।

(७) कफाशय

(८) कफाशय से भोजन के द्रव में रस मिलाने वाली नली।

(९) पित्ताशय की नली, जिससे पित्त भोजन में पहुँचता है।

पड़ता है। वमन में प्रथम अन्न के कुछ कण रहते हैं, पश्चात् केवल जल के सदृश या झागदार, पित्त मिश्रित कै होती है। यह कै यहाँ तक खट्टी (अम्ल) होती है कि रोगी के तमाम दांत खट्टे हो जाते हैं। रोगी सुस्त या बेहोश सा हो जाता है। सिरदर्द, अरुचि, तृष्णा, जिह्वा पर घना-मैल, मुख दुर्गन्धि, किंचित् ज्वर, नाड़ी तीव्र गति आदि लक्षण होते हैं। यदि रोग का कारण सड़ा हुआ अन्नादि हो तो अतिसार की अधिकता होती है।

शिशु या दुग्ध पान करने वाले बालकों का उदर इस दाह के कारण तन जाता है, असह्य पीड़ा होती है। बच्चा अपने दुःख को कम करने के हेतु से पैरों को ऊपर उठा कर चीख मारकर रोता है, हाथों को इधर उधर फेंकता है। दूध पिलाने पर नहीं पीता या एक दम पी जाता है और तत्काल कै कर देता है। यदि ठीक २ निदान और चिकित्सा न हुई तो रो-रोकर कृश हो जाता है एवं काल के गाल में चला जाता है।

बड़े मनुष्य का यह रोग ठीक-ठीक उपचार से एक या दो सप्ताह में दूर हो जाता है। किंतु यदि इसकी समूल शांति न हुई तो यह बार २ होकर, जीर्ण जठरदाह में परिणत होकर, जठर की अन्तस्त्वचा पर फुंसियां, लाली, सूक्ष्म व्रण कर देता है तथा जाठर रस की उत्पत्ति कम होकर, चीकट स्राव अधिक होने लगता है। विषम-ज्वर के लक्षण होते हैं, शरीर पर लाल गुलाबी दाग या धब्बे, तथा गले पर फुंसियां होती हैं। अन्त्रपुच्छ दाह (अपेंडिसायटिस) की शंका होती है। किन्तु ध्यान रहे अन्त्रपुच्छ दाह की वेदना दाहिने वंक्षण के ऊपरी भाग में होती है और यह वेदना उदर में चारों ओर होती है।

उपचार -

रोगी को अन्न या आहार बिल्कुल न दिया जाय। जब लक्षण कुछ सौम्य हों, या रोग की कुछ शांति हो, तब अल्प प्रमाण में गोदुग्ध दिया जावे। यदि शीघ्र रोग की शांति न हो तो गुदा द्वारा, शरीर पोषणार्थ दुग्ध

की वस्ति दी जावे। तृष्णा के शमनार्थ बर्फ का टुकड़ा मुख में धरा जावे, या बर्फ मिश्रित सोडावाटर पिलाया जावे। उदरवेदना शमनार्थ बोतलों में उष्णोदक भर कर सेका जावे। यदि वेदना असह्य हो तो सूक्ष्म प्रमाण में अफ़ीम मिश्रित औषध देवे, जिससे वमन भी शांत हो।

ऐसी अवस्था में आयुर्वेदोक्त 'शतावरी–मण्डूर' (देखो भैषज्यरत्नावली, शूलाधिकार में) मात्रा—४-४ रत्ती दिन में ३ बार, जीरा या सौंफ़ के जल के साथ, देने से शीघ्र लाभ होता है। पाश्चात्य डाक्टर ऐसी अवस्था में प्रायः बिस्मथकार्बोनेट, और अमोनिया सेट्रेट अथवा पोटाश सैट्रेट, एक या दो बून्द आयोडीन टिंक्चर मिलाकर दिया करते हैं।

मल शुद्धि के लिये वस्ति देवे, अथवा मधुर विरेचन चूर्ण (सौंफ, मुलेठी, सनाय और मिश्री का चूर्ण) अथवा पंचसकार चूर्ण दिया जावे। किन्तु विषमज्वरादि की यदि शंका हो तो रेचक औषधि नहीं दें। दाह, पीड़ा तथा अपचन करने वाला कोई दूषित पदार्थ पेट में गया है ऐसा निश्चय होने पर वमन कारक औषधियों द्वारा वमन करावे या Stomach pump द्वारा जठर को साफ़ करें। इस जठर–दाह के कारण कभी २ जठर में विद्रधि हो जाती है, तब तो बड़ी ही कष्टसाध्य या असाध्य दशा हो जाती है।

दीर्घकालीन जाठर-दाह–

कारण—

उपर्युक्त प्रकार से प्रारम्भ हुये जठरदाह की उपेक्षा करने से, अत्यन्त चाय या काफी के पान, अपरिमित मद्यपान, अधिक मिठाई या तैल के पदार्थों का सेवन, पचने में अति गरिष्ठ (शूकरमांसादि) पदार्थों का सेवन, या मसालेदार पदार्थों का नित्य सेवन करने से उदर में दाह क्रिया कायम की हो जाती है। अथवा ठीक प्रकार से चर्वण न करते हुए आहार को तैसे ही नित्य निगलते रहने से, अनियमित भोजन, मानसिक चिंता, श्रमातिरेक, भारी दुःख या ज्वर के पश्चात् या क्षय और मूत्रपिंड (गुर्दों) की विकृति से

आई हुई अशक्ति, इन कारणों से नित्य कोष्ठवद्धता (कब्जी) होकर प्रथम अग्निमांद्य रोग होता है, तदनन्तर उसका इस जाठर-दाह में रूपान्तर हो जाता है।

लक्षण-

पेट के ऊपर पसुलियों के नीचे मध्य भाग में दबाने से पीड़ा होना, भोजन के पश्चात् उसी स्थान में या पीठ की ओर दोनों स्कंधों के बीच में असह्य वेदना होना, आमाशय, कंठ में अत्यन्त दाह या जलन होना, जी मितलाना और कभी २ के हो जाना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस दीर्घ--कालीन जठरदाह को 'परिणाम-शूल' भी कह सकते हैं।

यदि अत्यधिक मद्यपान इस रोग का मूल कारण हो तो और लक्षणों के साथ वमन की अधिकता होती है। वमन में चिकनाई विशेष होती है, रक्त थोड़ा होता है, डकारें बार २ आती हैं, उदर में आध्मान (फुलावट) होता है, तृष्णा की अधिकता, हड्डियों में से रक्त-स्राव होता है, होंठ फटते हैं, मूत्र अल्प प्रभाव में रक्त वर्ण की होती, जिसमें युरेट क्षार विशेष होता है, निद्रा ठीक नहीं आती, रोगी मन्द, उदास, चिंतातुर एवं कृश होता जाता है।

नोट-इस रोग में अग्निमांद्य रोग की शंका होती है, इसकी सुलभ पहिचान यही है कि इसमें दाह तीव्रता के साथ होता है। यह लक्षण अग्निमांद्य में नहीं होता, प्रत्युत इसके स्थान में औदासीन्य, पाण्डुता एवं अशक्ति की प्रबलता होती है, और ज्वर भी नहीं रहता। प्रस्तुत रोग में ज्वर, वमन, उदर में दाहयुक्त वेदना तथा विशिष्ट प्रकार की जिह्वा (जीभ सफेद, केवल अग्र भाग और किनारे अत्यंत लाल होकर कुछ छोटी हो जाती है) ये मुख्य परीक्षणीय लक्षण हैं।

यदि शरीर पर कोई दूषित व्रण, अर्बुदादि के अन्य लक्षण न हों तो जानना चाहिये यही रोग है। उपशयार्थ रोगी को भोजन करा, कुछ देर बाद वमन (कै) होने पर देखना चाहिये कि वह अत्यन्त श्लेष्मल, झागदार है या नहीं? उसमें अम्लताकी कमी या हैड्रोक्लोरिक एसिड का अभाव हो तो यही

रोग समझना होगा।

कभी २ किसी अन्य रोग के कारण, अन्न-नलिका में अवरोध या वक्रता उत्पन्न हो जाने से, आहार करने के बाद ही वमन होना सम्भव है, किंतु इसे जठरदाह रोग नहीं मानना चाहिये। अजीर्ण के हो जाने से, हृदय स्थान में भोजनोत्तर वेदना या पीड़ा यदि किसी को होती है, या ये ही लक्षण किंचित् परिश्रम से किसी को हों तो उसे हृच्छूल या Angina-pectoris (अजायना पेक्टोरिस) नामक रोग जानना चाहिये।

उपचार—

यह रोग शीघ्र ही दूर नहीं होता। इसमें कारणानुरूप चिकित्सा करनी चाहिये, और मूल कारण को निर्मूल करना होगा। रोगी के आहार-विहार में यथायोग्य परिवर्तन करना होगा। रोग यदि तीव्र हो तो आरम्भ में उसे केवल गो-दुग्ध पर ही रखना होगा। पचनेन्द्रिय या पाचन-क्रिया सुधार के लिये निम्नप्रकार से 'शंखवटी' बना कर सेवन करावें—

३६—तपा २ कर नीबू के रस में बार २ बुझा कर भस्म किया हुआ शंख ४ भाग, लेकर रक्खें। प्रथम शुद्ध पारा और शुद्ध गंधक १-१ भाग की कज्जली कर, उसमें—

जवाखार	सज्जीखार	सेंधा नमक	सोंठ
मिर्च	पीपल	शुद्ध बच्छनाग का महीन चूर्ण	
उत्तम लोह भस्म	वंगभस्म	घी में भुनी हुई हींग	

—प्रत्येक १-१ भाग

इमली का खार　　　　चार भाग

—मिला नीबू के रस में खूब खरल कर १-१ रत्ती की गोलियां बना दिन में तीन बार दाडिमावलेह या अनार के रस के साथ सेवन करावें।

डाक्टर लोग विसमथ क्षार, सोडा-बाइकार्ब और जेनशियन या

क्लाशिया अर्क में मिश्रित कर भोजन के पूर्व देते हैं। भोजन के पश्चात् जल मिला हीन वीर्य किया गया हाइड्रोक्लोरिक अथवा नैट्रोहैड्रोक्लोरिक एसिड देते हैं। कुचला का अर्क (स्ट्रिकनिया) भी दिया जाता है। वमनशमनार्थ-आलकली जाति की कोई औषधि (सोडाबाई कार्ब इत्यादि) और स्टारिक एसिड या सैट्रिक एसिड (नीबू सत) मिश्रण कर, तत्काल जब उसमें फेन क्रिया हो तब ही पिलाया जाता है। फिर कुछ दिनों तक हीन वीर्य हैड्रोमायनिक एसिड, सेरियम आक्सेलेट, या टिंक्चर आयोडीन (आधा बून्द से ३ बून्द तक २।। तोले जल के साथ) इनमें से कोई एक औषध, या सबका मिश्रण दिया जाता है।

शूल के शमनार्थ सेकना, प्लास्टर लगाना अथवा अफीम या मार्फिया का सेवन आदि कराना ये उपचार किये जाते हैं।

रोगी के तीव्र एवं कष्टदायक लक्षण जैसे २ कम होते जाय, वैसे २ उसका आहार (हल्का) बढ़ाता जावे। तैल या घृत, पक्व पदार्थ, मिठाई मूली, गाजर इत्यादि न दिया जाय। मलशुद्धि के लिये त्रिफला, मधुर रेचन, सोडा, सल्फेट इत्यादि सौम्य रेचक औषधियां बीच-बीच में देते रहना चाहिये।

उदर रोग-विज्ञान

दो उदररोगियों की सफल चिकित्सा

ले०—श्री० पं० चन्द्रशेखरानन्द जी बहुगुणाः प्रोफेसर—आयुर्वेदिक
तिब्बिया कालेज, दिल्ली।

किसी उदररोग के विषय में ऊहापोह करने या स्वानुभूत चिकित्सा क्रम लिखने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उदर के सम्बन्ध में सामान्य-ज्ञान कर लिया जाय।

उदर क्षेत्र--

सामान्यत. आमाशय, पच्यमानाशय और पक्वाशय का नाम ही उदर है। इसको उदर महागुहा या महा—स्रोत भी कहते हैं अर्थात् मुखविवर से लेकर पायु पर्यन्त मार्गभाग को महा-स्रोत कहते हैं। इस गुहा से सीधे या द्वारान्तर से शारीरिक सब अङ्ग—प्रत्यङ्ग सम्बन्धित हैं। जैसे—मुख-विवर, अन्न-नाड़ी, श्वास-नाड़ी, फुफ्फुस, हृदय, प्राचीरिका पेशी, यकृत, प्लीहा, आमाशय, ग्रहणी, क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र, वृक्क, उण्डुक, गवीनी, मूत्राशय और तत्तत्स्थानीय झिल्लियां सब उदर से सीधे या द्वारान्तर से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये जहां भी रोग होगा उसका सम्बन्ध उदर से रहना निश्चित है।

उदररोग महत्व--

इन आभ्यन्तर रोगों का कहना ही क्या है, जब कि बाह्य-जगत

भी सब रोग (झगड़े) इस उदर पर ही अवलम्बित हैं। इस पेट की चपेट में अज्ञानतावश जो कोई भी आ फंसता है, वह दर २ मारा २ त्राहि २ पुकारता रहता है। अत: स्पष्ट है कि बाह्य और आभ्यन्तर सब रोगों का मूल उदर ही है।

रोग कैसे होता है?

अब जरा रोग का भी विवेचन कर लेना चाहिये। दुःख का नाम रोग है। सुखावस्था जब दुःख में परिणत होने लगती है उसको ही रोग या दुःख कहते हैं। धातुसाम्य से सुखावस्था रहती है। इनके वैषम्य से रोग उत्पन्न होते हैं। विषमता मिथ्याहार-विहार से होती है। मिथ्याहार-विहार से अग्नि विषम हो जाती है जिससे आहारपाक विषम होता है, यही विषमता दोषों में आ जाती है और दोष (वात, पित्त कफ) रोग के कारण हो जाते हैं। इसलिये रोग मात्र, धातु (वात, पित्त कफ) विषमता से होते हैं। जब तक धातु समता पर रहती हैं तब तक शरीर नीरोग रहता है। अर्थात् जब तक वातादिक की साम्यावस्था रहती है, तब तक वे अपना २ कार्य उचित रीति से करते रहते हैं और शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है; विपरीतता में रोगों के कारण हो जाते हैं। इसलिये रोगमात्र दोष (वात, पित्त और कफ) जन्य होते हैं।

उदरगुहा-विभाग-

उपर्युक्त उदरगुहा को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। मुख से प्रथम भाग को कफ स्थान, द्वितीय भाग को पित्त स्थान और तृतीय भाग को वात स्थान, इन स्थानों के अधिपति जब कार्य को सुचारु रूप

से नहीं कर सकते, तब ही गड़बड़झाला होने लगता है। इसमें आहार-विहार का पूरा आधिपत्य रहता है। इस दृष्टिकोण से ही शास्त्र में स्वस्थ मनुष्य के लिये उचित आहार-विहार और रोगी के लिये नियमित पथ्य और उचित परिहार का निदर्शन किया गया है। किन्तु सब लोग शास्त्र जानने वाले नहीं होते हैं, या जानते हुए भी सयम से नहीं रह सकते हैं, ऐसी अवस्था में रोगों का शिकार होना अवश्यम्भावी है।

उदररोगों के कारण--

आहार का उचित रीति से पाक करने के लिये समाग्नि का होना आवश्यकीय है। समाग्नि समधातुओं की अवस्था मे ही रह सकती है विषमावस्था में मल सञ्चित होने लगते हैं। इसलिये जब मल की वृद्धि होती चली जाती है उस अवस्था में उदर रोग उत्पन्न होने लगते हैं। अर्थात् मिथ्याहार से अग्नि मन्द होने के कारण ठीक २ पाक नहीं होता है। इसलिये दूषित पाक से या मलिन भोजन से ही दोष सञ्चित होकर प्राण, अपान और अग्नि को दूषित कर ऊपर और नीचे के मार्गों में रुकावट डाल कर, त्वचा और मांसान्तर में आकर कुक्षि को फुला देते हैं और उदररोगों को पैदा कर देते हैं। जो कि अति उष्ण, अति लवण अति क्षार, अति विदाही, रूक्ष, विरुद्ध और अपवित्र आदि भोजन से प्लीहा, यकृत, अर्श, ग्रहणी आदि दोष से, या पञ्चकर्म आदि के विभ्रम से, स्रोतो के दूषित हो जाने से, आम से, वेगों के रोकने से, आंतों में छेद हो जाने से, अर्श, बाल या शुद्दे आदि की रुकावट से, जिनके दोष

यकृत (कटा हुआ जिगर)
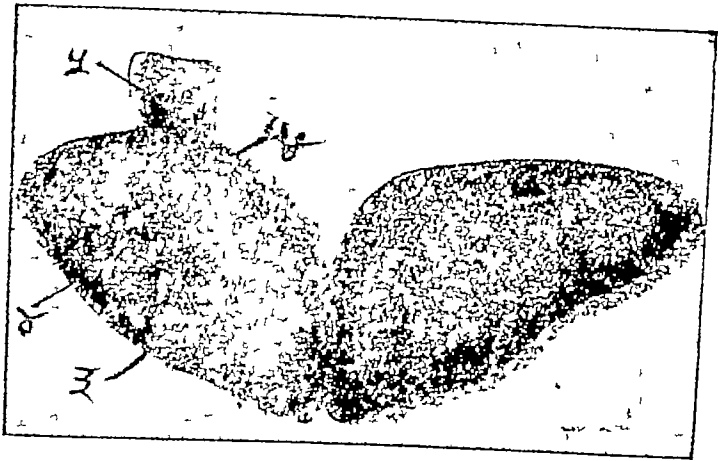
(१) यकृत के सामने का भाग।

(२) यकृत का पिछली ओर का भाग, जो काला-माइल लाल वर्ण का होता है।

(३) पित्ताशय, यह हरे रङ्ग का होता है।

(४) यकृत का वाम खण्ड, जो कि प्रधान रूप से कार्य करता है।

मति सञ्चित हो जाते हैं और पाप कर्म करते रहते हैं उनको ही उदररोग अधिकतर हुआ करते हैं।

इन रोगो को ठीक २ समझने के लिये उदर से सम्बन्ध रखने वाले, सब यन्त्रों का यथासम्भव अच्छी तरह परीक्षण कर लेना चाहिये। जिनमें यकृत, प्लीहा, आमाशय, ग्रहणी, अन्त्र, वृक्क प्रधान हैं। इनकी परीक्षा कर निश्चित कर लेना चाहिये कि रोग का क्या कारण है और विकृति कहां पर है? इसके लिये उदर के प्रत्येक भाग को स्पर्शन आदि से देखकर उन २ स्थानो की ध्वनि से मालूम कर लेना चाहिये कि कहां पर विकृति हो रही है?

उदरयन्त्र परीक्षा--

दाहिनी तरफ अन्तिम पसलियों के नीचे यकृत और बाईं तरफ प्लीहा होता है, इनकी वृद्धियों को हस्तस्पर्श से मालूम कर सकते हैं।

प्राय: यकृत का शब्द कुछ धीमा (ठस) होता है। इसमें हिचकी, श्वास, कास, वमन, तीव्र वेदना और शयन न कर सकना आदि लक्षण न हों, तो 'यकृत-विद्रधि' समझना चाहिये।

उचित आकार कम प्रतीत हो तो, यकृत संकोच एवं प्रकार और और रोगों का परीक्षण कर तत्तल्लक्षणों से निश्चय करना चाहिये।

आमाशयिक शब्द शौन्य-गर्भिक होता है, अगर इसमें वायु भरा हुआ हो तो, मशक की तरह प्रतीत होता है।

आमाशयिक व्रण में परिकर्तिकावत् पीडा होती है और वमन होने पर शान्ति होती है।

मलाशय में किसी वस्तु के सञ्चय या सुद्दे होने पर ठस आवाज और वायु-जन्य स्फीति होने पर प्रतिध्वनि प्रतीत होगी।

मलाशय के पीछे पीठ की ओर वृक्क रहते हैं। मूत्राल्पता या सरक्तमूत्र या वेदना प्रतीत हो तो वृक्क-विकृति समझनी चाहिये।

जलोदर की अवस्था में तरंगें प्रतीत होती हैं, करवट से लिटाकर देखा जाय तो अन्तड़ियां पानी में तैरती प्रतीत होंगी, ठेपन करने से आध्मानवत् शब्द होगा।

प्राय: हृदय, यकृत, प्लीहा, ग्रहणी, वृक्क और जलोदर मे हाथ, पांव, मुख आदि पर शोथानुबन्ध रहता है, किन्तु तत्स्थानीय अन्य लक्षणों से भी रोग निर्णय में सहायता लेनी चाहिये। जैसे आध्मानादि से वायु, दाहादिक से पित्त और स्तम्भ काठिन्यादि से कफ दोषों को मालूम करना चाहिये।

इस प्रकार परीक्षण से जब यह निश्चित हो जाय कि यह रोग वात, पित्त, कफ, प्लीहा, बद्धगुद, छिद्रज, जलजन्य उदर रोग है, तब उसकी कारणानुसार चिकित्सा करने का प्रयत्न करना चाहिये।

उदरचिकित्सा के भेद-

प्रधानत: चिकित्सा दो-भागों में विभक्त है। शोधन और शमन। शोधन में विकृति कारक पदार्थ को शरीर से बाहर कर दिया जाता है। किन्तु शमन में इसको शरीरानुरूप करने का प्रयत्न किया जाता है। इसलिये शमन चिकित्सा से स्वस्थ रोगी को रोग फिर होने का डर रहता है। प्राय: बलवान रोगी की शोधन चिकित्सा की जाती है और

करनी चाहिये। निर्बल की शमन चिकित्सा करें।

चिकित्सा-

वातोदर में—स्नेहन, स्वेदन, स्निग्ध विरेचन, स्निग्धोष्ण पदार्थ दें। विरेचन के बाद पट्टी से पेट को बांध देना चाहिये, ताकि फिर पेट न फूल जाय।

पित्तोदर में—बलवान को विरेचन दुबल को अनुवासन वस्ति देकर फिर क्षीर वस्ति से शोधन कर लेना चाहिये। शक्ति आने पर स्नेहन कर विरेचन देना चाहिये।

कफोदर में—स्नेहन, स्वेदन, शोधन करने के बाद, कफ नाशक कटुक्षार का प्रयोग, गोमूत्र, अरिष्ट, चूर्ण आदि से चिकित्सा करनी चाहिये।

सन्निपातोदर में—मिलीजुली चिक्त्सा करनी चाहिये।

प्लीहोदर में—वात, पित्त, कफ और रक्त के लक्षणों का विचार कर दोष बलानुसार, स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन और शिराव्यधन करना चाहिये। प्लीहोदर के सदृश यकृद्दाल्युदर में भी चिकित्सा करनी चाहिये।

बद्धोदर में—स्वेदन कर तीक्ष्ण औषधि मूत्र, तैल, नमक से निरूह और अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

छिद्रोदर में—स्वेद के बगैर कफोदर के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

जलोदर में—जल दोष को हरने वाली औषधियों का प्रयोग या संचित जल को निकलवाने का प्रयत्न होना चाहिये। जिसके लिये विरेचक मूत्रल औषधियों का प्रयोग करें या शस्त्र द्वारा निकलवा दें।

संक्षेप से उदररोगों का चिकित्साक्रम लिख दिया है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि उदररोगों में दोष अतिसञ्चित और स्रोत अवरुद्ध रहते हैं, इसलिये इनको शुद्ध करने की सतत आवश्यकता रहती है। अतः दुर्बल रोगी को भी जब शक्ति-संचय होजाय तब ही शोधन का आश्रय लेना उचित है। प्रायः सब उदररोगों में दोषों की संहति बनी रहती है। इसलिये तीनों दोषों का ध्यान रखकर ही चिकित्सा करनी चाहिये।

अब हम उदर रोगों में भयंकर कृच्छ्रसाध्य और विशेषता से होने वाले-"जलोदर के विषय में"-एक दो रोगियों के रोग का इतिहास और उसका इलाज लिख कर इस लेख को समाप्त करेंगे।

नाम रोगी—कीर्तिदत्त, उम्र ५० वर्ष। यह सज्जन इण्डियन मिलिटरी हौस्पिटल, झांसी में सर्विस पर थे। वहां इनको फरवरी सन ४२ को प्रवाहिका का रोग हुआ। यह कुछ दिन तक चलता रहा, इसके आराम होनेसे पहिले बुखारभी प्रारम्भ होगया। हाथ-पैरों पर सरसराहट के साथ दो बजे से बुखार शुरू होता था और आधी रात के बाद कहीं जाकर उतरता था। चन्द दिनों के बाद पीलिया होगया, इस अवस्था में इलाज डाक्टरी चलता रहा। पीलिया में सारा शरीर पीला पड़ गया था इस हालत में उसी हास्पीटिल में इनको दाखिल कर लिया गया था। पीलिया की अवस्था मे हिचकिया आती थीं तथा उबकाइयों के साथ कुछ पानी निकलता था। पेट फूला हुआ भारी मालूम देता था खाने की कोई इच्छा न होती थी। ऐसी हालत में दो-तीन महीना निकल गया। केवल कागजी नीबू और बर्फ जिसको डाक्टरों ने बना रखा था

लेता रहा। इस दरमियान इनके ६ इन्जैक्शन लगाये गये, जिससे पीलिया में किसी कदर कमी मालूम हुई, किन्तु और सब अवस्था वैसी ही थीं। पेट भारी होता ही गया, हालत बिगड़ती ही जा रही थी। इस अवस्था में भी खाने पीने की कोई रोक न थी, किन्तु खाया पिया कुछ न जाता था। कुछ दिन बाद दस्त खुदबखुद होने लगे और काफी होने लगे। जिससे काफी कमजोर और बेहोशी की सी हालत होगई। अएट-सएट बकना, हाथ अंगुलियों या कपडा हाथोंसे नोचना, किसीको पहचान न सकना आदि २। ५—६ दिन यह हालत रही, इस हालत मे ग्लूकोज० डी० पिलाया जाता रहा, किन्तु वह भी मुंह से इधर-उधर निकल जाता था।

ऐसी हालत पर झांसी से मेरे पास पत्र आया कि रोगी बहुत कमजोर है, पेट भारी है, थोड़ा २ बुखार रहता है। मैंने देहली से कुछ दिन के लिये पुटपाक, कणा की मात्रायें और ताप्यादि लोह भेज दिया और लिख दिया कि मैं बहुत दूर हूँ; वहां पं० जगन्नाथ बहुगुण' आयुर्वेदिक कालेज में प्रोफेसर है, उनको दिखा कर इलाज करवालें या हो सके तो देहली चले आवें।

कुछ दिन तक उक्त पं० जी का इलाज होता रहा, जिससे काफी लाभ प्रतीत हुआ, और शक्तिसञ्चय होने लगा। कुछ दिन के बाद यह लोग देहली आगये। यहां मैंने इनको इस हालत पर देखा—पेट करीब ३८½ इञ्च, श्वास, कास और क्षीणता अधिक, अस्थि शेष था। ज्वरांश नहीं था। करवट बदलवानेके लिये भी दूसरे की आवश्यकता पड़ती थी।

चिन्तामणि आधी गोली प्रारम्भ करदी, किन्तु प्रातः काल पुनर्नवाष्टक के साथ और शाम को पुनर्नवासव और पार्थाद्यरिष्ट के साथ औषधियों का प्रयोग किया गया। भोजन के लिये दूध-भात। इससे अच्छा प्रभाव हुआ, बेचैनी भी कम होगई और दस्त और पेशाव ठीक होते रहे।

परमात्मा की कृपा से अब तबियत बहुत ठीक है, चलना फिरना जारी होगया है, खाने के लिये अभी दूध-चावल चल रहे हैं। थोडी सी प्लीहावृद्धि है, वह भी धीरे २ कम होती चली जारही है। आशा है कि वह भी कुछ दिन में ठीक हो जायगी, किन्तु बीमार अभी अपने आप को तन्दुरुस्त समझती है।

आमाशय (कटा हुआ मेदा)
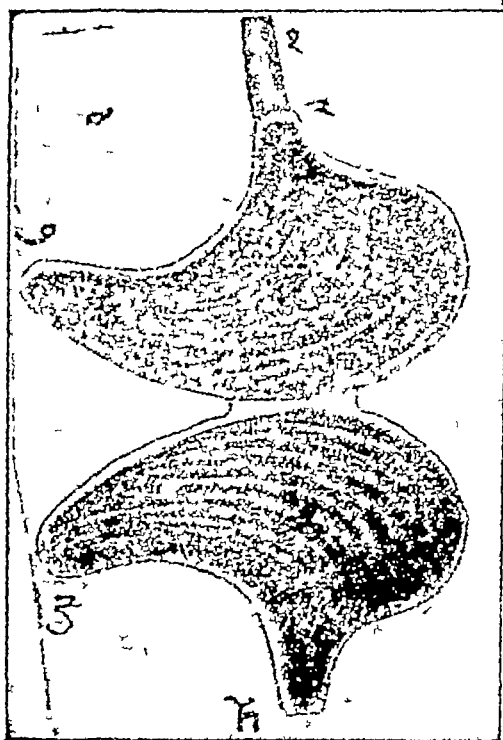
(१) अन्नमार्ग—इसमें भोजन आता है।
(२ व ५) अन्नमार्ग का अन्त (जो आमाशय से मिलता है)।
(३) आमाशय की पीठ की ओर की दीवार।
(४) आमाशय के आगे की दीवार।
(६ व ८) आमाशय का कम चौड़ा दक्षिण-भाग, यहां पर भोजन पिसता है।
(७ व ९) आमाशय का मुख, जहां पर प्रहणी—झिल्ली का पर्दा है। इसका रङ्ग गुलाबी माइल लाल होता है।

उदर रोग से बचने के कुछ उपाय

ले०—श्री० प० हरिनारायण जी आयुर्वेदाचार्य, प्रतापगढ़ ।

ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिनसे सर्वसाधारण सुपरिचित तो होते हैं, किन्तु बहुधा उन पर ध्यान नहीं देते। उनकी इस भूल से कभी-कभी बड़ी हानि हो जाती है। विचारक-लेखक ने अपने इस लेख में, सर्वसाधारण के अवश्य ध्यान देने योग्य, महत्वपूर्ण विषयों का निर्देश किया है। वास्तव में इन नियमों के पालन से कोई व्यक्ति उदररोगों का शिकार नही हो सकता। —सम्पादक।

बेक़ायदे नियम-विपरीत आहार-विहार (भोजन और रहन-सहन) करने से, पेट के अन्दर भोजन पकाने वाली शक्ति (अग्नि) कमजोर हो जाती है, जिससे खाया हुआ पदार्थ ठीक हज़म नहीं होता। जितना अंश हजम नहीं होता, उतना कच्चा अंश आमाशय और अंतड़ी आदि पेट के अङ्गों में चिपटा पड़ा रहता है। नाली में कीचड़ की भांति वह शरीर के अन्दर गन्दगी पैदा करता है। बाद धीरे २ कब्ज होने लगता है। शरीर के अङ्गों में मल भरा रहने से सारे शरीर में गर्मी-सर्दी और खून का अच्छी तरह दौरा होने में रुकावट होने लगती है और फिर अनेक रोग प्रकट होने लग जाते हैं। चाहे अन्य रोग कम ही प्रकट हों, किन्तु उदर रोग तो अवश्य ही अपना विकराल रूप दिखलाता है।

रहन-सहन (विहार) उतना प्रबल मन्दाग्नि कारक नहीं होता

जितना कि अनियमित और विपरीत भोजन।

भोजन के प्रकार के विषय में कुछ बातें बतलाई गई हैं, जिन पर भोजन का हित और अहित अवलम्बित है। भोजन के विषय में उन बातों पर विचार करना परम आवश्यक है। उन कारणों पर भली-भांति विचार कर भोजन करने से मनुष्य किसी प्रकार के रोग का शिकार नहीं हो सकता और न कोई उदररोग [illegible] सकता है।

आयुर्वेद के चरकसंहिता नामक ग्रन्थ में वे बातें निम्नाङ्कित हैं। इनका नाम "आहारविधि-विशेषायन" कहा गया है। अर्थात् भोजन-प्रकार के हित-अहित का कारण। इनके अनुसार भोजन करने से भोजन हितकारी होता है, अन्यथा अहितकारी।

वे ये हैं:—

१-प्रकृति २-करण ३-संयोग ४-राशि ५-देश ६-काल ७-उपयोग-संस्था ८-उपयोक्ता।

१-प्रकृति (स्वभाव)-खाने वाली चीजों के स्वभाव का विचार करना, अर्थात् वस्तुओं का स्वाभाविक गुण क्या है? जैसे-उर्द का स्वाभाविक-गुण गुरु (देर में हजम होना) है। मूङ्ग का गुण लघु (जल्दी और सरलता से पचना) होना है। उदराग्नि तेज होने पर उर्द और कमजोर होने पर मूंग खाई जा सकती है अतः खाने की चीजों का स्वाभाविक गुण विचार लेना परमावश्यक है।

२-करण (करना-बनाना) अर्थात् खाने की चीजें किस तरीके से बनी हैं? क्योंकि बनाने के तरीकों से वस्तुओं के स्वाभाविक गुणों में फर्क

पड़ सकता है। पानी, आग, सफाई, पकाना, स्थान, समय, सुगन्ध, भावना (भिगोना), पीसना, अभिमन्त्रित करना आदि क्रियाओं से भोजन की चीजें हलकी और भारी बनाई जा सकती हैं। जैसे-पानी से कई बार धोया हुआ, मंद आच से पकाया हुआ और माड़ निकाला हुआ चावल हलका हो जाता है।

दही आतों में चिपकने वाला गुरु और शोथ कारक होता है। मगर वहां दही मथने से मट्ठे के रूप में होकर लघु और ग्रहणी शोथ आदि कई प्रबल रोगों का नाशक होता है। कच्चे और पके आम के गुण भिन्न २ होते हैं। खाली तिल के तेल से चमेली, गुलाब के फूलों से सुवासित तिल का तेल, अधिक ठण्डा खुशबूदार अतएव आनन्द-दायक होता है। समय बीत जाने पर पुराना अन्न अधिक हल्का होता है। ईखका रस कुछ समय तक रखने से सिरका हो जाता है और उस का गुण दूसरा हो जाता है। उसका ताजा रस पित्त नाशक और सिरका पित्त कारक होता है। यदि सिरके की बनावट की तरफ ध्यान न देकर सिर्फ ऊख का रस समझ कर सेवन किया जाय, तो फिर क्या उल्टा असर होगा यह समझने की बात है। अत. करण (चीजों की बना-वट) की तरफ ध्यान देना परम आवश्यक है।

३-संयोग-मेल। दो या कई प्रकार की वस्तुओं का मेल। मेल होने पर एक नया गुण या असर हो जाता है, जो कि वह मेल की अलग-अलग वस्तु में नहीं पाया जाता। जैसे-खाली घी और खाली शहद का गुण भिन्न २ होता है और जहरीला असर तो बिल्कुल ही नहीं रहता किन्तु हम-वजन घी-शहद मिल जाने पर जहर का काम करता है।

मछली और दूध एक में मिलाकर खाने से कुष्ठ पैदा करता है। परन्तु अकेली मछली और दूध कुष्ठ कारक नहीं होता। इस प्रकार बहुत से उदाहरण हैं। इसलिये भोज्य-वस्तु के संयोग को समझ लेना आवश्यक है।

४-राशि, नाप-तोल। यह दो प्रकार से जाना जाता है। (१) भोजन की पूरी वस्तुओं का एक प्रमाण। (२) भोजन की १-१ वस्तु का प्रमाण। जैसे किसी की खुराक आध सेर है तो कोई भी वस्तु आध सेर हो। और यदि आध सेर में १ पाव आटा, १ छटांक दाल, १ छटांक चावल, आधी छटांक घी, आधी छटांक चीनी, एक छटांक शाक। इस प्रकार अपनी पाचनशक्ति के अनुसार प्रमाण निश्चित करना। इस प्रकार प्रमाण समझ कर खाने से भोजन स्वास्थ्य का कारण होता है, और बिना प्रमाण के खा लेने से खुराक से कम या अधिक खालिया जाता है, तो तन्दुरुस्ती बिगड़ने लगती है, इसलिए राशि भोजन के प्रमाण की ओर भी ध्यान करना अतिआवश्यक बात है।

५-देश (जगह) भोजन की चीजों के पैदा होने की और खानेकी जगह। जैसे—हिमालय की तरफ पैदा हुई वस्तु गुरु और विन्ध्या के पास की वस्तु लघु होती है। ऐसे स्थान में जहां की नमी ज्यादह हो जैसे-बिहार और बङ्गाल में गर्म और खुश्क चीजें, और मरुभूमि बीकानेर वगैरह में ठण्डी और स्निग्ध वस्तु खाना स्थान के खयाल से अधिक लाभदायक होती है। इसलिए भोजन में स्थान का विचार करना आवश्यक है।

६—काल का विचार दो प्रकार से किया जाना चाहिये। १—नित्यग। २—आवस्थिक। नित्यग (रोजमर्रा) रोजमर्रा में भी ऋतु (मौसिम) देखना चाहिये, मौसम के अनुसार भोजन होना चाहिये। आवस्थिक-रोग की अवस्था या लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा। रोगानुसार और उम्र के मुताबिक भोजन शरीर का हित करता है। हरएक ऋतु, हरएक रोग और हरएक उम्र का भोजन शरीर के तन्दुरुस्त रखने के खयाल से एक तरह का नहीं हो सकता।

७—उपयोग संस्था (भोजन करने की विधि)—

अन्य विधियों के अलावा खास विधि यह है कि पहला खाया हुआ भोजन ठीक पच गया हो, क्योंकि अजीर्ण की अवस्था में अनेक प्रबल रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

८—उपयोक्ता-भोजन का उपयोग करने वाला (खाना खाने) वाला आदमी। खाने वाले आदमी के अभ्यास (आदत) का भी खयाल करना चाहिए, क्योंकि बहुत सी चीजें, चाहे वे स्वभावत: अच्छी हों या बुरी, विना आदत के खा लेने से हानि ही करती हैं और खाने की आदत रहने से हानि नहीं करतीं।

उपर्युक्त आठ बातों का विचार करने से भोजन की होने वाली अच्छाई और बुराई मालूम होती है। जिसे जान कर अच्छा ही भोजन जिसे शरीर का उपकारक समझे, करना चाहिए। भोजन के विषय में लापरवाही या किसी का अनुरोध स्वीकार करना, रोग को न्योता देने के बराबर है। भोजन की अन्य विधियां प्राय. इन्हीं आठ "प्रकृति" आदि के अन्तर्गत आजाती हैं। भोजन से लाभ उठाने के मुख्य यही

आठ कारण हैं। इनके अनुसार भोजन करने पर मन्दाग्नि नहीं हो सकती। जिससे शरीर के अन्दर अनावश्यक पदार्थ, या मल इकट्ठा नहीं हो सकता, शरीर की सर्दी गर्मी अपने प्रमाण से बनी रहती है। फिर उदर सम्बन्धी रोग अपना असर नहीं दिखला सकते।

इस तरह से पेट की अग्नि को बिगड़ने नहीं देना चाहिए।

शमप्रकोपौ दोषाणां, सर्वेषामग्निसंश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत् ॥
(च० म०)

उदर रोगोंकी

स्वादिष्ट--चिकित्सा

लेखक—न्यायाचार्य श्री० पं० चन्द्रशेखर जी जैन,
आयुर्वेद शास्त्री, सह–सम्पादक 'धन्वन्तरि'

ऐसे बहुत से लोग हैं, जिन्हें बिना चूर्ण खाए, भोजन ही हज़म नहीं होता वे प्राय इधर-उधर के 'पैसे में एक पैकट' वाले चूर्ण खरीद कर खाते फिरते हैं। इन 'सड़ी- गली चीजों के सार' वाले पैकट में, जायका तो थोड़ा-बहुत होता है, किन्तु वह उदररोगों की नींव डालने में अपना सानी नहीं रखता। इसलिए ऐसी बलाओं से बचकर, आयुर्वेदोक्त स्वादिष्ट-पाचक चूर्ण ही, आवश्यकता होने पर, काम में लें और अपने द्रव्य तथा स्वास्थ्य का रक्षण करें।' विज्ञ लेखक ने इसी विचार से यह स्वादिष्ट-चिकित्सा लिखी है।

—सम्पादक।

कहते हैं कि, 'अब दिनों-दिन सभ्यता बढ़ रही है। पहिले इतनी सभ्यता न थी, जितनी कि आजकल है। सारांश यह है कि, यह सभ्यता के विकास का जमाना है और दिनों दिन सभ्यता उन्नति कर रही है।'

उक्त बात सच हो या न हो, किन्तु यह अवश्य सच है, अब अनेकानेक रोग दिनों दिन बढ़ रहे हैं। पहिले इतने रोगी नहीं हुआ करते थे, जितने कि आज-कल इस सभ्यता के जमाने में होते हैं। सारांश यह कि, अब सभ्यता के साथ-साथ रोगों के विकास का जमाना है; और वे आए दिन नए-नए रूप में जोर पकड़ रहे हैं।

पहिला जमाना था कि लोग समझते थे कि, रोगके पैदा होने पर, इलाज कराने की अपेक्षा, रोग पैदा न होने देना कहीं ज्यादा अच्छा है। अब लोग इस ओर उपेक्षित से देखे जाते हैं। कहना न होगा कि, यही कारण रोग वृद्धि का है।

मैंने देखा कि, एक बारात जा रही है, लोगो का सामान गाड़ी में लद चुका है, वे प्रस्थान करने की तैयारी में हैं, किन्तु एक याद दिलाता है कि, आप पाचक-चूर्ण लेना तो भूल ही गए, उसे तो साथ मे और बाध ले चलते। साथ के साथी अपनी इस भूल को सम्हालते हैं, और चूर्ण लेने औषधालय की ओर दौड़ पड़ते हैं।

शहरो की नहीं, छोटे-छोटे कस्बों और गावों तक मे आप ऐसी कई बातें पा जायगे। आप इन बातों से समझ चुके होंगे कि, आज-कल लोगो की धारणाएं किस प्रकार की हैं? वे प्रकृति के नियमो का पालन नही करना चाहते। वे नहीं चाहते कि, हमारा आहार-विहार ऐसा हो, जिससे कि कोई रोग ही पैदा न हो सके। किन्तु वे सोचते हैं कि, क्या है यदि ज्यादा खालेंगे तो चूर्ण से पचा लेंगे, रोग हो जायगा तो उसका इलाज करा लेंगे।

हमारे पूर्वज, सभवत: ऐसी बातो में, हमसे अधिक ध्यान रखते थे। वे रोगों को पैदा होना ही नही देना चाहते थे। इसीलिये वे मिताहारी, प्रकृति-नियम-पालक होकर पूर्णायु-भोगी होते थे। वे जीने के लिये खाते थे, ऐसा नहीं था कि वे खाने के लिये जीते हों। शरीर का मुख्य-द्वार मुख है। जैसी चीजें इस द्वार में होकर भीतर प्रवेश

पावेंगी, वैसा ही कार्य शरीर के भीतर होगा। घर के द्वार को ही देखिये कि, यदि उसमें सज्जन पुरुष प्रवेश करेंगे तो वहां सुख-शान्ति का साम्राज्य होगा और यदि कहीं दुर्जनो का प्रवेश होगया तो कलह-कांड प्रभृति अमङ्गल ही होंगे। अतः इस मुख के द्वार पर सतर्कता का पहरा बैठाये रक्खें, जो कि किसी अहितकारक पदार्थ को भीतर न जाने दें; अन्यथा अनेक-रोग स्वतः पैदा हो जांयगे।

आज नियमित, आहार-विहार पर लोगों का ध्यान कहां है? तभी तो उदररोगों की संख्या बढ रही है। हम देखते हैं कि अधिकतर बहुत से लोग कार्याधिक्य होने से, भोजन का समय हो जाने पर भी अपने स्थान से नहीं उठते। कुछ दिन-रात बकरी की तरह कुछ न कुछ खाते ही रहते हैं, उनका मुंह ही बन्द नहीं होता। कुछ ऐसे भी हैं, जो सब कुछ होने पर भी, कभी आधे-पेट रहते हैं और कभी नाक तक ठूंस-ठूंस कर खाते हैं। ऐसी परिस्थिति में भी यदि कोई रोग पैदा न हो तो आश्चर्य ही समझना चाहिये, अन्यथा आहार-विहार के अयोग, अतियोग, हीनयोग और मिथ्यायोग से ही तो सारे विकार पैदा होते हैं।

आहार, जो भी पेट में जाय, उसे मुंह में डालने से पहिले अवश्य सोच लेना चाहिये कि, मुंह में जाने के बाद इसका क्या असर होगा? इससे कहीं हमें भविष्य में तो कोई कष्ट न उठाना होगा? औषधों के प्रभावक-प्रभाव को देख कर प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि, पेट में पहुँची हुई चीज, विना कुछ प्रभाव डाले नहीं रहती। उसका प्रभाव शरीर या शरीर के किसी भाग पर अवश्य पड़ेगा।

सारी बीमारियों का मूल कारण, शास्त्रकारों ने अजीर्ण या मन्दाग्नि को माना है। जिसमें खासतौर से पेट की बीमारियां तो इसी से पैदा होती हैं। शास्त्रकारों ने बताया है कि, अजीर्ण एक घोर अन्न-विष है, जिसके भिन्न-भिन्न भागों में संपर्क के कारण ही गुल्म शूल, दाह, तृष्णा, प्रमेह, राजयक्ष्मा जैसे रोगराज पैदा होते हैं, जो कि मनुष्य को इस असार संसार से एक दूसरी दुनियां में ले जाते हैं। इसलिए इस अन्न-विष को पैदा न होने देने चाहिए। उसका एक मात्र उपाय है, "नियमित और शुद्ध आहार-विहार।।"

अस्तु; जहां तक हो रोग को उत्पन्न ही न होने देना चाहिये। यदि फिर भी कदाचित् रोग उत्पन्न ही हो जाय तो उसे तत्काल मार भगाना चाहिये। उदर-रोगों के मार भगाने के लिए यहां पर कुछ सुपरीक्षित और स्वादिष्ट-चीजें दी जा रही हैं। रोग हो जाने पर, इनके सेवन से लाभ उठाइये। किन्तु भूल कर भी इन चीजों के आदी न बनें, जिससे इनके बिना कभी खाना ही हजम न हो।

जिन्हें थोड़ासा भी खाया हुआ हजम न होता हो, हमेशा खट्टी डकारें आती हों और भोजन करने के बाद भी शांति न मिलती हो, उन्हें इस चूर्ण का मात्र दो सप्ताह ही सेवन करना चाहिये। स्वादिष्ट होने के कारण, हमेशा के लिये आदत न डालें।

अजीर्ण हर 'स्वादिष्ट चूर्ण'–

२७-हरड़　　बहेड़ा　　आंवला　　बड़ी इलायची के दाने
सूखा हुआ पोदीना　　सौंफ　　अजवायन
सफेद जीरा　　सेंधा नमक　　जवाखार　　कालानमक
नौसादर　　सांभरनमक　　सोंठ　　मिर्च　　छोटी पीपल

—इनमें से प्रत्येक को अलग-अलग कूट कर १-१ तोला बारीक चूर्ण लें। तवे पर डाल कर खील किया हुआ सुहागा और घी में भुनी हुई हींग दोनों ६-६ माशे लें।

विधि—उपर्युक्त प्रारम्भिक १६ चीजों के चूर्णों को मिला कर, सुहागा मिलादें। फिर सबके बाद भुनी हुई हींग को मिलादें और एक शीशी में मजबूत डाट लगा कर रखलें। (अच्छा हो कि, उक्त सारी-चीजों को कपड़-छन कर लिया जाय या, बारीक चलनी से ही छान लिया जाय)

मात्रा—२ से ४ माशे तक। ताजे जल से लें। अथवा भोजनोपरांत यूं ही फाक लें।

गुण—अत्युत्तम पाचक व अग्निवर्द्धक है।

'स्वादिष्ट वटी'—

२८—तवे पर डाल कर खील किया हुआ सुहागा　　काला नमक

अजमोद　　बड़ी हरड़ का छिलका　　भुना हुआ सफेद जीरा

अजवायन　　छोटी इलायची के दाने　　—प्रत्येक १-१ तोले

रूमीमस्तगी　　काला जीरा　　बड़ी इलायची के दाने

भुनी हुई हीरा-हींग　　—चारों ४-४ माशे

लवंग　　काली मिर्च　　दालचीनी　　—तीनों ६-६ माशे

—उक्त तमाम चीजों को खूब बारीक महीन कर, एक खरल में डाल दें। फिर आठ कागजी नीबुओं का रस उसमें डालकर खूब घोंटे, यहां तक कि गोली बनाने योग्य होजाय। फिर काबुली चने के बराबर गोलियां बनाकर सुखालें।

उपयोग—१ गोली प्रात. और १ गोली रात को सोते वक्त खांय। यदि दस्त कराना चाहे तो सोते वक्त गर्म पानी से २ से ४ गोलियां तक दें।

इन गोलियों के खाने से उदर-विकार, पेट का दर्द, अफारा, भोजन, का हजम न होना, समय पर भूख न लगना, इत्यादि शिकायतें दूर होती हैं।

कभी २ गर्म पानी के साथ देने पर वातगुल्म भी ठीक हो जाता है ।

अजीर्ण नाशक(स्वादिष्ट नमक-सुलेमानी)-

३६—टार्टरिक एसिड (इमली का सत्व) १ तोला

काला जीरा	काली मिर्च	सौंफ	सोंठ
सफेद जीरा	दालचीनी	धनिया	नौसादर
छोटी पीपल	सूखा पोदीना	—प्रत्येक २॥-२॥ तोले	
कालानमक	सैंधानमक	—दोनों ५-५ तोले	
पिपरमेंट	घी में भुनी हुई हींग	—दोनों ३-३ माशा	

विधि—इन तमाम चीजों को कूट—पीस कर, कपड़े में या मैदा की चलनी में छानलें । पर ध्यान रहे कि, पिपरमेंट सबके बाद ही मिलाया जाय, अन्यथा वह छानते वक्त कपड़े या चलनी में ही चिपका रह जायगा ।

मात्रा—१ से १॥ माशा, भोजन करने के बाद खाया करें ।

लाभ—यह बड़ा ही स्वादिष्ट और मन को प्रसन्न करने वाला है। साथ ही साथ अजीर्ण का दुश्मन भी है, और अपच को पास नहीं फटकने देता । सुपरीक्षित है ।

उदररोगों में सर्वोत्तम 'उदर-सुधा'—

४०—उत्तम गुलाब जल ५० तोले मीठे संतरे का रस १२ तोले

अर्क केवड़ा		चूने का पानी (Lime water)	
कागजी नीबू का रस		—तीनों २५-२५ तोले	
अजवायन	लौंग	सोंठ	पीपल
भुना हुआ सफेद जीरा		लाल रङ्ग की केशर	
सौंफ	भुनी हुई हीरा-हींग	खाने का सोडा	

—प्रत्येक ३-३ माशे

ताज़ी अदरख का रस   कालानमक   –दोनों १०-१० तोले
मिर्च   कुलिञ्जन   हाऊबेर   चित्रक (चीता)
कलमीशोरा   काला जीरा   —प्रत्येक ६-६ माशे
सेंधानमक   १५ तोले   पिपरमेंट सत्व   १॥ माशे

निर्माण-विधि–पहिले नीबू और संतरा दोनों का अलग २ रस निकाल कर, कपड़े से छानलें। इसके बाद अर्क गुलाब, केवड़े का अर्क तथा अदरख का साफ-रस इन तीनों को मिलालें। तभी उक्त दोनों चीज़ों का रस भी मिला लेना चाहिये।

इन चीज़ों के मिल जाने के बाद, चूने का नितरा हुआ साफ जल भी इसी में मिलादें, फिर काला नमक और सेंधानमक पीस कर इनमें मिलादें, मिल जाने पर शेष चीज़ों का बारीक कपड़छन चूर्ण धीरे-धीरे मिलाते जांय और शीशी को हिलाते रहें। सब चीजें एक-दिल हो जाने पर, शीशी में डाट लगाकर रखदें। बस 'उदर-सुधा' तैयार है।
मात्रा-१ से १॥ तोला तक। अवस्था और आवश्यकतानुसार दें।

गुण–इस 'सुधा' के सेवन से आठों ही प्रकार के उदर-रोग, उदर-रोगों की जड़ 'अजीर्ण', मन्दाग्नि, शूल, मलावरोध, दस्त-कब्ज़, बदहजमी आदि दूर होते हैं। जिगर व तिल्ली बढ़ जाने पर, प्रथमावस्था में इसका उपयोग करने से, वे और ज्यादा नहीं बढ़ पाते, साथ ही साथ धीरे-धीरे ठीक भी होने लगते हैं।

कुछ व्यक्तियों ने हैजा और अम्लपित्त पर भी इसका परीक्षण करके, इसे लाभदायक बतलाया है, किन्तु हमारी राय में यह अधिक से अधिक विशूचिका की प्रारंभिक दशा में ही लाभदायक होगी। हां, गुल्म पर प्रभावक होने में कोई सन्देह नहीं।

चटपटी चटनी–

शास्त्रीय प्रमाण है कि विरेचन की चीजें स्वादिष्ट और दिल लुभाने

वालीं होनी चाहिये। जब कि वमन की औषधं ठीक इससे विपरीत होनी चाहिये। यथा—'वीभत्सं वमनं दद्याद्विपरीतं विरेचनम्।'—ठीक शास्त्रकारों की इसी आज्ञा पर ध्यान रख कर ही, इस प्रयोग का निर्माण हुआ है। इसके खाने से बड़ा चटपटापन और ज़ायका होगा। साथ ही साथ इससे पेट भी साफ होजायगा। शेष उदररोगों में भी लाभदायक है।

४१-A—नींबू का रस दो सेर अमलतास का गूदा एक सेर

—इन दोनों को योग्य पात्र में तीन दिन तक भिगो रक्खें और फिर मल कर, मोटे वस्त्र द्वारा छानलें। इसे मिट्टी, चीनी या कां . के वर्तन में धरलें। फिर—

B दालचीनी काली मिर्च छोटी पीपल
इलायची के दाने सोंठ —प्रत्येक २-२ तोला
सेंधा नमक कालानमक अनारदाना —तीनों ४-४ तोले

—इनका चूर्ण करके कपड़छन करलें।

C हीरा-हींग कालादाना सफेद ज़ीरा —तीनों ५-५ तोले

—लेकर अलग २ भूनलें। घी में भूनना ही अच्छा होगा। फिर बारीक चूर्ण करलें।

फिर B—नम्बर की चीज़ों को सिल पर डाल कर थोड़ा २ A—नम्बर का रस डाल-डाल कर घोंटते रहें और सारा रस ख़त्म कर दें। खूब एक दिल हो जाने पर C—नम्बर की चीज़ों को मिला कर थोड़ी देर घोंट लें और चौड़े मुंह के चीनी या कांच के अमृतवान में भर कर रखलें।

मात्रा—एक तोले से १॥ तोले तक आवश्यकता और बलानुसार।

गुण—रात को सोते वक्त यदि गर्म पानी से खाई जायगी तो प्रात पेट साफ हो जायगा। खाने में तो अत्यन्त स्वादिष्ट है ही, पर उदर रोगों पर चामत्कारिक प्रभाव रखती है।

उक्त पांचों ही प्रयोग अन्य बहुत से वैद्य-महानुभावों के परीचित है, साथ ही साथ हमारे भी सुपरीचित है, प्रयोग करके लाभ उठावें।

उदररोगों पर दो महान्
वनस्पतियां

लेखक—श्री० चन्द्रराज जी भण्डारी "विशारद"
'वनस्पतिचन्द्रोदय'-रचयिता।

आयुर्वेद-शास्त्र या भारतीय-चिकित्सा की ही यह विशेषता है, जिससे बिना व्यय और मात्र थोड़े-से परिश्रम से ही भीषण से भीषण रोग को भी मार भगाया जा सकता है। विख्यात लेखक ने सर्वत्र-सुलभ अपनी दो अनुभूत औषधों का मार्मिक विवेचन किया है। ऐसी अमूल्य वनस्पतियों के परीक्षण द्वारा, उदररोगों के जाल से छूट कर, जनता को मुक्तकंठ से आयुर्वेद का गुणगान करना पड़ता है। —सम्पादक।

उदर मानवीय शरीर का एक रूप से महत्वपूर्ण भाग है, यही वह स्थान है जहां शरीर में होने वाले प्राय. सभी रोगों के मूल कारण सबसे पहले पैदा होते हैं। इस एक प्रधान अंग के भीतर तिल्ली, लीवर इत्यादि और कई उपांग रहते हैं, जिनके द्वारा यह सारे शरीर का पोषण और संचालन करता है। मतलब यह कि मानवीय शरीर के अन्तर्गत इस अङ्ग का क्षेत्र बहुत व्यापक है, और जिस प्रकार इसका क्षेत्र व्यापक है उसी प्रकार इसमें होने वाले रोगों का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। तिल्ली, यकृत, आमाशय, पक्वाशय, बड़ी आंत, छोटी आंतें इत्यादि से सम्बन्धित अनेक रोग उदररोगों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

कहना न होगा कि जिस प्रकार उदर में अनेक रोगों का जन्म होता है, उसी प्रकार उन रोगों की चिकित्सा में भी अनेक प्रकार की औषधियों और वनस्पतियों का संयोग होता है। कोई वनस्पति तिल्ली से सम्बन्धित रोगों पर लाभ पहुँचाती है, कोई लीवर को शक्ति देती है, कोई पाकाशय की क्रिया को ठीक कर मन्दाग्नि को दूर करती है, तो कोई अतिसार में लाभ पहुँचाती है। मगर ऐसी वनस्पतियां बहुत कम हैं जो व्यापक रूप से समस्त उदर-रोगों पर समान रूप से लाभ पहुँचा कर उसकी क्रिया को व्यवस्थित करदें। ऐसी ही एक-दो वनस्पतियों की ओर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

इसके पहले एक और बात की ओर भी हम कुछ संकेत करना चाहते हैं, बहुत से वैद्यों में और खास कर यूनानी पद्धति से चिकित्सा करने वाले हकीमों और वैद्यों में उदर-रोगों के लिये क्षार-चिकित्सा करने का अधिक रिवाज है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ यन्त्रणा-प्रद उदररोगों में क्षार-चिकित्सा से तात्कालिक और चमत्कार पूर्ण लाभ जरूर होता है, और चिकित्सक को यश भी मिल जाता है, मगर यह एक स्मरण रखने की बात है कि लम्बे समय तक इस चिकित्सा का प्रयोग, लम्बी दूरी में जाकर रोगी के लिये बहुत घातक होता है, और उसकी आंतों में ऐसी खराश पैदा कर देता है जो उसके जीवन के लिये भार रूप हो जाती है, इसलिये रोगी का वास्तविक हित चाहने वाले लोगों को इस चिकित्सा का लम्बा प्रयोग बहुत समझ बूझ कर करना चाहिये। हां, दो-चार मात्रा का प्रयोग तो साधारणतया किया जासकता है। अस्तु,
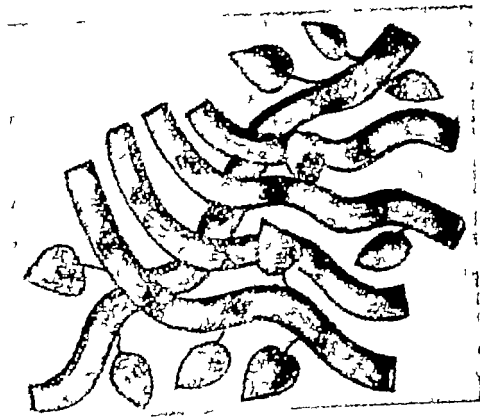
उदर-रोगों पर दो--वनस्पतियां

गिलोय

ग्वारपाठा

भारतवर्ष के अन्दर पैदा होने वाली वनस्पतियों में सैकड़ों औषधियां ऐसी हैं जो भिन्न २ उदररोगों में आश्चर्यजनक लाभ दिखलाती हैं, मगर हम यहां सिर्फ दो वनस्पतियों का विवेचन करेंगे जिनका समस्त उदर रोगों पर और उनके साथ ही मनुष्य की जीवन शक्ति पर भी काम का प्रभाव होता है।

गडूची (गिलोय)-

(१) इनमें से सबसे पहले हम आयुर्वेद की सुप्रसिद्ध वनस्पति 'गिलोय' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। इसको संस्कृत में अमृता, गुडूची, हिन्दी में गिलोय, गुडवेल, बंगला में गुलुल, मराठी में गुड़वेल; गुजराती में 'गलो' और लैटिन में Tinospora Cordifolio (टिनोस्पोरा कार्डिफोलिया) कहते हैं। यह वनस्पति सारे भारत में इतनी प्रसिद्ध है कि पहचान देने की यहां कोई आवश्यकता नहीं।

यह एक ध्यान में रखने की बात है कि गिलोय की वेल अनेक प्रकार के झाड़ों पर चढ़ती है, मगर चिकित्सा कार्य मे वही गिलोय उत्तम मानी जाती है जो नीम के आश्रय से चढ़ी हो। इसलिये चिकित्सा कार्य में उपयोग करते समय हमेशा इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि नीम पर चढ़ी हुई गिलोय को ही उपयोग में लिया जावे। इसके सिवाय यह ख्याल में रखना चाहिये कि सूखी वनस्पति से हरी और ताजी बहुत अधिक गुणकारी होती है।

गिलोय मे शामक, ज्वर नाशक, पित्त शामक, मूत्रल और शोषक गुण रहते हैं। इसका शामक गुण अत्यन्त आश्चर्य-जनक है। आयुर्वेद

के मतानुसार शरीर में पैदा होने वाली प्रत्येक व्याधि में वात, पित्त और कफ इन तीनों में से एक या दो का प्रकोप अवश्य रहता है, गिलोय में शामक गुण होने से वह प्रत्येक कुपित दोष को समानता पर ला देती है। जिस दोष का प्रकोप होता है उसको वह शांत कर देती है और जिसकी कमी होती है उसको प्रदीप्त कर देती है। इस प्रकार घटे-बढ़े दोषों को समान स्थिति में लाकर प्रकृति को निरोग बनाने की क्षमता शायद ही किसी दूसरी वनस्पति में हो।

उदर इस वनस्पति की क्रिया का प्रधान क्षेत्र है। लीवर और तिल्ली की खराबी से तथा आंतों की खराबी से शरीर में मन्दाग्नि, पाण्डु जलोदर, कामला, अतिसार इत्यादि जितने भी रोग होते हैं उन सभी में यह वनस्पति धीरे २ मगर सुनिश्चित फायदा पहुँचाती है। यहां तक कि अन्त्र-क्षय के पहली और दूसरी स्टेज के केसों में भी इस वनस्पति के प्रयोग से बड़ा लाभ होता है। मन्दाग्नि की ऐसी पुरानी शिकायतों, में जिनको दूर करने के लिए हजारों रुपयों की औषधियां भी बेकार साबित हो चुकी थीं, गिलोय ने आश्चर्यजनक लाभ दिखलाए हैं। ऐसे रोगों के सम्बन्ध में गिलोय के प्रयोग अनेक बार अनुभव में आचुके हैं। इस बात की शिफारिश की जा सकती है कि जो लोग पेट के रोगों से ग्रसित हों, जिनके तिल्ली और यकृत बिगड़ गए हो, जिनको भूख न लगती हो, जिनका शरीर सफेद और पीला पड़ गया हो, जिनको एनीमिया हो गया हो अथवा जिनको आन्त्रक्षय का सन्देह हो वे लोग इस आश्चर्य-जनक औषधि का सेवन करके लाभ उठा सकते हैं।

इस वनस्पति के प्रयोग की साधारण विधि नीचे दी जाती है, आवश्यकतानुसार इस विधि से दें। अथवा इसके अनुपान मे फेर बदल भी किया जा सकता है।

४२–नीम के ऊपर चढ़ी हुई ताजा गिलोय १॥ तोला, अजमोद २ माशे, छोटी पीपल २ दाने और नींम के पत्तों के डण्ठल ५–७ डाल कर सिल पर ठण्डाई की तरह बारीक पीस लें, फिर करीब आध-पाव पानी में उसे छान कर उसमे एक ईंट का टुकड़ा गर्म करके बुझायें, और फिर इसे रोगी को पिलादें।

इस औषधि को नियम पूर्वक दिन में दो बार पीने से तथा उचित आहार-विहार से रहने पर एक ही मास के भीतर रोगी के शारीरिक सङ्गठन में व्यवस्था आकर उसके मुख पर कांति, रक्त में ओज और आंखों में जीवन दिखलाई देने लगता है और उसके रोग-लक्षण दूर होने लग जाते हैं।

सिर्फ उदर-रोगो में ही नहीं बल्कि ज्वर, मलेरिया-ज्वर, पित्त-वमन, संधिवात, चर्म-रोग, कुष्ठ, उपदंश की द्वितीय अवस्था, हृदय की धड़कन (Palpitation of the Heart), मूत्ररोग, विष के उपद्रव, इत्यादि अनेक रोगों पर यह लाभ पहुँचाती है, जिनका विवेचन यहां अप्रासङ्गिक होगा।

कुमारी (घी गुवार) *ALOE VERA*

उदर रोगों पर दूसरी कारगर वनस्पति है। यह वनस्पति आयुर्वेद में प्रशंसित है ही, साथ में ग्रामीण लोगों के अन्दर भी यह अत्यन्त लोक-प्रिय है।

यह वनस्पति समशीतोष्ण होने के कारण चाहे जिस ऋतु में और चाहे जिस प्रकृति के रोगी को देने मे अपना निश्चित असर बतलाती है। इसके सेवन से मल की शुद्धि होती है और शरीर में संचित रोग-जनक तत्व निकल जाते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होकर भोजन का पाचन व्यवस्थित रूप से होने लगता है। रस, रक्त, मज्जा, वीर्य, इत्यादि सम धातुओं की इससे शुद्धि होती है। जिसमे हर प्रकार की खांसी, श्वास, उदर शूल, मन्दाग्नि, कब्जियत, तिल्ली और लीवर के रोग, कामला, पाण्डु, अम्लपित्त इत्यादि सब रोग इसके सेवन से नष्ट होते हैं।

लेप के लिये भी यह एक उत्तम वस्तु है, इसके गूदे को पेट के ऊपर बांधने से पेट की गांठ गल जाती है, कठिन पेट मुलायम होजाता है और आंतों में जमा हुआ मल दस्त की राह बाहर निकल जाता है।

घी-गुवार के रस से तैयार किया हुआ एलुवा, घी-गुवार की अपेक्षा अधिक गर्म होता है। छोटी मात्रा मे यह पाचन और यकृत की क्रिया को सुधारता है, बड़ी मात्रा में यह विरेचक, मूत्रल, कृमिनाशक और आर्तव प्रवर्त्तक धर्म बताता है। एलुवा गर्म और भेदक होने की वजह से गर्भिणी स्त्रियो को नहीं देना चाहिये, क्योंकि इससे गर्भपात होने का डर रहता है। इसीप्रकार दूसरे मनुष्यो को भी इसे लगातार नहीं लेना चाहिये क्योंकि इससे गुदा में दाह और मरोड़ी पैदा होती है।

घी गुवार का गूदा, हल्दी और सेंधे नमक के साथ खिलाने से कब्जियत, मन्दाग्नि, पाण्डुरोग, गुल्म इत्यादि रोगों में बहुत लाभ

होता है। इससे पाचन क्रिया सुधर कर आंतों में जोश पैदा होता है। दस्त साफ होता है। रस क्रिया शुद्ध होती है, रस ग्रन्थि की विनिमय क्रिया सुधरती है। नवीन और शुद्ध रक्त पैदा होता है। फीका रङ्ग, मोटा पेट, कब्जियत और इन लक्षणों के साथ होने वाली स्त्रियों की मासिकधर्म की रुकावट को दूर करने के लिये घीगुवार के समान दूसरी औषधि नहीं है। बड़ी आंत की शिथिलता, अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, कब्ज, शारीरिक-थकावट और पाण्डु रोग में इस वनस्पति का प्रयोग बहुत लाभदायक होता है।

घीगुवार और गिलोय का योग-

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है, भारत में पाई जाने वाली इन दोनों दिव्य वनस्पतियों में प्रकृति ने बहुत मैत्री रक्खी है। इन दोनों वनस्पतियों का योग मानव शरीर में रसायन का काम करता है।

यौवन के प्रारम्भ से ही प्रति शीतकाल में नियमित रूप से घी-गुवार के गूदे का सेवन करने से और उसके ऊपर नीम गिलोय के स्वरस पान करते रहने से, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था में जब कि इन्द्रियों की शिथिलता का युग प्रारम्भ होता है, मनुष्य का यौवन इस औषधि के प्रयोग से सुरक्षित रहता है।

इस औषधि के प्रयोग का एक ज्वलन्त उदाहरण इस समय हमारे सामने मौजूद है। इनका नाम मिट्ठूराम जी है, जाति के बारहट हैं, इनकी अवस्था इस समय करीब ८५ पचासी वर्ष की है, ये घर के बहुत गरीब हैं, मांसाहार से हार्दिक घृणा करते हैं, पौष्टिक अन्न बहुत

कम खाते हैं, मगर वीस वरस की उम्र से आज तक प्रतिदिन घी गुवार का गूदा और गिलोय के रस का सेवन करते आ रहे हैं। इनका कहना है कि मैं प्रति दिन ४-५ पाठे छील कर उनको खा लेता हूँ और उस पर पाव--आध सेर गिलोय का रस पी लेता हूँ। इसके सिवाय जीवन भर आज तक किसी औषधि का सेवन नहीं किया। इनकी यह हालत है कि सारी उम्र में इन्होंने शरीर पर एक धोती और एक पगड़ी के सिवाय कभी किसी वस्त्र को धारण नहीं किया, कड़ाके की सर्दी और जेठ की भयङ्कर गर्मी मे भी इनको वस्त्र और जूते की जरूरत नहीं होती। उनके बत्तीसों दांत मोती की लड़ी की तरह अखण्ड और सुरक्षित हैं और इनका कण्ठ स्वर आज भी वालकों की तरह है। यह अभी भी बालकों की तरह गाते हैं और यह दिन भर में ३०मील पैदल यात्रा कर सकते हैं।

इन्होंने अपने लड़के पूरन को भी थोड़ी उम्र से ही घी गुवार और गिलोय का सेवन कराया, जिसका प्रभाव यह है कि वह भी अत्यंत हट्टा-कट्टा और स्वस्थ है, एक औसत दर्जे के आदमी से वह दुगुना परिश्रम कर सकता है। अभी तक दो शादिया कर चुका है और तीसरी शादी करने की फिक्र में है।

जहां तक हम समझते हैं ये दोनों वनस्पतियां सब प्रकार के उदररोगों और जीवनी शक्ति की कमी दूर करने के लिए अत्यन्त दिव्य हैं, अधिकांश वैद्य इनका प्रयोग कराते ही हैं, जो अभी तक इनका प्रयोग न कर पाये हों, उन्हें अवश्य इनका प्रयोग करके इनके आश्चर्यकारी गुणों से परिचित होना चाहिये।

उदररोग निदान एवं चिकित्सा ।

ले०—महामहोपाध्याय श्री. पं. भागीरथ जी स्वामी, आयुर्वेदाचार्य ।

नाभि और स्तनों के मध्य भाग का नाम उदर है। यथा—'नाभिस्तनयोर्मध्यभागो उदरम् ।' जिसके अनुसार उदर में अनेक रोग होते हैं, परन्तु आयुर्वेद में केवल ८ प्रकार के ही उदररोगों की गणना है। शेष के उदरयन्त्रादि में उत्पन्न होने से उनके नामों का तथा लक्षणों का वर्णन किया गया है। पेट की अग्नि मन्द होजाने से एवं शरीर के समस्त अवयवों का ह्रास होने से प्राय: सभी रोग उत्पन्न होते हैं।

प्राय: निरन्तर मन्दाग्नि रहने से आठ प्रकार के उदररोग उत्पन्न होते हैं। मलिन, कूड़ा कर्कटयुक्त अथवा दोष युक्त एवं रोगोत्पादक जीवाणु युक्त अन्नों के तथा जल के सेवन से तथा निरन्तर उदर में मल के संचय से भी उदररोग उत्पन्न होते हैं। संचित दोष मलिन होकर प्राण वायु तथा उदराग्नि के कार्यों को खराब कर स्वेद (पसीना) के बहाने वाले स्रोतों को रोक कर उदररोगों को उत्पन्न करते हैं।

रोगास्सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च ।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसंचयात् ॥

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषास्स्रोतांसि संस्थिता: ।
प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य, जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥

लक्षण-

समस्त उदर रोगों में पेट फूलना, फिरने से अशक्तता (आलस्य) शरीर में दुर्बलता, मन्दाग्नि, शोथ, अङ्गों में शून्यता, वात मूत्र और मल का अवरोध, दाह, तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं—

वातोदर में—हाथ, पैर, नाभि, अण्डकोषों में शोथ और कोखों (कुक्षि) पसली, उदरकटि (पीठ) के मध्य भाग और सन्धियों में भेदन, पीड़ा, सूखी खांसी, शरीर का टूटना, शरीर के अधोभाग में भारीपन, वात और मल का अवरोध होगा। शरीर की त्वचा में कालापन या लाली हो-जावेगी। विना किसी कारण पेट की वृद्धि तथा ह्रास मालूम होगा। पेट में पीड़ा और फटने की तरह हालत होगी। सूक्ष्म काली २ शिराओं से आच्छादित एवं पेट को ठोकने से, धोंकनी की तरह शब्द होकर पेट भर में पीड़ा सहित वायु घूमती रहती है।

पित्तोदर में—ज्वर, मूर्छा, दाह, पिपासा, मुख की कटुता, शिर में चक्कर, अतिसार, त्वचा में पीलापन, उदर में हरितता और पीत-लाल शिरायें फूली हुई हों, पसीना युक्त गर्म (जलन युक्त) उदर हो। पेट या कण्ठ में धूम सा घुटा मालूम हो, स्पर्श से कोमल, शीघ्रता से अन्न का पाक करने वाला, पीड़ायुक्त तथा गर्म उदर होता है।

कफोदर में—शरीर के समस्त अङ्ग गिरने लग जाते हैं। निद्रा अधिक, शोथ, शरीर में भारीपन, जी मचलाना, भोजन से अरुचि, प्यास, खांसी, त्वचा में श्वेतता, श्वास रुकाहुआ सा, चिकना, सफेद धारीयुक्त बढ़ा हुआ, बहुत समय से बढ़ने वाला, कठिनता युक्त स्पर्श करने से शीत, भारी आदि उदर होता है।

सन्निपातोदर में—बहुत कठिन रोग है, जो दुष्ट स्त्रियां अपने पति को वश में कर रखना चाहती हैं या उनकी बुद्धि को भ्रष्ट करना चाहती हैं, वह

अपने नखों को घिस कर या घृत में तल कर या भस्म कर; अथवा अपनी योनि के वाल, अपना मूत्र, अपनी विष्टा, अपने ऋतु के समय के रक्त को किसी अन्न, रबड़ी, पेड़ा, बरफी आदि खाद्यों में, जल आदि पतले खीर, दाल आदि में, मिला कर देती हैं। इसी प्रकार शत्रु लोग अपने शत्रुओं को डाली (अनेक प्रकार के विषों को मिला कर) देते हैं।

वाग्भट्ट के अनुसार अनेक प्राणियों के अङ्ग और समस्त विरुद्ध--औषधों की भस्म, अल्प वीर्य वाले बीजों को मिलाकर बनाया हुआ विष भी गर कहाता है। नानाप्राण्यङ्ग-समस्त—विरुद्धौषध—भस्मना विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः। वाग्भट्ट, अ०३५। इसी प्रकार देशान्तरों के खराब जलों के सेवन से या दूषी विषों से भी सन्निपातोदर होता है।

इससे शीघ्र ही रक्त खराब (कुपित) होकर एवं वात, पित्त, कफ कोप होने से अत्यन्त घोर, अति कठिन, वात-पित्त-कफ के उपद्रव युक्त सन्निपातोदर होता है। वह शरीर की कमजोरी के कारण अति शीत, अति गर्मी, अतिवर्षायुक्त (मेघाच्छन्न) समय में कुपित होता है। यदि बार २ कुपित होता है तो रोगी पीला और कृश होजाता है, उसे चक्कर आते हैं और वह बार बार वेहोश हो जाता है।

दूष्योदर में—जब किसी को पाण्डुता, कृशता (शरीर का सूखना) प्यास आदि होजाती है तब उसको दूष्योदर कहते हैं।

प्लीहोदर में—जब अर्धपक्व या अधिक जले हुए व दाहक पदार्थ, अभिष्यन्दि, कफ कारक, पतले दही आदि पदार्थों के निरन्तर सेवन से, रक्त अत्यन्त दुष्ट होकर एवं कफ कुपित होकर प्लीहा, तिल्ली में शोथ उत्पन्न कर उसको बढ़ा देता है। जब वह अधिक बढ़ जाता है तब उसको प्लीहोत्थ-जठर कहते हैं। यह मेलेरिया ज्वर के समय अधिक खराब होकर पीछे समस्त पेट को आच्छादित कर लेता है, तब वह असाध्य हो जाता है।

यकृद्‌ल्युदर में–जब उदर में हृदय के दक्षिण की ओर अधोभाग में शोथ होकर यकृत् बढ़ जाता है तब रोगी अत्यन्त कष्ट युक्त होता है। इसमें मन्द २ ज्वर रहता है, इसमें अग्नि मन्द होती चली जाती है। ज्यों २ कफ और पित्त के उपद्रव (जलन, पीड़ा, जी मचलाना, भ्रम, मुख में चहेम) बढ़ते जावें, बल कम होकर पीलापन बढ़ता जाता है। जिस समय प्लीहा और यकृत् दोनों बढ़ते हैं, तब इसको यकृदाल्युदर कहते हैं। यह असाध्य व्याधि है। इसमें उदावर्त, आनाह, पीड़ा, मोह पिपासा, जलन, ज्वर से घबराहट, पित्त का कोप, गौरव, अरुचि, उदर की कठिनता, कफ का प्रकोप आदि होता है।

बद्धगुद में – जिसकी आंतों में अन्न चिपक जाता है, अथवा चहेमदार कोई पदार्थ चिपक जाता है, अथवा छोटी पथरी पड़ जाने, आंत रुक जाने, आंत का कार्य क्रम रुक जाने से, आंतों में मदोष मल सञ्चित होकर कूड़े की तरह नाड़ियों में भर जाता है। उसकी गुदा बन्द हो जाती है और बड़ी कठिनता से मल बाहर निकलता है। वह धीरे २ संचित होकर बढ़ता हुआ हृदय और नाभि से प्राप्त होता है। इसको बद्ध-गुदोदर कहते है।

क्षतोदर में—अन्न से मिला हुआ महीन कांटेदार शल्य या कठिन-सीसा, पत्थर की शर्करा खा लेने से आंतों में घुस कर आंतों को फाड़ डालता है। अथवा खाया हुआ शल्य पक्वाशय से उल्टा आकर तथा अति भोजन से जम्भाई, छींक आदि कारणवश आंत फट जाने से, घाव होने से, आंत से गुदा मार्ग होकर बार बार वेदना सहित पानी के समान पतला स्राव निकलता है और कभी लाल, पीला, काला स्राव भी होने लगता है।

परिस्रावोदर में—नाभि के नीचे पेट बढ़ा हुआ हो, सूची चुभोने की सी पीड़ा हो, चीरा डालने की भांति विशेष पीड़ा हो उसे परिस्रावी उदर-रोग कहते हैं।

दकोदर में—जिसने घृतादि पान किया हो, जिसने स्नेहवस्ति, अनुवासन वस्ति का प्रयोग किया हो या जिसको निरूहण वस्ति दी गई हो, जिसको वमन कराया गया हो, जिसको विरेचन कराया गया हो, वह यदि ऐसे समय में शीतल जल का पान करता है तो उसके जल-वाहक (रस, रक्त, मेदा, मज्जा और शुक्र वाहक) स्रोत कुपित होकर भयानक जलोदर रोग उत्पन्न करते हैं। अर्थात् उसके स्रोत में चिकनाई उपस्थित होकर धौंकनी या मशक की तरह नाभि के चारों तरफ पेट को फुला देते हैं। दबाने से धौंकनी की तरह पेट दबकर फिर फूलता है, कंपन के समान शब्द होता है। इससे पानी धीरे २ उदरकला से चूकर ऊपर की तह में भर जाता है। इसका नाम जलोदर है। इसी प्रकार उदर के जल से प्रायः समस्त रोग कठिनता से आराम होने वाले होते हैं। बलवान के पेट में पानी आ भी जाय, नवीन रोग हो तो, साध्य (आराम होने योग्य) होता है। एक पक्ष से ऊपर बद्धगुद रोग छिद्रांत्र-जलोदर आराम न होकर मृत्यु दाता होता है। जिसके नेत्रों में शोथ हो, लिंग टेढ़ा हो गया हो, जिसकी त्वचा गीली और रूक्ष पड़ जाय बल, रक्त, मांस, अग्नि नष्ट होजाय, पसली टूट गई के समान होजाय, अन्न से विद्वेष, शोथ, अतिसार हो तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है।

यद्यपि आयुर्वेद के निदान में भी यकृत, लिवर (Liver) रोग का, निदान, चिकित्सा का वर्णन अच्छा है, परन्तु वह सूत्र रूप से है। यकृत के भीतर अनेक व्याधियां होती हैं, क्योंकि यकृत ही एक यन्त्र है जो पित्त बना कर मल की पाचन क्रिया, रक्त के रंजन करने की क्रिया, शरीर में अग्नि यथास्थान में पहुँचाने की क्रिया करता है। इसकी क्रिया में गड़बड़ होने से या इसके भीतर कोई भी रोग उत्पन्न होने से, अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—

अधो दक्षिणतो ज्ञेया हृदयात् यकृतस्थितिः ।
व्याधयो बहवस्तत्र, भवेयुर्भूरिदुःखदा ॥

यकृत पाक—जब यकृत फल की तरह पक कर नर्म होजाता है, तब मलावरोध होकर पित्त कम बनता है। शरीर में पीलापन, नेत्रों में पीतता अथवा मुख पर कीच के समान श्यामता, वमा के समान कोमल व छिछला मूत्रस्राव, अत्यन्त डकारें सर्वदा पड़े रहने की इच्छा, आलस्य, शिथिलता, पेट का गुड़गुड़ करना (शब्द करना) फूलना, वमन होना, जी मचलाना, मुख में बार २ पानी भर आना, प्रातःकाल मुख कडुवा होना, यकृत की गर्मी कठिन होजाना, अग्निमन्दता, शरीर का रङ्ग पीली मिट्टी के समान होना, जिह्वा अधिक मलयुक्त रहना, जिगर में खींचने की तरह या निचोड़ने की तरह पीड़ा होना आदि लक्षण होते हैं।

यकृद्वृद्धि—जब यकृत वायु से बढ़ जाता है तब उसमें पीड़ा होती है। दक्षिणी तरफ छाती में, दाहिने कंधों से दाहिने हाथ तक, दक्षिण पीठ तथा दक्षिण पसलियों से नीचे की तरफ पीड़ा होती है तथा जड़ता, समस्त अङ्गों के संचालन में बाधा, मुख की कटुता, दक्षिण हाथ के पसारने और समेटने में बाधा होती है। मल का रङ्ग खराब, नाना रङ्ग वाला, फटा हुआ, काम की अल्प प्रवृत्ति, मूत्र लाल होना, किसी काम में मन न लगना, उदासी, बलहानि, ज्वर रहना, मल का कम आना, नेत्रों में पीतता आदि लक्षण होते हैं।

यकृद् विद्रधि (जिगर का फोड़ा)—जब जिगर में फोड़ा होता है तब भी उक्त सब लक्षण प्रायः होते हैं और पीड़ा के कारण बाईं तरफ की करवट से रोगी सोता है। जिगर में सुई गड़ाने के समान या कटने के समान पीड़ा होती है। दाह होती है, निद्रा नाश, प्यास, मुख, पैर, हाथ आदि में शोथ, सत्व का क्षय होता है। इस यकृत् के फोड़े वाला कोई २ भाग्यवान रोगी बचता है, अन्यथा यह रोग प्राणघातक है।

यह रोग मद्यपान, अत्यन्त गर्म भोजन, भारी पदार्थों का निरन्तर सेवन, मल मूत्रादि का निरन्तर रोकना, दिन में सोना, रात्रि में निरन्तर जागना अत्यन्त मैथुन करना, पेट पर या पीठ पर माथे पर अत्यन्त भारी चीज लादना

अत्यन्त मार्ग चलना, जिगर पर चोट लगना आदि अन्य भी ऐसे भी कारणों से यकृत् का फोड़ा बनता है। मेरे अनुभव से बार २ चाय पीने से जिगर में पीड़ा होजाती है। उस समय डाक्टरों के क्षार, एसिड-विशिष्ट औषधों के सेवन से पीड़ा तो मिटती है किंतु बार २ कभी २ फिर होने पर निरन्तर सेवन करने पर विद्रधि होना आरभ हो जाता है। तब शीत ज्वर और पित्त ज्वर निरन्तर आता है और ज्वर सर्वदा शरीर में रहने लगता है। उस समय डाक्टर और वैद्यों को क्षय, राजयक्ष्मा का पूर्ण सन्देह या निश्चय होता है। परन्तु छाती का चित्र लेने से टी० बी० के कोई चिन्ह नहीं मिलते हैं। तथापि जब तक फोड़ा फट नहीं जाता, प्राण नहीं निकलते वे सन्देह में ही पड़े रहते हैं, यह हमने कलकत्ते के स्वर्गवासी बाबू प्रेमचन्द जी सिंहानिया की बीमारी मे अनुभव किया था। विशेष देखना हो तो लघु आयुर्वेद विज्ञान को देखिये।

यकृदश्मरी-यद्यपि आयुर्वेद के परम्परागत ग्रन्थों में यकृत् की पथरी का नाम-मात्र भी वर्णन नहीं, परन्तु आधुनिक सिद्धांत के अनुसार यकृत के भीतर पथरी पड़ जाती है। वह भी असाध्य प्राण नाशक है। आपरेशन द्वारा निकाल देने पर भी यकृत् में अन्य काम करने वाली क्रियाओं की कमी हो जाती है। इससे भी स्वास्थ्य बिगड़ता रहता है। भाग्य-वश हज़ारों में कोई २ शस्त्रक्रिया से ठीक भी होजाता है। यकृत् की पथरी तथा विद्रधि के समान लक्षण होते हैं, कोई २ लक्षण असाध्या-वस्था होने से प्रतीत होते हैं, इसलिये इसे भी विद्रधि के अन्तर्गत मान कर ग्रन्थ बढ़ने के भय से विशेष नहीं लिखा है।

उदररोग चिकित्सा-

उदररोग प्रायः दोषों के संघात से उत्पन्न होते हैं, अतः वातादि शमन करनेवाली क्रिया करनी चाहिये। इसमे दीपन और हल्के पदार्थ खाने को देने चाहिये।

इनमें लाल सांठी चावल, जौ, मूग, जागल-देशज मृग-पक्षियों का मांस-रस, दूध, गोमूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, सीधु देना चाहिये।

उदररोगों मे दोषों का अत्यन्त सञ्चय होने मे स्रोत (वहने वाले) मार्गों का अवरोध होने से रोग की वृद्धि होती है, अतः नित्य विरेचन क्रिया कर दोषों को निकालना चाहिये।

वातोदर-रोगी को विरेचनार्थ गोमूत्र में अथवा दूध मे अथवा विरेचन कारक वातनाशक क्वाथ मे मिला कर एरण्ड तैल पिलाना चाहिये। वलवान वातोदर रोगी हो तो स्नेह और स्वेद से चिकित्सा करनी चाहिये। पहिले स्नेह और स्वेदन करके पीछे स्निग्ध विरेचन देना चाहिये। जब दोष हट जावे तब आध्मान नष्ट करने के लिये, पेट के हलके होने पर, पेट के ऊपर कसकर कपड़े की पट्टी बांधना चाहिये, जिससे पेट फूलने न पावे। तीव्र क्षुधा लगने पर वात-नाशक पदार्थ डाल कर बनाई हुई पेया पिलानी चाहिये।

वातोदर में—पिप्पली चूर्ण, लवण, जीरा मिला कर पेया पिएं।

पित्तोदर में—शर्करा, काली मिर्च, जीरा मिलाकर पिलावे।

कफोदर *रोग में*—अजवायन, सैंधव, स्याह जीरा, सोंठ, मिर्च, पीपल मिलाकर तक्र पिलाना चाहिये।

त्रिदोषज (सन्निपातोदर) में—सोंठ, काली मिर्च, पीपल, यवक्षार, लवण युक्त तक्र पिलाना चाहिये। जिनके पेट में भारीपन रहता है, अरुचि रहती है, उनके लिये यह अमृत के समान है।

वातोदर में-बासी मुख दूध का अभ्यास और दशमूल क्वाथ की निरूहण वस्ति का प्रयोग करना चाहिये सामुद्रादि चूर्ण खाना चाहिये।

सामुद्रादि चूर्ण-

४२-समुद्र नमक, सैंधव सौवर्चल लवण
यवक्षार देशी अजवायन अजमोद
पिप्पली चित्रक सोंठ हींग विडनमक
—समान भाग लेकर और चूर्ण कर घृत में मिलाकर चाटना चाहिये। यह वातोदर, गुल्म, अजीर्ण, वातरक्त, ग्रहणी विकार, बवासीर, पाण्डु-रोग, भगंदर को नष्ट करता है।

स्नुही-अपूप-

४३-चावलों के चूर्ण को स्नुही (सेंहुड) दुग्ध मे मिला कर घृत में पुए (गुलगुले) बनाकर सात दिन खाने से बढ़ा हुआ उदर-रोग अवश्य ही मिट जाता है।

महिषी मूत्रपान-

४४-भैंस के दूध में, भैंस का मूत्र मिला कर, प्रातः काल ७ दिन तक निराहार रहकर पीने से ७ दिन में जठर-रोग मिटते हैं। या भैषज्यरत्नावलि में कहा हुआ विन्दुघृत दें। एक विन्दु देने से एक दस्त, दो से दो दस्त, तीन से तीन दस्त, एवं जितने विन्दु दुग्ध में मिलाकर या शर्करा के साथ मिलाकर दिये जावें, उतने ही दस्त आते हैं, घृत यह उदररोगों मे उत्तम है।

इसीप्रकार भैषज्यरत्नावलि का महाविन्दुघृत देना चाहिये। प्लीहा और गुल्म में विन्दुघृत तीन माशे देना चाहिये। एवं कच्छप

रोग में चार माशे देना चाहिये। यह सपरिग्रह, सनिचय जैसे शूल-गुल्म को नष्ट करता है। उदररोगों के लिये विरेचनार्थ नाराच, या वृहद्-नाराच घृत को देना भी उत्तम है।

इसीप्रकार इच्छाभेदी रस, अभया वटी, नाराच रस, चूलिका वटी, भेदिनी वटी, शोथोदरारि लोह देना चाहिये। ये सब उदररोग, पांडु रोग, कामला, हलीमक, अर्श, भगंदर, कुष्ट तथा गुल्म नाशक हैं।

जलोदर —जलोदरारि रस का प्रयोग अत्युत्तम है, मैंने लेख वृद्धि के भय से केवल नाम लिख दिये हैं। यदि पूर्ण प्रयोग देखने हों तो भैषज्यरत्नावलि से देखने चाहिए।

प्लीहा शांति के लिये तथा यकृत शान्ति के लिए यवक्षार डालकर घृत कुमारी का ऽ— स्वरस पीना चाहिए।

हृदय के शूल पर—मृगशृङ्ग पुटपाक (शराव संपुट मे दग्ध मृगशृङ्ग के चूर्ण) को गो-घृत मे मिलाकर पीने से निश्चय ही हृदय शूल मिट जाता है।

वात *शूल में*—नागरादि क्वाथ दें।

पित्त शूल में—त्रिफलादि क्वाथ दें।

कफ *शूल में*—एरण्डमूलादि क्वाथ दें।

हृद्रोग में—दशमूलादि क्वाथ दें।

समस्त उदररोगों *में*—पथ्यादि क्वाथ या पुनर्नवादि क्वाथ दें।

शोथोदर *में*—पुनर्नवादि क्वाथ या पथ्यादि क्वाथ दें।

यकृत *प्लीहोदर में*—रास्नादि क्वाथ दें।

अन्त्रवृद्धि और परिणाम शूल में–विष्णुक्रांता-कल्क, या शुण्ठी कल्क दें।
उदररोग में—नारायण चूर्ण या पंचसम चूर्ण दें।
मन्दाग्नि में—वडवानल चूर्ण दें।
गुल्म में—चित्रकादि चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये।
शूल में—हिंग्वादि चूर्ण देना चाहिये।

नोट–यह सब प्रयोग शार्ङ्गधर संहिता में लिखे है।

सीहा रोग की समस्त क्रिया, यकृत रोग में भी कर सकते हैं। प्रातःकाल यकृत को गोमूत्र से सेकना चाहिये और वायविडंग छोटी पीपल, करंजपत्र का स्वरस डालकर काढा पीना चाहिये। इससे यकृत, सीहा दोनों की शांति होती है।

अथवा जोंक लगवा कर तिल्ली और यकृत से अपेक्षानुसार रक्त निकलवाना देना चाहिये।

अथवा अतिसारणीय क्षार लगाकर वहां का जल निकाल देना चाहिये, किंतु ऐसे समय बड़ी युक्ति से काम लेना चाहिये।

अथवा सहिजना की त्वचा या राई के कल्क का लेपन करना चाहिये एवं दो कर्ष महाद्रावक एक सेर जल मे मिलाकर सीहादि पर मर्दन करना चाहिये या अग्निप्रभावटी का प्रयोग करना चाहिये।

४५–सैंधव　　नरसार　　यवक्षार　　विड लवण
रस सिंदूर　　—प्रत्येक समान भाग।

—सबका चूर्ण कर परवल की जड़ में घोटकर उड़द के समान वटी बनाकर छाया में सुखाकर प्रात काल नालमखाने के स्वरस के साथ

खाने से, घोर यकृत रोग, अति दारुण प्लीहा, वा.ाष्ठीला, वन्हिमांद्य, गुल्म-रोग अवश्य नष्ट होता है।

इसीप्रकार लघु आयुर्वेद विज्ञानोक्त यकृच्छूलमर्दिनी-गुटिका, कलधौतादि रस, यकृद्वारणसिंह रस देना चाहिये।

यकृत-विद्रधि (फोड़ा)-

यकृत के भीतर विद्रधि (फोड़ा) होजाने पर हिक्का, श्वास और पीड़ा होती है। उससमय शस्त्र कर्म ज्ञाता से त्रिकूर्चक शस्त्र के द्वारा छेदन कराकर पूय निकलवा कर चिकित्सा करावे। इसकी पूर्ति के लिये अहिफेनासव, क्षीर, मांस रस का सेवन करावें। इस प्रकार नीरोग होकर २ मास व्यतीत होने पर लघु अन्न का प्रयोग करना चाहिये।

यदि विद्रधि बड़ी हो तो उत्पलशस्त्र का प्रयोग करे। पथ्य से रहना चाहिये अन्यथा और विद्रधि होने का भी भय होता है।

मद्यपान, अग्नि सेवन, धूप में वैठना, परिश्रम, भारी अन्न, विषम भोजन, तीक्ष्ण पदार्थ खाना, दिन में सोना, रात में जागना, तिरछा या टेढ़ा होकर सोना, शोक, चिन्ता, भय, क्रोध, भय, मूत्रादि के वेगों का रोकना आदि निषिद्ध हैं। जो बातें जीर्ण ज्वर में हितकारक हैं वही इसमें हितकारक हैं अत: उन पर ध्यान रखना चाहिये।

स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ, लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम् ।
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां, सम्यग्विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण ॥

उदर शुद्धि के उपायों में सबसे महत्वपूर्ण, सुगम तथा आशु-फल-प्रद और मनोवाञ्छित कार्य करने वाला जो उपाय है वह एक मात्र "अधो विरेचन"—जुल्लाब या Purgative ही है। अर्वाचीन काल में तो विरेचन प्रत्येक की जिह्वा पर है। क्या बच्चा, क्या बूढा, क्या स्त्री और पुरुष, पठित और अनपढ़ सभी जानते हैं कि जब भी उदर में कोई विकार उत्पन्न हो, झट विरेचन ले लो। परन्तु विरेचन की पूर्ण परिचिति न होने से ही आजकल अधिकतर उदररोग हो रहे हैं। जहां विरेचन उदर शोधक होने से सब उदर-रोगों को नष्ट करने वाला है वहां अनभिज्ञता वश यह सम्पूर्ण उदररोगों का कारण बना हुआ है। कभी गुलकन्द खाली, कभी Vegetable Laxative Pill खाली, बड़ा बल लगाया तो एरण्ड स्नेह (Castor oil) ले लिया। बस, आधुनिक प्रचलित विरेचन यहीं तक सीमित है, जिसके कारण विरेचन में दुष्टता हो जाती है और :—

स्यात् श्लेष्मपित्तानिलसम्प्रकोपः, सादस्तथाग्निर्गुरुता प्रतिश्या।
तन्द्रा तथा छर्दिररोचकश्च, वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते॥

जहा पर अग्नि दीप्त होनी थी वहा पर मन्दाग्नि हो जाती है, मन्दाग्नि से भोजन नहीं पचता अत: अजीर्ण, अम्लपित्त, प्रवाहिका तथा अन्यान्य उदर रोग हो जाते हैं। अब रोगी बहुश रोगों का घर होकर वैद्यराज जी के पास पधारता है, यह सब क्यों? क्योंकि विरेचन कर्म का मिथ्यायोग हो रहा है। अब मैं पाठकों के समक्ष अधो-विरेचन के भेद तथा भिन्न २ विरेचक औषधियां उदरशोधन में क्या २ कार्य सम्पादन करती हैं इस पर पूर्ण विवेचना करूंगा, ताकि पाठक यह जान सकें कि विरेचन तथा विरेचक क्या होते हैं और वे उदर पर क्या २ और कैसे प्रभाव डालते हैं?

विरेचक औषधियां-

वे होती हैं जो कि क्षुद्र तथा वृहदन्त्र जो कि मल अथवा वायु पूर्ण हो उनको मल इत्यादि से रहित करके हर प्रकार शुद्ध करदें। इसीलिये इनको Purgative कहते हैं अथवा Aperients or Evacuants (खाली करने वाले) के नामों से भी पुकारे जाते हैं।

विरेचन अथवा विरेचक के निम्न भेद हैं—

१—मधुर विरेचक (Laxatives)—

वे औषध जो कि अन्त्र की आकुञ्चन-प्रसार गति को बढ़ा कर सरल रीति से थोड़ी मात्रा में मल त्याग कराते हैं, उन्हें मधुर विरेचक कहते हैं। यथा—अञ्जीर, गंधक, मधु, बादामरोगन, जैतून का तैल

(Olive oil), इसी में Vegetable Laxative pills (सुख विरेचक वटी), मधुर विरेचन चूर्ण (Pulv. glyceriza) आदि समाविष्ट होते हैं।

साधारण विरेचक (Simple Laxatives)—

वे औषध जो कि अन्त्र की आकुचन व प्रसार गति को बढाती हैं, तथा जो अपनी प्राकृतिक शक्ति से अन्त्र, उदर की दीवार और उदर-स्थित अन्य अङ्गों मे से तरल खींच करके उनको मल मे मिला देते है, जिससे कि मल तरल रूप में बहि.प्रसरण करता है। ये औषध मल को मधुर विरेचकों की भाति बाध कर नहीं निकालते, अपितु मल को तरल रूप में प्रवृत्त करते हैं। मधुर विरेचकों की अपेक्षा प्रभाव में किंचित् उग्र होते हैं और उदर में किसी प्रकार की वेदना अथवा प्रवाहिका आदि उत्पन्न नहीं करते; यदि इनको मात्रा में दिया जाय, यथा—एलुआ (कुमारी घनसार), सनायपत्र, एरण्डस्नेह। अंग्रेजी दवाइयों में:- Paraffin Liquid, cascara Sagrada, Phenolpthalun Magnesia, Rhubarb आदि। हमारे रुक्मिश रस, सुख विरेचक वटी आदि योग भी इसी भांति के विरेचक हैं।

३–तीव्र विरेचक—

(क) साधारण तीव्र विरेचक (Cathartes)—

इनको अंग्रेजी में Drastic purgatives भी कहते हैं। ये अन्त्रगति को बहुत बढ़ा देते हैं और अति मात्रा में तरल निकालते हैं। श्लेष्मा भी निकालते हैं साथ ही उदर में शूल (मरोड, ऐंठन) भी उत्पन्न कर देते हैं। ये औषध अति मात्रा में विरेचन लाते हैं, प्राय: ये अन्त्रव्रण, गुद-

पाक, अन्त्रशोथ (Colitis) आदि अन्यान्य उपद्रव उत्पन्न करके अपना तीव्र कुप्रभाव दिखाते हैं। यथा -जयपाल तथा उसके तैल, काला-दाना, इन्दुवारुणी आदि। इनके कुप्रभाव को नष्ट करने के लिए इनके साथ यवानिका, कृष्णमरिच, शुण्ठी आदि मिला दिये जाते हैं, तथा कुछ की शुद्धि की जाती है जिससे ऐंठन आदि उपद्रव उत्पन्न नहीं होते।

(ख) *अति तीव्र विरेचक* (Hydragogues)—

ये औषध अति तीव्र विरेचक तो हैं ही, अन्त्र से भी तरल निकालती है किन्तु इनमे विशेषता यह है कि ये औषध रक्त से भी तरल निकाल कर और बिना कष्ट किये अधोमार्ग से प्रवृत्त होती हैं। इस भांति ये रक्त की घनता को बढ़ा देते हैं! यथा:- त्रिवृत् अंग्रेजी औषधों में Jalap, Scammony, Elaterium आदि।

(ग) *क्षार विरेचक* (Saline Purgatives):—

ये औषध अन्त्र व उदर गुहा में से तरल को खींच कर मल में मिला देती हैं, इनमें यह शक्ति होती है जिससे अन्त्र की दीवार अपने भीतर पुन. जलीयांश का शोषण नहीं करती। ये औषधें वास्तव में विरेचक नहीं होतीं, परन्तु जो तरल निकालती हैं उस तरल द्वारा अन्त्र-गति इतनी तीव्र हो जाती है कि मल त्याग विरेचनों की भांति होने लगता है। इस प्रकार के विरेचक प्राय: वातरक्त, आमवात आदि व्याधियों में अच्छा कार्य करते हैं। Fruit salt (फ्रूटसाल्ट), Kruschen salt तथा कई गर्म गन्धक युक्त चश्मों का पानी इस प्रकार के विरेचक हैं।

(घ) पित्त विरेचक (Chologogue Purgatives)—

ये औषध यकृत को कार्य में प्रवृत्त करके अथवा ग्रहणीकला

तथा अन्त्र को अधिक कार्य में प्रवृत्त करके यकृत स्थित पित्ताशय में से पित्त को वहि:प्रवृत्त करते हैं, जिससे यकृत् में स्थित पित्तप्रणाली खुल जाती है; यदि उसमें शोथ हो तो वह भी हट जाता है। इसी प्रकार के विरेचक पित्ताश्मरी के भी निष्काशक होते हैं। इनके सेवन काल में हरित् वर्ण का मलत्याग होता है जो कि तीव्र पित्त के मल में मिश्रण का सूचक है। यथा :— कैलोमल, एलुवा आदि। अंग्रेजी औषधों में (Podophyllum, Rhubarb, Soda salicylas) आदि।

अधो विरेचन प्राय मोटे अर्थों में मल निःसरणार्थ प्रयुक्त होता है, परन्तु यह विधि (विरेचन कम) अन्य कई कार्यार्थ भी प्रयुक्त होता है। निम्न वे विशेष कार्य हैं जिनका संपादन विरेचन द्वारा किया जाता है।

१—अन्त्र, मलाशय, कोष्ठ आदि संस्थानों की शुद्धि के निमित्त, जिससे उनमें किसी प्रकार की रुकावट उत्पन्न न हो और वे अपना कार्य भली-भाति निभा सकें।

२—विरेचन हार्दिकी, वृक्कीय तथा याकृत आर्द्र शोथ में रुधिर से तरलांश को खींच कर मल द्वार से निःसरण करता है, इस भांति उक्त शोथ का निवारण होता है।

३—तीव्र ज्वर, पुराण ज्वर, पित्त ज्वर आदि को नष्ट करता है। विरेचन आने पर ज्वर का तीव्र वेग एकदम कम हो जाता है। पुराण ज्वर तथा पित्त ज्वर, विरेचक औषधों के प्रयोग से अपनी शक्ति त्याग कर शरीर को शक्तिमय बना देते हैं।

४—रुधिर के अधिक दबाव में (High Blood Pressure), सुषुम्नातर्गत शोथ तथा मस्तिष्क धमनी स्फोट (Apoplexy) आदि में रक्त का

दबाव कम करके उक्त रोगों का वेग तथा उनकी शक्ति कम कर देते हैं।

५—अर्श, हर्निया तथा धमनी की शोथ या स्तंभ आदि में उनके निवारणार्थ प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि अर्श में ईसबगोल की भूसी (छिलका) तथा एरंड स्नेह अधिक व्यवहृत है।

६—विरेचन पित्त निष्काशक है। इस कारण पित्ताशय की प्रणाली खुल जाती है। पित्त प्रणाल्यवरोध, पित्ताशय शोथ तथा पित्ताश्मरी आदि व्याधियों को पित्त निष्काशक विरेचन समाप्त कर देते हैं।

७—विरेचन रक्त शोधक है। विरेचन रक्त स्थित कुछ एक अनावश्यक पदार्थों को निकाल देता है जिनका कि रक्त में समावेश हो जाती है। यथा:—रक्तस्थित पित्त, यूरिया, यूरिकाम्ल आदि।

पुरातन काल में उदर शोधनार्थ जो विधियां व्यवहृत थीं प्रायः वही विधियां अर्वाचीन काल में भी प्रचलित हैं। हां, इतना अन्तर अवश्य है कि आजकल प्रायः बिना विचारे अथवा सूक्ष्म विचारों को दृष्टि में न रखकर विरेचन का व्यवहार होता है। विरेचन दे दिया जाता है परन्तु यह नहीं देखा जाता कि सम्यग्विरेचन हुआ कि नहीं? वास्तव में आधुनिक काल में यही समझा जाता है कि ३-४ बार मल प्रवृत्त हो जाना उत्तम विरेचन है और इससे ही उदरशोधन हो जाता है, हम वे महर्षि-वाक्य भुला देते हैं.—

दशैव ते द्वि-त्रिगुणा विरेके, प्रस्थस्तथा द्वि-त्रि-चतुर्गुणश्च।

अर्थात् कोष्ठ शुद्धि में यदि दस विरेचन हों तो अवम शुद्धि

जाने। आजकल यदि दस विरेचन हों तो समझा जाता है कि अतियोग होगया। मधुर विरेचन चूर्ण या Lax Vegetable pills खाने को भी हम उदरशोधन में सम्मिलित कर लेते हैं, जिससे केवल मात्र एक विरेचन ही होकर रह जाता है।

पुरातन काल में प्रकृति, कोष्ठ की रूक्षता अथवा स्निग्धता, क्रूरता तथा मृदुता का विचार अधिक किया जाता था। रूक्ष कोष्ठ में स्निग्ध विरेचन का विधान विशेष उल्लेखनीय है, अपितु जहां पर रूक्ष या क्रूर कोष्ठ हो उन्हें प्रथम वस्ति-विधान कराया जाता था तदनन्तर विरेचन। इसके विपरीत आधुनिक काल में वस्ति (Enema) और विरेचन कदापि भी एक साथ अथवा परस्पर सहायक प्रयुक्त नहीं किए जाते। यह समझा जाता है कि वस्ति और विरेचन दो पृथक् २ उपाय हैं। परन्तु पुरातन काल में अन्योन्याभावी समझे जाते थे। यथाः—

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायाम-सेविनाम्,
दीप्ताग्नीनाञ्च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति।
तेभ्यो वस्तिं पुरा दद्यात्, ततः स्निग्धं विरेचनम्॥

आधुनिक काल में कोष्ठ की क्रूरता व मृदुता आदि का विचार कम किया जाता है और इस ओर अधिक ध्यान दिया जाता है कि यह औषध एक और यह अधिक विरेचन लायेगी अर्थात् रोगी की शक्ति के स्थान पर औषध की शक्ति का विचार करते हैं। यही कारण है कि दो २ औंस मैग्नेशिया से भी कई पुरुषों को एक विरेचन तक नहीं लगता। पुरातन काल मे विरेचन विधि बडी महत्वपूर्ण तथा गहन विचार के अनन्तर प्रारम्भ कराई जाती थी। उससमय आयु, बल,

काल, अवस्था, देह की शक्ति, व्याधि की शक्ति आदि के भेद से विरेचन में भेद किया जाता था। यथा:—

> अविरेच्याः बालवृद्धश्रान्त-भीत-नव-ज्वराः।
> अल्पाग्न्यधोगपित्तास्र-क्षतपाय्वतिसारिणः।
> सशल्यास्थापितक्रूरकोष्ठातिस्निग्ध-शोषिणः।
> गर्भिणी नवसूता च तृष्णार्तोऽजीर्णवानपि॥

अर्वाचीन काल में उदर शोधनार्थ निम्न विधियां प्रयुक्त होती हैं।

१–पूर्व वर्णित विरेचक औषधियां।

२–वस्तिकर्म (Enemas)

(क) स्निग्ध वस्ति—इसमें प्राचीन काल की भांति आजकल भी स्निग्ध पदार्थ, एरंडस्नेह तथा ग्लिसरीन आदि प्रयुक्त होते हैं। यह अन्तर अवश्य है कि प्राचीनकाल में विधि पूर्वक सिद्ध-तैल प्रयुक्त किए जाते थे। ये वस्तियां प्रायः उस समय जब कि कोष्ठ अत्यधिक मल पूर्ण हो अथवा उदर में मल की गाठें विद्यमान हों, तब प्रयुक्त की जाती हैं।

(ख) रूक्ष अथवा क्षारीय वस्तियां—उष्णोदक में लवण घोलकर अथवा साबुन (Toilet Soap) घोलकर, ३-४ पाइन्ट (Pints) की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है। जिससे उदर अधोमार्ग द्वारा बहुत ऊपर तक शुद्ध हो जाता है।

(ग) शीत वस्ति (Cold Enemas):—जब उदर मल पूर्ण होने के कारण ज्वर वेग तीव्र होता है और उस समय विरेचन आदि अन्य कर्मों द्वारा शुद्धि कराने से बहुत विलम्ब होता है, कई बार रोगी

की मृत्यु तक हो जाती है, उस समय शीतल जल की अथवा हिम युक्त जल की वस्ति दी जाती है, जिससे तुरन्त उदर शुद्धि हो जाती है और इस कारण ज्वर-वेग एकदम कम हो जाता है, अतः रोगी होश में आ जाता है; इस कर्म को शीत--वस्ति कहते हैं।

३—ग्लिसरीन की वत्तियां (Glycerine Suppositories)—यह विधि मृदु प्रकृति वाले पुरुषों अथवा बच्चों में अधिक प्रयुक्त की जाती है। ग्लिसरीन की वत्तियां होती हैं जिनको गुदा में अन्तःप्रविष्ट कर दिया जाता है। तब मल त्याग शीघ्र ही और बिना किसी कष्ट के होता है।

४-Glycerine Syringes (ग्लिसरीन की पिचकारी)—इस कार्यार्थ शीशे की २ या ४ औंस की पिचकारियां होती हैं, जिनमें आवश्यकतानुसार शुद्ध ग्लिसरीन भर कर पिचकारी का अग्रभाग (Nozal) गुदा में प्रविष्ट कर दिया जाता है अब पिछला सिरा दाब कर ग्लिसरीन मलाशय में वेग से प्रविष्ट की जाती है। इस रीति से १५ या ३० मिनट के भीतर मल त्याग बिना किसी कष्ट के होता है और सबसे उत्तम उदर शोधक उपाय यही है। सान्निपातिक ज्वर (Typhoid Fever) निमोनिया तथा अन्य उदर और वक्ष रोगों में जब कि हम उदर शुद्धि करना चाहते हैं, तो केवल यही उपाय लाभप्रद है।

उदर रोगों में त्रिफला।

लेखक—श्री० रामेशवेदी जी, आयुर्वेदालङ्कार,
हिमालय हर्बल इन्स्टिट्यूट,
बादामी-बाग, लाहौर।
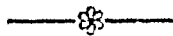
हरड़-

सामान्यतया इसका प्रयोग विरेचन के लिये होता है। बिना गरमी और क्षोभ उत्पन्न किये यह शीघ्रता से कार्य करती है। चिरस्थायी मलबन्ध वाले और जिन्हें पित्त की अधिकता की शिकायत रहती है या कोई दूसरी ऐसी शिकायत हो जिसमें एक कोमल-अनुलोमक लेने की बहुधा जरूरत रहती है, ऐसे व्यक्ति हरड़ के प्रयोग को बहुत सुविधा-जनक पायेंगे।

पक्व-फल मुख्यतया विरेचन के लिए प्रयुक्त होता है। और समझा जाता है कि यह पित्त और कफ को दूर करता है। यह सौंफ जीरा, धनिया आदि सुगन्धित द्रव्यों के साथ मिला कर दिया जा सकता है। अपक्व-फल ग्राही और सारक गुण के कारण बहुत उपयोगी समझा जाता है। यह प्रवाहिका तथा अतिसार की उत्तम औषधि है। इसे सुगन्धित और पाचक द्रव्यों के साथ दिया जाता है।

विरेचन के लिये हरड़ लेने का एक तरीका यह है कि फल के गूदे का दो-चार ड्राम चूर्ण लेकर कषाय या फाण्ट बना लें। इसमें

थोड़े सौंफ के बीजों को भी डाल देना चाहिये और शहद या खांड डाल कर पीना चाहिये। कई लोग रात को बिस्तर पर जाने से पूर्व हरीतकी-चूर्ण की फंकी लेकर ऊपर से गरम पानी पी लेते हैं, जिससे सुबह अनुलोमन होजाय। कोमल प्रकृति वालों को आधे से १ तोला हरीतकी-खण्ड रात को सोते समय एक पाव गरम दूध या जल से देना चाहिये। इससे सुबह पेट साफ हो जाता है। हरड़, लौंग या दालचीनी एक ड्राम, जल ४ औंस, दस मिनिट तक उबाल कर छान लें। विरेचन के लिये यह सब एक मात्रा सुबह ली जानी चाहिये। हरड़ का मुरब्बा रात को सोते समय दस्तावर के रूप में लिया जाता है। अर्श में कठोर कोष्ठ वालों को मल के अनुलोमन के लिए गोमूत्र में उबाली हुई हरड़ गुड़ के साथ खिलानी चाहिए। (अ० हृ० चि० ८, ५५)। शार्ङ्गधर ने हरड़ को उत्तम अनुलोमक के रूप में देखा है। मलों का पाक और भेदन करके, वह लिखता है, जो अवरोध को नीचे ले जाय, वह अनुलोमन द्रव्य समझना चाहिये। जैसे हरीतकी (शा० सं०, पूर्व खण्ड, अ० ४, ३-४)। सुश्रुत, फलों में विरेचन के लिये हरड़ को श्रेष्ठ समझता है। घी में भूनी हुई हरड़ के चूर्ण के साथ पिप्पली चूर्ण और गुड़ मिला कर रोगी को अनुलोमन के लिए दिया जाता है। (चरक, चि० अ० १३; ११६)

आमातिसार में पहले सग्राहक औषधि नहीं दी जानी चाहिये, क्योंकि मल के साथ दोषों के अवरुद्ध हो जाने पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये उसकी उपेक्षा करनी चाहिए और स्वयं प्रवृत्त हुए मल में हरड़ देने से मल के साथ दोषों के बाहर निकल जाने

पर आमातिसार शांत हो जाता है, शरीर हलका होता है और भूख बढ़ती है। (च०, चि० अ० १६; १८-२१)। पक्वातिसार में आम पाचन के लिये गरम जल के साथ हरड़ का चूर्ण खाया जाता है। (च० चि० अ० १६)। चूर्ण की एक माशा की गोलियां प्रवाहिका, विशूचिका, अतिसार और पुरातन अतिसार में दी जाती हैं। हरड़ और पिप्पली के समान भाग चूर्ण को गरम पानी के साथ खाने से बार २ थोड़ी २ मात्रा में होने वाले प्रबल और शूलयुक्त अतिसार नष्ट होजाते हैं। (सुश्रुत, सं० उ० अ० ४०)। उदररोगों में हरड़ के चूर्ण का गोमूत्र के साथ प्रयोग करना चाहिये। (च० चि० अ० १३, १७६); चरक लिखते हैं, उदर रोगों में एक हजार हरड़ खावें। (च० चि० अ० १३, १५१)। एक हजार हरड़ों का प्रयोग कुछ विद्वान रसायनोक्त पिप्पली (वर्द्धमान) के क्रमानुसार करने के लिए कहते हैं।

वमन में हरड़ का चूर्ण मधु के साथ खाया जाता है। (च० चि० अ० २०-२८)। आमाजीर्ण और मलबंध में गुड के साथ हरड का सेवन किया जाता है (भा० प्र०)। हरड़ के चूर्ण को उपर्युक्त मात्रा में गुड़, सोंठ या सेंधे नमक के चूर्ण के साथ वात व पित्त के रोगों में सेवन करने से जठराग्नि विशेष रूप से प्रदीप्त होती है। (च० द०, अग्निमान्द्य चिकित्सा, श्लोक ११)। पित्त शूल की शान्ति के लिये गुड़ और घी के साथ हरड़ का चूर्ण खाया जाता है (भा० प्र०)। गोमूत्र में पकाए हरड़ के चूर्ण में लोह भस्म मिला कर गुड़ के साथ सेवन से सब प्रकार का शूल नष्ट हो जाता है (च० द०, शूल चि० ८१)। हिचकी में कोष्ण जल के अनुपान से हरड़ खाने से लाभ होता

है। कफ जन्य पाण्डु में गोमूत्र में पकाई हुई हरड़ लाभ करती है (च० चि०, अ० ७६, ५६)। हरड़ की गुठली को गोमूत्र में सिद्ध करके पथरी में पीने के लिए वाग्भट्ट कहते हैं (अ० हृ०, चि० अ० ११-३३)।

बहेड़ा-

मुनक्का, इलायची का चूर्ण और बहेड़े की गिरी की बनाई हुई गोलियां वमन में बहुत लाभकारी होती हैं। जलाये हुए फल के चूर्ण में नमक मिला कर खाने से यह आंतों पर ग्राही प्रभाव करती है और इसलिये तीव्र अतिसार में भी लाभदायक है (बङ्गसेन स०, अतिसाराधिकार; ६२)। सुश्रुत ने बहेड़े को मूत्ररोगों में भी उपयोगी पाया है वह लिखते हैं, बहेड़े की गिरी को मद्य में पीस कर पिलाने से मूत्राश्मरी दूर होती है और मूत्र के विकार हटते हैं (सु० उ० अ० ५८,५४)।

आंवला-

ताजा फल तृषाशामक, मूत्रल और अनुलोमक होता है। शुष्क-फल ग्राही और पाचक होता है। फूल शीतल और सारक होते हैं। छाल में पके फल की ग्राहकता होती है। आंवले का चूर्ण यकृत और आमाशय के लिये बहुत गुणकारी है। सूखे आंवले का चूर्ण लोहे की भस्म के साथ पांडु, कामला और अजीर्ण के लिये उपयोगी औषध समझा जाता है। आंवले का चूर्ण, लोह भस्म, सोंठ, मरिच, पिप्पली और हल्दी के चूर्ण को एकत्र मिला कर घी, शहद और खांड के साथ मिला कर कामला तथा हलीमक में देने से लाभ होता देखा गया है। (र० सा० सं०, पांडु-कामला चि० २)।

महास्रोतस पर आमलकी का शामक और रेचक प्रभाव होता है। आमाशय में पित्त प्रकोप के कारण अम्लपित्त हो जाने पर प्रातः-काल आमलकी खण्ड दिया जाता है। अथवा भोजन के पीछे आधा-तोला आमलकी चूर्ण दिया जाता है।। (भैं० र० अम्लपित्ताधिकार १८) अजीर्ण में आंवले के अनेक योगों का उपयोग किया जाता है। क्षुधा उत्तेजक रूप में आंवले का मुरब्बा और अचार खाया जाता है। सूखे आंवले अतिसार और प्रवाहिका में ग्राही रूप में बहुत दिये जाते हैं। ग्रहणी और अतिसार में तीन माशा धात्री चूर्ण दिन में तीन बार दिया जाता है। चिरस्थाई प्रवाहिका में ताजे आंवले खूब खाने चाहिये। ताजे फल का रस अतिसार और प्रवाहिका में ग्राही, लेपक और बल्य रूप में एक से तीन ड्राम की मात्रा में दिन में तीन-चार बार पिलाया जाता है। पर्शिया में आंवले को उदरकृमि हर रूप में प्रयुक्त करते हैं। हाथियों के चिकित्सक आंवले के वृक्ष की छाल को हाथी की आमाशय-सम्बन्धी सब शिकायतों की चिकित्सा समझते हैं।

त्रिफला—

महर्षि आत्रेय की हारीत-संहिता से ली गई नीचे की तालिका से विदित होता है कि भिन्न २ उदर रोगों में किन २ द्रव्यों के अनुपान के साथ त्रिफला का प्रयोग करना चाहिए।

अग्निमांद्य	सेंधानमक।
वमन	बिजौरा नीबू का रस।
गुल्म	गुड़।

उदर-रोगों में त्रिफला

हरड़

बहेड़ा
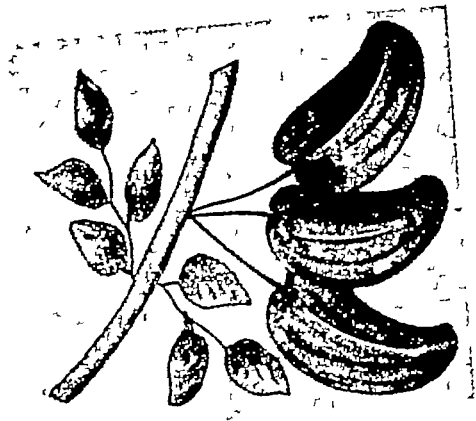
(आंवला का चित्र अन्यत्र देखिये)

पाण्डु	गुड़।
कामला	गोमूत्र।
अतीसार, ग्रहणी	लस्सी।

अनुलोमन के रूप में त्रिफला का प्रयोग एक प्रचलित घरेलू दवा है। रात को सोते समय दो–तीन माशे त्रिफला चूर्ण को दूध के साथ खा लेने से हलका जुलाब आजाता है। कई लोग रात को त्रिफला को शीत जल में भिगो कर रख छोड़ते हैं। सुबह उठते ही पानी में त्रिफला को मसल लिया जाता है। कपड़े में छान कर मधु मिला कर पिया जाता है। जो लोग त्रिफले के प्रयोग को रूक्षता जन्य समझते हैं ऐसे व्यक्ति त्रिफला चूर्ण को बादाम रोगन क साथ मिला कर अनुलोमन के लिये ले सकते हैं। हरड़ और आंवला प्रत्येक चार ड्राम और रेवन्द-चीनी १ ड्राम लेकर १० छटांक पानी में कषाय बनावें। दो औंस की मात्राओं में यह कषाय दिन में तीन बार दिया जा सकता है। इससे अच्छा अनुलोमन हो जाता है। चिरस्थाई मलबन्ध के लिये त्रिफला के चूर्ण, कषाय या अवलेह का निरन्तर सेवन करना चाहिये। विरेचक दस औषधियों मे चरक ने हरड़, बहेड़े और आंवले का परिगणन किया है। (सू० अ० ४, २४)। तीनों द्रव्यों के समान भाग चूर्ण को बादाम के तेल और मधु में मिला कर आठ दिन तक बन्द रख कर चिरस्थायी मलबन्ध में व्यवहार किया जाता है। बादाम तैल मिश्रित यह त्रिफलावलेह एक से चार चम्मच की मात्रा में प्रतिदिन या सप्ताह में दो बार लिया जा सकता है।

गुल्म रोगी को कोष्ठबद्धता में हरड़ और गुड़ को मिला कर दूध के अनुपान से खिलाना चाहिये। (काश्यप संहिता, गुल्म चि० ३७)। पिप्पली और मधु युक्त त्रिफला के सेवन से गुल्म का भेदन हो जाता है। (च० चि० अ० २१, १२९)। पित्त-गुल्म जैसे अपेण्डिसाइटिस में त्रिफला कषाय के साथ त्रिफलागुग्गुलु का निरन्तर सेवन कराया जाय और अन्य भोजनों को कम करके दूध विशेष रूप में दिया जाय तो बहुत लाभ होता है।

४६-हरड़, बहेड़ा आंवला का चूर्ण　　१ तोला
　लोह भस्म　　३ तोला

—को मिला कर २ रत्ती की मात्रा में दूध के साथ शूल-शान्ति के लिए दिया जाता है (र० सा० सं०, शूल चिकित्सा ३)। वङ्गसेन इसे एक और विधि से प्रयुक्त करते हैं। त्रिफला के स्वरस में लोहभस्म को पकावें और त्रिदोषज शूल के शमन के लिये गुड़ के साथ इसका प्रयोग करें। (वं० से० अ० परिणाम शूलादि, ४३)। त्रिफला और लोहभस्म और मुलहठी मिलाकर मधु और घी के साथ मिलाकर चाटने से त्रिदोषज शूल नष्ट होता है। (वं० से० स०, परिणाम शूल चिकित्सा, २८)। त्रिफला और अमलतास के क्वाथ में मधु और खांड का प्रक्षेप देकर पीने से रक्त पित्त, दाह और शूल दूर होते हैं (भै० र०, शूलरोगाधिकार, ३०)।

यकृत् और प्लीहा के रोगों के लिये त्रिफलादि चूर्ण या अन्य त्रिफला के योग लाभदायक होते हैं। कामला में यकृत् से पित्त का

निरहरण करने के लिये त्रिफला कषाय या त्रिफलादि क्वाथ दिया जाता है। पाण्डु में निर्बल मनुष्य को प्रतिदिन गुड़ और हरड़ का सेवन कराना चाहिये (अ० हृ० चि० अ० ७, १०४)।

४७ हरड़ ६ तोला, पिप्पली ४ तोला,
गजपिप्पली, त्रिफला, हींग, सेंधानमक
—प्रत्येक १-१ तोला।

—लेकर चूर्ण बनायें और पानी से रगड़ कर गोलियां बनालें। इन गोलियों का सेवन अग्नि को दीप्त करने में रसायन का काम करता है (हा० सं० तृतीय स्थान ज्वरधि, अ० २, ८२)। इसके सेवन से पाचक रस उचित मात्रा में उत्पन्न होने लगेगा और भूख बढ़ जायगी। त्रिफला के क्वाथ का भी नियमित सेवन शीतल, पाचक और पाचन संस्थान के लिये कल्प का काम करता है। त्रिफला, दन्तीमूल और रोहेड़े की छाल के १ तो० कषाय में सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली और यवक्षार का मिश्रित चूर्ण १६ रत्ती डालकर उदररोग में पीने से लाभ होता है (च० चि० अ० १३, १४८)।
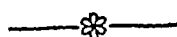
——❀——

उदररोगों पर कल्प ।

ले०-कवि० श्री० डा० वेदव्यासदत्त जी शर्मा शास्त्री आयुर्वेदाचार्य,
कल्पतरु फार्मेसी, जालन्धर सिटी ।

कल्प तो चरक संहिता में बहुत से लिखे हैं परन्तु मैंने जिन्हें अनुभूत पाया है उनका वर्णन करना मैं अपना मुख्य कर्तव्य समझता हूँ।

चरक संहिता चिकित्सा स्थान अध्याय प्रथम, सूत्र १३६ से १४० में वर्णित कल्प को मैंने इस प्रकार रोगियों पर साधन कराया है, वह आप लोगों की सेवा में निवेदन करता हूँ। उपरोक्त रसायन की कृपा से १० मनुष्य तो उदरशूल के दौरे से मुक्त हुये। इनमें ऐसे व्यक्ति भी थे जिनके दर्द को ६ वर्ष, किसी को ७ वर्ष, किसी को ५ वर्ष और किसी को ३ वर्ष होगये थे। इन लोगों ने सैकड़ों रुपये डाक्टरों की जेब भरने में खर्च किये। इनमें से एक महानुभाव का वृत्तान्त सुनाता हूँ।

इन्दौर स्टेट राज्यान्तर्गत दाहोद निवासी सेठ दामोदरदास जी के सुपुत्र के यह दौरे का दर्द था, यह दर्द बराबर ६ वर्ष से कभी १५ दिन में, कभी १ मास में बराबर चला आता था। बहुत सा इलाज कलकत्ता, बम्बई में करा चुकने के पश्चात् मुझे भी यह रोगी दिखाया गया।

मैंने उसके लिए वर्द्धमान-पिप्पली कल्प रसायन प्रयोग ४० दिन यथाक्रम सेवन कराना प्रारम्भ कर दिया। जब १६-१७ दिन प्रयोग करते २ बीत गये तब आपको काफी आराम मालूम हुआ। भगवान की कृपा से चालीस दिन में उनका शरीर पहिले से सवाया हो गया। शारीरिक शक्ति पहले की अपेक्षा दूनी हो गई और दर्द बिल्कुल जाता आज उन बातों को १५ वर्ष व्यतीत हो गए हैं।

इसी प्रकार इस कल्प से अम्लपित्त के कई रोगी जिनको १० या १४-१५ वर्ष का अम्लपित्त रोग था, वह इस कल्प के ४० दिन सेवन कराने से बिल्कुल जड से निर्मूल हो गया। इसीप्रकार वात-गुल्म के २ रोगियों की चिकित्सा इसी क्रम से की गई उनको भी पूर्ण-तया आराम हुआ। सर्व महानुभावों से सादर प्रार्थना है कि इस दिव्य-कल्प का आप भी अपने रोगियों पर प्रयोग करके चमत्कार देखें और मुझे अनुग्रहीत करें।

वर्द्धमान पिप्पली कल्प-

प्रथम दिन ५ पीपल, दूसरे दिन ५ पीपल, तीसरे दिन १० पीपल चौथे दिन १५ पीपल, पांचवें दिन २० पीपल, छठे दिन २५ पीपल, और सातवें दिन से ३४ वें दिन तक ३०-३० पीपल दें और ३५ वें दिन से ४० वें दिन तक ५ पीपल यथाक्रम कम करते जांय।

इस प्रकार से कुल १००० पिप्पली हुईं। वर्द्धमान पिप्पली कल्प रसायन का उपरोक्त क्रम बनाकर प्रयुक्त करें।

नोट-पिप्पली छोटी होनी चाहिये। पीपल को खरल में खूब पीस कर उसमें ताजा शीतल जल डालकर भांग की तरह घोंट कर गोली

वनालें, फिर उस गोली कोखाकर ऊपर से गरम गो-दुग्ध विना मीठा मिलाए सेवन करें।

जब ३० पिप्पली हो जावें तब भोजन शाम के ४ बजे एक वक्त ही करे। प्रातःकाल ही एक वक्त दुग्ध के साथ पिप्पली की छोटी २ गोलियां बनाकर खा लेवे और ऊपर से दुग्धपान कर लेवें। ऐसे दूध २ सेर से २॥ सेर तक दिन-रात में पी सकते हैं इससे अधिक कदापि न लेवें।

नोट—अनुमान १२ बजे के तथा आगे पीछे रोगी को दस्त लगेंगे सो उसमे घबड़ाना नहीं चहिये, पश्चात् अपने आप स्वयं शान्त हो जायेंगे और रोगी को चैन पड़ जायगा।

पथ्य—भोजन के समय दाल, साग सब खा सकते हैं।

अपथ्य—तेल, गुड़, खटाई, मीठा या मीठे से बने पदार्थ।

गरिष्ठ पदार्थ सेवन न करें। पिट्ठी आदि के पदार्थ भी न दें। वर्द्धमान पिप्पली की मात्रा शास्त्र में अधिक लिखी है परन्तु मैंने बला-बल को सोचकर मात्रा कम करदी है। क्योंकि पूर्व समय के मनुष्य बड़े बलिष्ठ होते थे, वह उस मात्रा को सहन कर सकते थे। आजकल के मनुष्य उतनी मात्रा सहन नहीं कर सकते अतः उनके लिये कम मात्रा रखकर प्रयोग किया, वह भगवत् कृपा से ठीक ही निकला।

अम्लपित्त के रोग में सिर्फ फीका दुग्ध ही दे। बाकी सब कुछ भोजनादि, नमक, मीठा बिल्कुल बन्द करदें, लाभ होगा। भोजन तथा जल के स्थान में दुग्ध ही दे सकते हैं। दुग्ध अहोरात्र २४ घण्टे

में ४ सेर तक यथारुचि पिला सकते हैं। फलों में मौसम्बी (मालटा) का जल भी पिला सकते हैं।

उदररोगों पर आमलकी-कल्प रसायन-

उत्तरायण सूर्य होने पर अच्छे दिन वा मुहूर्त में एकान्त स्थित कुटी में प्रवेश करे फिर संशोधनार्थ निम्नलिखित औषध सेवन करे। जब मनुष्य का कोठा ठीक होजावे, तब आमलकी रसायन सेवन करावें।

संशोधनार्थ औषध

४८- हरीतकी　सैन्धा नमक　आमला　गुड़　वच
विडंग　हल्दी　पीपल　सोंठ

-समभाग लेकर इनका चूर्ण बनाकर गर्म जल से १-१ तोला लेकर शरीर को शुद्ध करे। तीन दिन जौ (यव) का दलिया सेवन करे। जब तक कोष्ठशुद्धि न हो जाय तब तक इस चूर्ण का सेवन करता रहे। जौ का दलिया खाता रहे, पश्चात् आमलकी कल्प सेवन करे।

पांच-पांच आमले के फलों को उबाल कर प्रति-दिन खा लिया करें। इस प्रकार दो-मास सेवन करें। भोजन के या जल के स्थान में फीका गो-दुग्ध पीते रहें। इसके सेवन करने से गुल्म, उदावर्त, ग्रहणी, अतिसार, अरुचि, प्लीहोदर, कृमि आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

संग्रहणी पर पर्पटी-कल्प-

पहिले दिन पञ्चामृत पर्पटी ½ रत्ती प्रात-सायं, दूसरे दिन १ रत्ती प्रात: सायं, इसी तरह १० दिन तक १-१ रत्ती प्रात: सायं देते रहे।

इसी प्रकार तीन २ दिन पर्पटी बढ़ाकर जब २५ दिन पर्पटी बढ़ती जावे तब २६वें दिन से घटाना शुरू करे। आखिर ५० वे दिन इसे बन्द करदें। खाने के वास्ते दुग्ध या छाछ दें।

निर्गुण्डी-कल्प-रसायन-

४६-संभालू की जड़ का चूर्ण १ माशा, प्रातः गोमूत्र के साथ सेवन करे। ३ दिन २ माशा, फिर ४ दिन दो-दो माशा, आगे ४ दिन ३ माशा, फिर ४ दिन ४ माशा दें। इस प्रकार १५ दिन हुए। १५ दिन यथा-क्रम स चूर्ण को घटाकर १ माशे पर ले आवें पश्चात् बन्द करदें।

इसके सेवन करने से गुल्म, उदर शूल, प्लीहा और उदर रोगो का नाम भी नहीं रहता।

पथ्यापथ्य-इसके सेवनकाल में शाक और अम्ल पदार्थों को छोड़कर यथेच्छ आहार करना चाहिये।

उदररोगों में जलपान विधि ।

लेखक—वैद्यराज श्री० पं० हरिप्रसाद जी सी० भट्ट आयुर्वेदाचार्य,
मेडीकल हाल, रायपुरा (बड़ौदा) ।
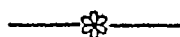
गत वर्ष के विशेषांक में "ज्वर में जलपान विधि" लिखी गई थी। इस बार उदर रोगों में जलपान विधि उपस्थित कर रहा हूँ।

उदररोगों की संख्या बहुत है। उदर में स्थित पाचन-अवयव, आमाशय, क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र, यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय (पेन्क्रियास) मुख्य हैं। उदर्याकला, महाप्राचीरापेशी, आन्त्रपुच्छ इत्यादि इन सब भिन्न २ व्याधियों की गणना उदर रोग में होती है।

५० अतिसार में—

रक्त चन्दन	बेलगिरी	खस	नागरमोथा	१-१ तोला
सुगन्धवाला				३ माशे

—जल २ सेर। शेष १ सेर। उतार कर ठण्डा होने पर सेवन करें।

५१ वातातिसार में—

नागरमोथा	अलसी	बेलगिरी	१-१ तोला
सोंठ		धाय के फूल	६-६ माशे

—जल २ सेर, शेष १ सेर, शीतल होने पर सेवन करें।

६३ सन्निपातज संग्रहणी में—

सुगंध वाला दाडिम के बीज पीपल ३-३ माशे
नागर मोथा १ तोला बेलगिरी
जीरा धनिया सोंठ मिरच ६-६ माशे
—जल २ सेर। शेष १ सेर। शीतल होने पर पीवें।

६४ अर्श रोग में—

सोंठ पीपल अजवायन अमलबेत ६-६ माशे
मिरच वच ३-३ माशे नागरमोथा १ तोला
—जल २ सेर। शेष १ सेर। घी में भुनी हुई हींग किंचित् मिला कर ठण्डा होनेपर सेवन करें।

६५ रक्तार्श में—

हल्दी नागरमोथा १—१ तोला
यष्टीमधु नागकेशर आमलकी सोंठ ६—६ माशे
—जल २॥ सेर। शेष १ सेर। ठण्डा होने पर किंचित् शहद मिला पीवें।

६६ कफार्श में—

अदरख आमलकी कटेरी मूल ६—६ माशे
हल्दी बेल की जड़ १-१ तोला गोखरूमूल ३ माशे
—जल ३ सेर। शेष १॥ सेर। कुछ गरम पीवें।

६७ सन्निपातार्श में—

तेजपात सोंठ जीरा ६—६ माशे
मिरच पीपल इलायची बेलगिरी सौंफ
अजवायन ये छहों ३—३ माशे दालचीनी ४ रत्ती
—जल ३ सेर। शेष १। सेर। भुनी हुई हींग किंचित् मिलाकर ठण्डा होने पर पीवें।

६८ कृमि रोग में—

पित्तपापड़ा नागरमोथा १—१ तोला

वायविडङ्ग देवदारु ६—६ माशे

पीपल सोंठ वच १।—१। माशे

—जल ३ सेर। शेष १। सेर। शीतल होने पर शक्कर ६ माशे मिला कर सेवन करें।

६९ पांडु-कामला, हलीमक में—

हल्दी नागरमोथा १—१ तोला

मिरच सोंठ पीपल वायविडङ्ग १।—१। माशे

असगंध अजवायन जीरा हरड़ ३-३ माशा

गिलोय ६ माशा

—जल ४ सेर। शेष २ सेर। सैंधव ३ माशे, मिलाकर कुछ गरम २ पीवें।

७० अजीर्ण रोग में—

नागरमोथा १ तोला

जीरा काला जीरा अजवायन ६-६ माशा

सोंठ पीपल मिरच दालचीनी

सूखा नीबू १।-१। माशा

—जल २ सेर। शेष १ सेर। ठंढा होने पर किंचित् सैंधव मिलाकर पीवें।

७१ विशूचिका रोग में—

जीरा गिलोय बड़ी इलायची वायविडङ्ग वच

सफेद चन्दन ये सब ३-३ माशे

नागरमोथा १ तोला

सोंठ मिरच पीपल बेलगिरी सूखा नीबू

लवङ्ग बेल के बीज १।-१। माशा

—जल ५ सेर, शेष ३ सेर। किंचित् सैंधव लवण मिला कर पीवें।

७२ अलसक विलम्बिका में—

हल्दी　१ तोला　नागरमोथा　२ तोला

दारु हल्दी　सौंफ　६-६ माशे

—जल ४॥ सेर। शेष २ सेर। शीतल करके पीवें।

७३ अरोचक में—

खस　१ तोला

तेजपात　दालचीनी　असगन्ध　अदरक　जीरा

कालाजीरा　जीरा　इलायची　१॥-१॥ माशा

—जल ४ सेर। शेष २ सेर। शीतल होने पर सैंधव ४ रत्ती और घी में भुनी हींग किंचित् मिला कर पीवें।

७४ छर्दि रोग में—

धनिया　गिलोय　१-१ तोला

सोंठ　रक्तचन्दन　पटोलपत्र　पित्तपापड़ा

नागरमोथा　बहेड़ा　जामुन की पत्ती

आम की पत्ती　६-६ माशे

—जल ५ सेर। शेष २॥ सेर। कुछ गरम पीवें।

७५ पित्त जनित तृष्णा रोग में—

(क) सोने या चांदी के टुकड़े को गरम कर पानी में बुझाकर वह पीवे।

(ख) धनिया　मिश्री　दोनों ५-५ तोला।

—जल १॥ सेर में अगली रात भिगोकर दूसरे दिन थोड़ा २ सेवन करें।

७६ कफ जनित तृषा में—

सोंठ　जीरा　दालचीनी　पीपल　६-६ माशे

अडूसा की पत्ती　२ तोला

—जल ४ सेर, शेष २ सेर। शीतल होने पर पीवें।

७७ कार्श्य जनित तृषा में—

वट के अंकुर यष्टीमधु कमलमूल
बबूल गोंद ६–६ माशे

—जल २ सेर। शेष १ सेर। शीतल होने पर पीवें।

७८ आम-जनित तृषा में—

बच १ तोला बेलगिरी २ तोला

—जल २ सेर। शेष १ सेर। शीतल होने पर सेवन करें।

७६ आध्मान-प्रत्याध्मान मे—

नागरमोथा २ तोला सौंफ ६ माशा
कुटकी मिरच पीपल ३–३ माशा

—जल ४ सेर। शेष २ सेर। शीतल होने पर सेवन करें।

८० वाताष्ठीला-प्रत्यष्ठीला में—

धनियां ६ माशा
जीरा पीपल पोखरमूल दाडिम के बीज ३–३ माशा

—जल ५ सेर। शेष २॥ सेर। शीतल होने पर सैंधव १। माशे मिला पीवें।

८१ तूनी-प्रतितूनी में—

सोंठ १ तोला पीपल ६ माशा
मिरच ३ माशा

—जल ५ सेर, शेष २॥ सेर। शीतल होने पर सैंधव १। माशे मिला कर सेवन करें।

८२ वातज शूल—

सोंठ ४ तोला

—जल ३ सेर, शेष १॥ सेर। छानकर गुड़ २ तोला मिला कर ठण्डा होने पर पीवें।

८३ कफज शूल में—

अजवायन वायविडङ्ग ६–६ माशा
पीपल धनियाँ ३–३ माशा

—जल ५ सेर। शेष २॥ सेर। शीतल कर शहद २ तोले मिलाकर पीवें।

८४ परिणामशूल में—

सोंठ १ तोला पीपल ३ माशा
जीरा अजवायन ६–६ माशा

—जल ५ सेर, शेष २॥ सेर। गुड़ १ तोला मिलाकर शीतल होने पर पीवें।

८५ उदावर्त्त रोग में—

मुनक्का नागरमोथा १–१ तोला
मिरच गोखरूमूल ३–३ माशा
शुंठीमूल ६ माशा

—जल ५ सेर, शेष २॥ सेर। मिश्री २ तोले डालकर ठण्डा होने पर पीवें।

८६ आनाह रोग में—

सोंठ २ तोला पीपल १ तोला
धमासा ६ माशा नागरमोथा ४ तोला

—जल ५ सेर, शेष २॥ सेर। शीतल होने पर पीवें।

८७ गुल्म रोग में—

जीरा अमलवेत तेजपात १–१ तोले
अजवायन वायविडङ्ग ६–६ माशा
अदरक ३ माशा

—जल ५ सेर, शेष २॥ सेर। शीतल होने पर सेवन करें।

८८ प्लीहावृद्धि (तिल्ली बढ़ने पर)—

सोंठ अजवायन जीरा १–१ तोला
काला जीरा ६ माशा

पीपल मिरच ३–३ माशा

—जल ४ सेर, शेष २॥ सेर। सैंधव ३ माशा मिलाकर ठंडा होने पर पीवें।

८९ प्लीहोदर में—

अजवायन मिरच ६-६ माशा

गिलोय जीरा काला जीरा १–१ तोला

सोंठ ३ माशा

—जल ४ सेर, शेष २॥ सेर। शीतल होने पर सेवन करें।

९० जलोदर में—

काला नमक सैंधव सांभर नमक १।–१। माशा

गोखरूमूल पीपल मिरच अजवायन

बेलमूल ६–६ माशा

—जल ४ सेर, शेष २॥ सेर। ठण्डा होने पर पीवें।

९१ सन्निपातोदर में—

अजवायन १ तोला जीरा ६ माशा

मिरच पीपल ३–३ माशा

—जल ४ सेर, शेष २॥ सेर। शीतल होने पर शक्कर १ तोला और सैंधव १। माशा मिला कर पीवें।

९२ शोथ रोग में—

दारुहल्दी १ तोला

पीपलामूल शुण्ठी सोंठ देवदारु ६-६ माशा

—जल ४ सेर, शेष २॥ सेर। शीतल होने पर पीवें।

९३ मेदोरोग—

जीरा इलायची ६-६ माशा

अडूसा हल्दी गिलोय नागरमोथा १–१ तोला

—जल ५ सेर, शेष २॥ सेर। शीतल होने पर शहद १ तोला मिलाकर पीवें।

६४ अम्लपित्त में—

अडूसा की पत्ती	इलायची	जीरा	१-१ तोला
काला जीरा	तेजपात		६-६ माशा
मिरच	दालचीनी	पीपर	३-३ माशा

—जल ५ सेर, शेष २॥ सेर। सैंधव १। माशा मिलाकर ठंढा सेवन करें।

बालक के

६५ ज्वरातिसार में—

नागरमोथा	अलसी	काकड़ासिंगी	१-१ तोला
पीपल			६ माशा

—जल २ सेर, शेष १ सेर। ठंढा होने पर शहद १ तोला मिलाकर पिलावें।

६६ अतिसार में—

नागरमोथा			१ तोला
बेलगिरी	धाय के फूल	सुगंधवाला	६-६ माशा

—जल २ सेर, शेष १ सेर। शीतल होने पर पिलावें।

६७ ग्रहणी में—

हल्दी			१ तोला
सौंफ	देवदारु	कटेरी	६-६ माशा

—जल २ सेर, शेष १ सेर, ठंढा होने पर सेवन करावें।

६८ उदररोग में—

बेलगिरी	नागरमोथा	कालावेत	६-६ माशा
जीरा	सुगंधवाला	धायके फूल	३-३ माशा

—जल २ सेर, शेष १ सेर। शीतल होने पर पिलावें।

परिशिष्ट

९९ वातगुल्म में—

बला, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, दोनों कटेरी, गोखरू से पकाया जल पीने को देवें।

१०० कृमि में—

वायविडङ्ग का सिद्ध जल पीने और अन्न पकाने में देवें।

१०१ पाण्डु-कामला रोगी को—

लघु पञ्चमूल से सिद्ध जल पीने को और आहार तैयार करने को दें।

१०२ अतिसार में—

क्वथित जल अतिसार का नाश करता है। १०० वां भाग-शतांश शेष जल ही अतिसार नाशक है।

१०३ जलोदर में—

अपामार्ग की हरी सींक ५ तोला, पानी ७५ तोले में पका कर शेष ५० तोला रखें। ५-५ तोला पानी हर समय पिलावें।

१०४ अतिसार रोगी को—

वच और अतीस से पकाया हुआ जल अथवा मोथा और पित्तपापड़ा से पकाया जल अथवा सुगंधवाला और अदरख से पकाया जल पीने को देवें।

हृदयावरण-शोथ।

लेखक—श्री० आचार्य बद्रीदत्त जी झा, A M. S

आरोग्य-मन्दिर, झांसी।

निदान-

यह रोग स्वतन्त्र तथा उपद्रव युक्त होता है। पाश्चात्य चिकित्सक इसका कारण सर्वदा विशेष २ रोग के जैसे यक्ष्मा, न्यूमोनिया आदि के जीवाणुओं को मानते हैं। किन्तु अधिकतर पूयजन्य जीवाणु ही इस रोग का कारण होते हैं। स्वतंत्र स्वरूप का यह रोग क्वचित् दिखाई देता है जो कि विशेषत: बालकों में होता है आमवात, पूयमयावस्था, जीवाणु-मयावस्था, सूतिका ज्वर, यक्ष्मा, वृक्कशोथ, न्यूमोनियां, वात रक्त, मधु-मेह और अरुण ज्वर में यह रोग बहुधा उपद्रव स्वरूप का होता है।

यह रोग प्रत्येक अवस्था में हो सकता है किन्तु बाल्यावस्था में आमवात और अरुण ज्वर के साथ और वृद्धावस्था में वृक्कशोथ, वात-रक्त, यक्ष्मा आदि रोगों के साथ होता है।

परिवर्तन--

इस रोग में हृदय के आवरण में शोथ उत्पन्न हो जाता है जो

कि फाइब्रिन युक्त, लसीका युक्त और कभी २ पूय युक्त भी होता है। शोथ के आरम्भ काल में आवरण का चमकीलापन नष्ट हो जाता है और रक्ताधिक्य के कारण लाल हो जाता है। आवरण के पृष्ठ भाग पर फाइब्रिन तथा लसीका स्राव होता है जिसके द्वारा एक पतला-पर्त बन जाता है, जो कि चिकना होता है। इस प्रकार के शोथ को शुष्क-शोथ कहते हैं। यदि फाइब्रिन का स्राव न्यून मात्रा में होता है तो थोड़े ही समय में नष्ट हो जाता है जिसको कि उपशम कहते हैं। बहुधा फाइब्रिन का पत शोषित होजाने के पश्चात् आवरण के दोनों भाग आपस में चिपट जाते हैं। कभी २ फाइब्रिन से लसीका का स्राव अधिक होता है तो आवरणों में जल संचित हो जाता है जिसको कि जलप्रद अथवा आर्द्र-हृदयावरण शोथ कहते हैं। कभी २ आवरण का शोथ चिरकालीन हो जाता है और आवरण के सदा के लिये मोटे हो जाते हैं।

आवरण-शोथ का परिणाम--

यदि शोथ सौम्य प्रकार का होता है तो हृदय की पेशी के ऊपर इसका कोई विशेष परिणाम नहीं होता। यदि शोथ तीव्र स्वरूप का अधिक समय तक रहता है तो आवरण के नीचे हृदय की पेशी विकृत हो जाती है। यदि आवरण में जल का संचय होता है तो आवरण के भीतर जल का भार बढ जाता है, जिसके प्रतिफल स्वरूप फुफ्फुस और शारीरिक धमनियों में रक्त का भार कम होता है और शिराओं में बढ़ जाता है। जिस से कि धमनियों में रक्त की राशि कम होजाती है नाड़ी भी चीण होजाती है। आवरणों में जितनी अधिक जल की राशि होगी उतना ही हृदय के ऊपर उसका परिणाम अधिक होगा। यदि हृदय के आवरण के दोनों

स्तर आपस में चिपट गये हो तो हृदय के कार्य में बाधा उत्पन्न होती है और इस व्याधा को दूर करने के लिये हृदय की वृद्धि हो जाती है। जब आवरण के दोनों स्तर आपस में संसक्त होने के कारण हृदय का कार्य सुचारु नहीं होता तब हृदय के कपाटों के कार्य में भी विकृति उत्पन्न हो जाती है।

चिन्ह और लक्षण--

शुष्कावस्था में हृदय प्रदेश के ऊपर स्पर्श करने से रगड़ प्रतीत होती है जो कि विशेषत: हृदय के दक्षिणार्ध में उर: फलक के समीप चौथे पर्शुकान्तरीय स्थान में अधिक प्रतीत होती है। श्रवण परीक्षा से भी रगड़ सुनाई देती है।

द्रवावस्था में—

देखने से हृद्प्रदेश विशेषत. पर्शुकान्तरीय स्थान फूले हुए मालूम होते हैं और हृद्प्रदेश पर एक प्रकार की लहर सी दिखाई देती है स्पर्श करने से जल का संचय प्रतीत होता है और रगड़ कम प्रतीत होती है। अन्त में द्रव के अधिक होने से आवरणों की रगड़ प्राय: बन्द हो जाती है साथ ही हृदय में शब्द भी स्पष्ट प्रतीत होते हैं। आवरणों मे जल के संचय हो जाने से हृदय समीपवर्ती फुफ्फुस का भाग कुछ दूर हो जाता है और अंगुल-ताड़न करने से उतने विभाग पर मन्द ध्वनि सुनाई देती है। श्रवण यन्त्र द्वारा परीक्षण करने पर आवरणों की रगड़ कम सुनाई देती है। द्रव संचय हो जाने पर भी रगड़ सुनाई देती है इसका कारण यह है कि रोगी के लेटने पर संचित-द्राव हृदय के पिछले भागो में चला जाता है और हृदय के शब्द स्पष्ट सुनाई देते हैं।

लक्षण-

हृदय प्रदेश में बेचैनी पीड़ा और स्पर्श असहिष्णुता होती है, श्वास-प्रश्वास उथला और शीघ्रता से होता है, सूखी खांसी भी होती है, ज्वर, अग्निमांद्य, तृषा और जिह्वा शुष्क होती है, मूत्र की राशि कम हो जाती है। नाड़ी क्षीण, दुर्बल और अनियमित होती है। जब हृदय का दौर्बल्य बढ़ता है तब नाड़ी एक विशिष्ट प्रकार की होती है। श्वास भीतर लेते समय नाड़ी का स्पन्दन अत्यन्त क्षीण होता है, या बन्द हो जाता है। यह लक्षण आवरण के अन्दर जल का सचय होने के कारण उत्पन्न होते हैं। जल के संचय के कारण हृदय का कार्य भी यथाविधि नहीं होता। इन लक्षणों के सिवाय श्वासकृच्छ्र, निगलने में कठिनाई, ग्रीवा की शिराओं का फूलना, नीलिमा, निद्रा नाश, प्रलाप और आक्षेप आदि लक्षण भी पाए जाते हैं।

साध्यासाध्यता-

आवरणों के शोथ में जल का संचय अत्यन्त शीघ्र दो-तीन दिन की अवधि में हो सकता है और इसका शोषण भी इतने ही समय में हो सकता है। चिरकालीन रोग में जल का संचय शनैः २ होता है और इसके लिये तीन सप्ताह की अवधि लग जाती है। मृत्यु बहुधा दूसरे या तीसरे में हृदयावसाद से होती है। प्रायः यह रोग घातक नहीं है किन्तु पूय युक्त फुफ्फुसावरण शोथ में तथा न्यूमोकोकस जन्य फुफ्फुसावरण शोथ में रोग बहुधा असाध्य हो जाता है। कभी २ जीवाणु जन्य अन्य रोगों के कारण उत्पन्न हुए हृदयावरण

शोथ में पूय का सञ्चय अत्यन्त शीघ्र होता है और मृत्यु भी तीन-चार दिन की अवधि मे ही हो जाती है ।

रोग-निश्चिति--

इस रोग का हृदयावसाद और जल-द्रव फुफ्फुसावरण शोथ (उरस्तोय) इन रोगों से पार्थक्य कहना पड़ता है । हृदय के विस्फार में हृदय का आघात हृद् प्रदेश में दिखाइ देता है जो हृदय के शब्द स्पर्श से प्रतीत होता है । अंगुलि ताड़न करने पर मन्द ध्वनि, प्रदेश त्रिकोणाकार नहीं होता किंतुग्रहण करने पर हृदय के शब्द स्पष्ट सुनाई देते है ।

चिकित्सा--

रोगी को पूर्ण विश्राम अर्थात् शारीरिक और मानसिक आराम दिलाना चाहिये । लवण का प्रयोग नितान्त त्याज्य है । हृदय को शांत देने के लिये कस्तूरी, मुक्ता, स्वर्ण तथा मकरध्वज घटित प्रयोगों का प्रयोग करना चाहिये ।

शोथ के लिये पुनर्नवादि क्वाथ यवक्षार मिलाकर देना चाहिये । पुनर्नवामांडूर, दुग्धवटी आदि का भी उपयोग लाभ देता है । चिकित्सा करने के पूर्व इस बात का निश्चय करना चाहिये कि रोग किस विशेष-रोग का परिणाम एवं उपद्रव है ? यह निश्चय करने के पश्चात् उस रोग की भी चिकित्सा करनी चाहिये ।

हृदय प्रदेश पर बर्फ की थैली भी रखनी चाहिये ऐसा करने से जल का संचय कम हो जाता है । यदि वेदना हो तो वेदनाहर योगों का प्रयोग करना चाहिये । इसमें जलौका प्रयोग भी लाभदायक है ।

——❀——

नाभि टलना

श्री० पं० शुकदेवप्रसाद जी त्रिपाठी वैद्यशास्त्री,
नरसिंहपुर (होशंगाबाद)

मानव-शरीर मे उदरगुहा एक ऐसा यन्त्रमय स्थान है जिसे आवश्यकता के लिहाज से मस्तिष्क के बाद द्वितीय स्थान प्राप्त है। यह पिंड का वह कोष है जो पिंड संसारकी आवश्यकता पूर्ति करके वैश्य या धनाध्यक्ष बन बैठा है। शरीर में उत्पन्न होने वाले विकारों में अधिकांश उदर में ही उत्पन्न होते हैं और चिकित्सा भी उदर से ही होती है। उदर रोगों में नाभि टलना एक ऐसा रोग है जो साधारणतया चिकित्सक की दृष्टि में बहुत देर से आता है।

नाभि -

यह उदर की अधिकांश नस-जालों का मूल है। ठीक नाभि के नीचे कुछ वाम-पार्श्व में घड़ी की तरह एक नाड़ी चलती रहती है। इसके अपने स्थान से हट जाने पर जो व्याधि उत्पन्न होती है उसे "नाभि-टलना" धरन-गिरना आदि नामों से अभिहित करते हैं।

निदान -

असावधानी से चलते समय पांव विषम भूमि पर पड़ जाने से, सहसा खड़े होकर अंगड़ाई लेने से, ऊंचे स्थान से कूदने पर, अज्ञता पूर्वक पेट मलने से, (कभी २ पेट कुछ भारी सा मालूम होने पर लोग

अपने हाथसे पेट को धीरे २ अनायास मलने लगते हैं, कई व्यक्ति शौच शुद्धि न होने पर पेट को मलते हैं इससे भी नाभि टल जाती है) कभी २ अतिसार होने के बाद अपक्व-रस से दूषित वायु के तिर्यग्गामी होने से नाभि टल जाती है। और कभी नाभि टलने से अतिसार प्रारम्भ हो जाता है।

रूप–

नाभि टल जाने पर सर्व प्रथम अतिसार प्रारम्भ होता है और पतले दस्त शुरू होते हैं। इसमें वातिक अतिसार के लक्षण ही अधिक मिलते हैं। उदर में कुछ मीठा २ दर्द भी रहता है। परन्तु साधारणतया अतिसार ही समझ कर औषधि की जाती है जिससे कोई लाभ नहीं होता और जीर्ण होने पर आंव भी आने लगती है।

अथवा जिस प्रकार के अतिसार के पश्चात् नाभि टलती है उसी अतिसार के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

परीक्षा–

रोगी को सम और कठिन आसन पर लिटा दे (बिल्कुल सम भूमि हो अथवा लकड़ी का तख्त आदि) लेटने में सीधा उत्तान लेटे। सिर के नीचे तकिया आदि न रखा जावे। पांव सीधे लम्बे रहें। हाथ भी सीधे उभय पार्श्व-संलग्न रहें। सिर, ग्रीवा भी बिल्कुल सीधे रहें। इस प्रकार लेट जाने पर सारे शरीर को ढीला छोड़ दे।

अब चिकित्सक एक मोटा डोरा लेकर एक हाथ से एक सिरा पकड़ कर रोगी की नाभि पर रखें। इस प्रकार रोगी के नाभि और

स्तन का अन्तर नप जावेगा। अब स्तन के ऊपर वाला हाथ डोरे सहित उठाकर दूसरे स्तन पर रखे। यदि नाभि टली होगी तो नाभि और उभय स्तनों का अन्तर सम न होकर नाभि और एक स्तन का अन्तर कुछ कम और नाभि तथा दूसरे स्तन का अन्तर कुछ अधिक होगा।

नाभि जिस ओर को टली होगी उसी ओर के स्तन एवं नाभि का अन्तर कम होगा। प्रायः नाभि वाम ओर को ही टलती है पर इसका अपवाद भी यदा-कदा दृष्टिगत होता है। अभ्यास हो जाने पर तो रोगी के ऊर्ध्व वस्त्र को हटाकर सीधे लिटाकर देखने मात्र से ही नाभि का टलना दृष्टिगोचर हो जाता है, पर डोरे से नाप लेने से परिणाम स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है।

द्वितीय परीक्षा--

रोगी को बिल्कुल सीधे लिटाकर रोगी के बाईं ओर बैठ कर दाहिने हाथ की चारों अंगुलियों से नाभि को भीतर की ओर दबाइये। यदि नाभि टली नहीं है तो नाभि के नीचे भीतर एक नाड़ी चलती हुई (फुदकती हुई) प्रतीत होगी और यदि नाभि टली होगी तो उस नाड़ी का संचलन (फुदकना) नाभि से हटकर होगा। यह परीक्षा भूखे पेट में ही हो सकती है, खा लेने पर ठीक २ नहीं प्रतीत होगी।

चिकित्सा--

कई जानकार लोग नाभि को मलकर खींच कर अपने स्थान पर बिठाल कर बांध देते हैं और कुछ भोजन करा देते हैं। ऐसा करने से नाभि बैठ जाती है।

द्वितीय उपाय–

रोगी को शवासन से (उत्तान बिलकुल सीधा शरीर ढीला छोड़ कर) सुलाइये। अब रोगी धीरे २ अपनी श्वास नासिका से बाहर निकाले साथ ही पेट को भीतर की ओर जितना खींच सके खींचे। फिर धीरे २ श्वास ले और पेट को ऊपर लावे। इस प्रकार ४-६ बार करने पर नाभि यथास्थान बैठ जाती है। इसमें इस बात का ध्यान रहे कि श्वास छोड़ने और पेट भीतर की ओर खींचने में सामंजस्य रहे तथा पेट भीतर की ओर खींचते हुए, पेट की नाड़ियों पर जोर डालते हुए कुछ वक्ष स्थल की ओर खिंचाव भी रहे।

तृतीय उपाय–

मयूरासन अथवा सूर्य नमस्कार (आसन) करने से भी नाभि आसानी से बैठ जाती है।

औषधोपचार—

औषध-उपयोग इस प्रकार करना चाहिये जिससे वायु शुद्ध हो और तदनुगत अतिसार निवृत्त हो।

औषधि–

आर्द्रक (अदरख) का स्वरस निकाल कर पत्थर के बर्तन में रखो। थोड़ी देर बाद अदरख का सत्व नीचे बैठ जायगा। तब स्वरस संभाल कर निकाल ले और गरम करके रुईका फाहा तर करके नाभिके ऊपर रखकर एरंड या महुआ का पत्ता रखकर कपड़े से हलका बांध दो यह उपाय बच्चों के लिये अधिक हितावह होता है।

वयस्कों के लिये—

आंवले सूखे तक्र मे पीस कर नाभि के आस-पास आलवाल (मेंड़) बनादो, उसके भीतर पूर्वोक्त विधि से अदरख का स्वरस निकाल कर भरदो और रोगी को २ या ३ घण्टे उत्तान ही पडा रहने दो दिन मे दो बार ऐसा किया जाय। भोजन मे दूध, साबूदाना दिया जाय (रोगी २–३ घण्टे पड़ा न रह सके तो यथाशक्य रखें)।

लघु गंगाधर चूर्ण मधु अथवा तक्र से देना चाहिये। 'अजमोदा मोचरसं, मश्रृङ्ग वेर, मधातकी कुसुमम्' यह योग भी लाभ करता है।

नाभि टलने में संग्राहक दवा अफीम आदि मिली कदापि नहीं देना चाहिये। अन्यथा आंव पैदा होकर विकार बढ़ जाता है और दस्त तो रुकते ही नहीं।

गिलास लगाना—

नाभि टलना, वाय गोला उठना, शूल की नस उठना, पेट भर में धीमा २ दर्द होना, उदर में या किसी भाग अथवा नाड़ी विशेष में शोथ एवं वेदना आदि पर गिलास लगाने का प्रयोग हितावह होता है। अल्प मात्रा में स्वेदन भी हो जाता है और ऊर्ध्वाकर्षण के कारण विचलित नाड़ी यथास्थान स्थित हो जाती है।

गिलास लगाने की विधि—

एक चीनी मिट्टी (धातु के नहीं) के प्याले (चाय का कप) के भीतरी हिस्से में किनारे से एक अंगुल छोड़कर स्प्रिट पोत दो। स्प्रिट इतनी पोती जावे कि पुत जाने पर भी बहे नहीं। फिर दियासलाई से

प्याले के भीतर आग लगा दो और प्याले को उलट कर पेट के अभीष्ट स्थान पर झट-पट रखदो। रखने में सावधानी रहे कि प्याला चारों तरफ से बराबर पेट पर जम जावे। इसलिये थोड़ा दबाना भी चाहिये। प्याला पेट पर बराबर जम जावेगा तो वायु का आवागमन रुक जाने के कारण प्याले की आग बुझ जावेगी और प्याले के भीतर धुआ भर जावेगा। इस धूम्र के आकर्षण से पेट का वह भाग जो प्याले के भीतर दबा है ऊपर को आकर्षित होगा (यहा मैं आक्सिजन, नाइट्रोजन आदि वैज्ञानिक नाम, लेख को सरल रखने के लिये जान-बूझ कर छोड़े देता हूँ) इस क्रिया में रोगी को मन्द २ गुदगुदी एवं सुख का बोध होता है। प्राय: ५ मिनट बाद एक ओर से प्याले को उठाकर धीरे से उठा लेना चाहिये। प्याला हटाने पर उदर का वह भाग ऊपर को उठा हुआ स्वेदसे युक्त दीखेगा। कभी-कभी १-१ अंगुलका अन्तर देकर लगातार कई वार गिलास लगाना पड़ता है तब लाभ होता है। एक स्थान पर ३-४ वार से अधिक नहीं लगाना चाहिये। अधिक आवश्यकता होने पर ५—६ घण्टे बाद पुन: प्रयोग करना चाहिये। यदि जल्दी जल्दी ही लगातार ३-४ वार यही प्रयोग करने की आवश्यकता हो तो गिलास को एक आध अंगुल अवश्य हटा देना चाहिये, गिलास का किनारा जिस स्थान पर प्रथम वार रखा गया हो दूसरी बार पुन: वहीं पर न रखना चाहिये। एक ही स्थान पर किनारा कई वार पड़ने से जलन उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। यदि पेट भर में दर्द हो तो पेट भर में थोड़े २ अन्तर से ७-८ स्थानों पर लगाया जावे। यदि इस क्रिया के द्वारा किसी नाभि को किसी स्थान की ओर खींचना अभीष्ट हो

तो अभीष्ट नाड़ी से छूते हुए उस दिशा की ओर गिलास रखा जाये जिस दिशा की ओर नाड़ी को आकर्षित करना हो।

गिलास लगाने की ग्रामीण विधि—

एक मिट्टी की हांडी, जिसमें एक सेर पानी आजाय और जिस का किनारा मोटा एवं गोल हो, लेना चाहिये। यदि मुख का किनारा कुछ विषम दीखे तो पत्थर पर घिस कर सम करलें। एक मिट्टी का दीपक इतना बड़ा जिसका व्यास हंडी के मुख के व्यास से एक अंगुल कम हो लिया जाय। इस दीपक में रुई की चार वत्तिया तैल में सिक्त करके चारों दिशाओं की ओर कुछ निकली हुई रख कर जला देना चाहिए। वत्तियां इतनी ही बाहर निकली रहें कि पूर्वोक्त हांडी दीपक के ऊपर आसानी से ढक दी जासके। प्रज्वलित दीपक को पेट पर अभीष्ट स्थान पर रख दीजिये (दीपक में तैल बिलकुल न डालना चाहिये और वत्तिया दीपक के किनारे ऊपर की ओर उठी रहना चाहिए, नीचे की ओर नहीं। नीचे की ओर झुकी होने से पेट के चर्म एवं रोम को जला देंगी।) अब दोनों हाथों से हंडी के पेट को पकड़ कर हंडी का मुख नीचे की ओर करके दीपक के ठीक ऊपर इतने अन्तर से पकड़ रखिये कि दीपक की जलती हुई वत्तियो का धुआं हाडी के भीतर ही जाय। इस प्रकार ५-७ मिनट तक पकड़ रखने से धुआं हांडी में यथेष्ट भर जायगा। तब हांडी को दीपक ढंकते हुये पेट पर रख कर थोड़ा सा दबाइये। ध्यान रहे कि हंडी का किनारा दीपक की वत्तियों से न छू जाय अन्यथा किनारा गरम होकर पेट को जला देगा। यह भी ध्यान रहे कि हंडी के किनारे से दब कर दीपक की कोई वत्ती पेट

पर न गिर जाय या छू जाय। हांडी के पेट पर रखते ही दीपक बुझ जायगा। ५-७ मिनट बाद हांडी को एक ओर से कुछ टेढ़ी करके दूसरे हाथ से उसी किनारे के पास पेट को दबा कर, हांडी पेट पर से उठाइये। हांडी का मुंह कुछ छोटा और पेट कुछ बड़ा होने के कारण प्याले की अपेक्षा खिचाव अधिक पड़ता है। इससे रोगी को लाभ भी अधिक होता है। यदि पेट का कुछ अधिक भाग हांडी में चला जाय तो हांडी को धीरे२ चारों ओर से ऊपर को सरकाते हुए उठाना चाहिए।

प्याले की अपेक्षा हांडी में दो सुविधायें और हैं :—

१–प्याले में स्प्रिट कभी–कभी बह कर किनारे तक आजाती है और पेट को जला देती है।

२–यदि पेट पर प्याला जोर से चिपक जाय या पेट प्याले के अन्दर ज्यादा खिच जाय तो निकालने में असुविधा हो जाती है तब हांडी को फोड़ देने से काम निकल जाता है।

नाभि टलने पर एक सरल उपाय

नाभि टलने पर पतले दस्त लगते हैं। दस्त जाने के बाद वहीं बैठे २ डोरे की बत्ती बना कर नाक में डालो इससे छींक आजायगी। दोनों नासिका छिद्रों से २-२ छींक आजाना चाहिये। छींक लेते समय पेट पर किसी तरह का दबाव नहीं रहना चाहिये। ऐसा करने से नाभि बैठ जाती है।

नल संचालन (नौली) क्रिया जानने वाला नल संचालन करके नाभि बैठा लेता है। यह क्रिया स्वयं रोगी को आनी चाहिये।

तभी वह कर सकता है। कई दिन के अभ्यास करने पर नौलि-क्रिया आती है। एक दिन उपदेश देने या नल संचालन का उपयोग करने से कोई लाभ नहीं हो सकता।

एक और उपाय—प्रातःकाल केवल लंगोटी बांध कर खड़े हो दोनों हाथ की गदेलियां जंघाओं पर रख कर कमर पीछे की ओर कुछ झुकाओ। पेट की श्वास बाहर निकाल कर पेट को भीतर की ओर जितना खींच सको खींचो, फिर जिस दिशा मे नाभि टली हो उससे विपरीत दिशा की ओर पेट खींचो और कुछ २ ऊपर की ओर खींचो। ऐसा दो-तीन बार करने पर नाभि बैठ जाती है।

क्लोम के रोग

ले०—कवि० श्री० महेन्द्रनाथ जी शास्त्री बी. ए.,
आयुर्वेदाचार्य, वैद्यवाचस्पति, बम्बई ।

क्लोम—उदर्याकला से बाहर किन्तु उदरगुहा स्थित एक ग्रन्थि-मय अङ्ग है। इस अङ्ग के दो भाग हैं, जो स्वतन्त्र रूप से अपना २ कार्य करते हैं। एक तो क्लोमरस-निस्सारक ग्रन्थि पिण्डिकायें तथा दूसरे शर्कराशासक रस-स्रावक द्वीप के समूह । इसकी शरीर में निम्न लिखित स्थिति है—आमाशय के पृष्ठ भाग में तथा ग्रहणी नतोदर भाग (क्रोड़ीकृत भाग) प्रथम व द्वितीय कटि कशेरुका के अर्धचन्द्राकार भाग के सामने अर्गलवत् पड़ा रहता है। इसका शिर ग्रहणी के कोड़ीकृत भाग से तथा पुच्छ प्लीहा के साथ लगी रहती है। साधारण पित्त नलिका इसके शिर से समावृत या दबी रहती है। इसके वाम-भाग में अनुप्रस्थ बृहदन्त्र का बन्धन, पीछे की ओर वामवृक्क तथा अधिवृक्क, अधोगा-महाशिरा आदि इसके गात्र के साथ सामने की ओर आमाशय का कुछ भाग तथा उदर्या-कला का लघुकोष लगा रहता है। यह सम्बन्ध बताना इसलिये आवश्यक है कि, इसके रोगों का इसके निकटवर्त्ती अङ्गों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी विकृति के कारण उक्त अङ्गोंमें भी तथा उक्त अङ्गों के रोगोंमें इस रोग के फैलने का भय रहता है, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट होगा।

१—अग्न्याशय(Pancreas) का नाम हमने जानबूझकर क्लोम दिया है। कारण कि यह नाम हमें अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है। क्यों ? इसका वर्णन फिर कभी किया जायगा।

क्लोम रोगों को सम्यक् तया समझने के लिये इसका शरीर व शरीर क्रिया विज्ञान तथा ग्रहणी, पक्वाशय, पित्त नलिका आदि का परस्पर सम्बन्ध जानना आवश्यक है। हमने अतिसंक्षेप में यहां पर वर्णन किया है।

क्लोम रस-वाहक नलिकायें दो हैं। जो क्लोम से रस को ग्रहणी तक पहुँचाती हैं। प्रथम का नाम मुख्य स्रोतस्विनी तथा द्वितीय का गौण स्रोतस्विनी है। गौणस्रोतस्विनी कुछ दूर तक स्वतन्त्र रूप से चल कर पुनः मुख्य स्रोतस्विनी में मिल जाती है। यह मुख्य स्रोतस्विनी भी कुछ दूर तक सामान्य पित्त नलिका के साथ २ चल कर अन्ततः उसी में मिल जाती है और इस प्रकार इन दोनों के मिल जाने के संधि-स्थल से आगे पित्त व क्लोम-रस एक साथ ही ग्रहणी में जाते हैं। उक्त दोनों नलिकाओं का मुख एक ही स्थान पर होकर ग्रहणी में खुलता है। जहां ग्रहणी में दोनों का सम्मिलित मुख खुलता है, उसे वेटर की कलसिका कहा जाता है। इस ग्रहणी और पित्त-नलिका संधि स्थल पर सामान्य पित्त नलिका के मुख का कुछ भाग ग्रहणी की दीवार से आगे निकल जाता है, इसे पित्त नलिका वृन्त कहते हैं। इस स्थान पर, पित्तनलिका का भाग एक गोल पिधान स्नायु में रहता है, जो इसका संकोचक है, जैसा कि

गुदा द्वार में किन्हीं २ व्यक्तियों में क्लोम की गौण स्रोतस्विनी मुख्य स्रोतवाहिनी में न मिल कर स्वतन्त्र रूप से ग्रहणी में मिलती है तथा दूसरों में मुख्य स्रोतवाहिनी सामान्य पित्त नलिका में न मिल कर स्वयं स्वतन्त्ररूप से ग्रहणी में खुलती है; किन्तु इस अवस्था में पित्त नलिका एवं मुख्य स्रोतस्विनी का मुख ग्रहणी में एक स्थान पर ही खुलता है। यह वर्णन क्लोम रोगों के कारण जानने के लिये परमावश्यक है।

क्लोम-रस (इसके पाचक रस को क्लोम रस एवं द्वितीय रस को शर्करा शासक रस, नाम इस लेख में दिया है) मुख्य एवं गौण स्रोतस्विनियों द्वारा पित्त नलिका में जाकर वा स्वतन्त्ररूप से ग्रहणी में जाता है। भोजन के पश्चात् इसका प्रवाह विशेष रूप से हो जाता है। क्लोम रस का अधिकांश तो मुख्य स्रोतस्विनी द्वारा तथा स्वल्पांश गौण स्रोतस्विनी द्वारा। यदि कभी मुख्य स्रोतस्विनी बन्द होजाय तो बहुत कुछ क्लोमरस लघु स्रोतस्विनी द्वारा ग्रहणी में पहुँचता रहता है। किन्तु अनेक मनुष्यों में लघु स्रोतस्विनी पूर्णतया रस वाहन समर्थ नहीं होती, तब कठिनता उत्पन्न हो जाती है और निश्चय ही क्लोम रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

क्लोम-रस का परिचय—

यह एक तीव्र अभियव कारक पदार्थ है। इसमें शरीर के प्रत्येक धातु की पाचक शक्ति विद्यमान है। यह प्रोटीन पाचक, वसा पाचक तथा श्वेतसार या कार्बोज पाचक तत्वों का समूह है। जब यह स्वस्थान से स्वतन्त्र होकर क्लोम या अन्य अंश के सम्पर्क में आता है तो उसे

पाचन करने लगता है और वह अङ्ग कोथ रूप में या पम्प रूप में परिणित होजाता है जैसे मेद कोथ, मांस कोथ, तन्तु कोथादि । क्लोमक होने के कारण जब यह उदर्याकला में पहुँचता है तो सपूय उदर्याकला शोथ उत्पन्न कर देता है, अत: जब कभी क्लोम रस ग्रहणी में न पहुँचकर स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र विचरण करने लगता है, तभी रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं।

क्लोम रोगों के निदान की विशिष्ट विधि—

उक्त परिचय से यह स्पष्ट है कि यदि क्लोम-रस ग्रहणी में न पहुँच सके तो उसकी न्यूनता जन्य लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। निम्न लिखित कारणों से रस ग्रहणी में नहीं पहुँच पाता (१) क्लोम के उन रोगों में जिनमें उसकी क्रिया-शक्ति वा क्लोमरसोत्पादक ग्रन्थि पिडिकायें नष्ट हो जाती हैं (२) पित्ताशयाश्मरी (३) वेटर की कलसिका की अति वृद्धि (४) लघु स्रोतस्विनी की कार्याक्षमता। प्रत्येक अवस्था में पाचन पर प्रभाव एक ही जैसा होता है और लक्षण भी एक जैसे ही होते हैं। प्राय: ६० प्रतिशत रोगियों में क्लोम के जीर्ण शोथ व उसके शिर के अर्बुद में कामला उत्पन्न हो जाती है, किन्तु लघु स्रोतस्विनी के कार्याक्षम होने पर और मुख्य स्रोतस्विनी का मार्ग किसी बाधा से रुक जाने पर बिना किसी क्लोम-रोग के भी कामला उत्पन्न हो जाता है।

क्लोम रस न्यूनता जन्य अपूर्ण-पाचन में मल का स्वरूप—

इस दशा में मल में वसा की अधिकता पाई जाती है तथा उसका वर्ण पाण्डु (सफेद-सा) होता है और यह अत्यधिक मात्रा में

आता है। साधारणावस्था में मल को सुखाने पर उसकी वसा की मात्रा १५ से २५ प्रतिशत पाई जाती है, किन्तु क्लोम के रोगों में यह मात्रा ६० से ८० प्रतिशत तक बढ़ जाती है। यदि रोगी को कामला होगी, अर्थात् अन्त्रोंमें पित्त न पहुँच रहा होगा तो मलमें पाण्डुरता (सफेदी) और भी अधिक होगी।

क्योंकि इस अवस्था में इसमें पित्त रंजकों की न्यूनता या अभाव हो जाता है। मल में पाई जाने वाली अपक्व वसा को यदि मल से प्रथक् कर लिया जावे तो यह घृत तथा मण्ड के समान शीतल होने पर जम जाती है। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर वसा, अम्ल व वसा घोल युक्त वसा-विन्दु दृष्टिगोचर होते हैं, जो कि अन्त्रों में अपक्वान्न पर कीटाणुओं की क्रिया का फल है, किन्तु इसमें अन्त्रों की आचूषण शक्ति की कमी से होने वाले से अतिसारीय मल से इसमें यह भिन्नता पाई जाती है कि क्लोम-रोगों में अपक्व वसा का भाग वसाम्ल तथा वसा घोल से अधिक मात्रा मे रहता है, जब कि उक्त प्रकार के अतिसार मे अपक्व वसा कम और वसाम्ल व वसा-विलयन अधिक परिमाण में पाये जाते हैं। अपक्व मास व अन्य आहार के टुकड़े कभी-कभी स्थूल नेत्रों द्वारा भी देखे जा सकते हैं विशेषकर उस समय जबकि वसा-विहीन अन्न रोगी को दिया जा रहा हो। अणुवीक्षण से निरीक्षण करने पर अपक्व मास तन्तु दिखाई देतेहैं, किन्तु अपक्व कार्बोज वा श्वेतसार अधिक मात्रा में नहीं देखे जाते। तीव्र अतिसार में, जब कि अन्त्रों की गति अति तीव्र हो, अपक्व वसा मांस व श्वेतसार पाये जा सकते हैं, यद्यपि क्लोम स्वस्थ होता है। क्लोम रोगों में भी कीटा-

युक्त अपक्व वसा के विश्लेषण-जन्य क्षोभ से अतिसार हो जाता है। ऐसी दशा में मल में श्लेष्म (आम) की अधिकता होती है।

ग्रहणीस्थ पदार्थ व मल-मूत्र में क्लोमीय अभिषव पदार्थ, परीक्षार्थ ग्रहणीस्थ पदार्थ एक विशेष-नलिका द्वारा निकाला जाता है। स्वस्थावस्था में इसमें प्रोटीन पाचक जनक, जो कि अन्त्र में जाकर उस के रसस्थ प्रोटीन पाचक प्रेरक द्वारा प्रोटीन पाचक के रूप में परिवर्तित हो जाता है, वसा एवं श्वेत सार पाचक क्लोम-रसीय तत्व पाये जाते हैं; किन्तु जब क्लोम रस ग्रहणी में नहीं पहुँच पाता तो उक्त तत्व ग्रहणीस्थ पदार्थ में नहीं पाये जाते अथवा अत्यन्त स्वल्प मात्रा में पाये जाते हैं। मल में प्रोटीन पचन की दशा को देखकर ग्रहणी में गये हुए क्लोम रस का कुछ स्थूल अनुमान हो सकता है।

इसके विपरीत मूत्रस्थ श्वेतसार पाचक अधिक मात्रा में पाया जाता है, तथा उसका ज्ञान प्राप्त करना भी कठिन नहीं है। क्लोम के घातक रोगों में भी इसकी मात्रा कम नहीं होती, क्योंकि यह यकृत में उत्पन्न होता है और क्लोम रस द्वारा अन्त्र तक पहुँचता है। फलतः तीव्र क्लोम कोथ में इसकी मात्रा मूत्र में २०० यूनिट तक बढ़ जाती है। यद्यपि स्वस्थावस्था में ६ से ३० यूनिट तक होता है। कभी २ ईषत् तीव्रावस्था युक्त क्लोम कोथ में अथवा क्लोम के शिर की अति वृद्धि में जो कर्क-स्फोट या सिस्ट के कारण से होती है, विशेषकर इन व्याधियों के वेग वृद्धि काल में जिस वेग वृद्धि का ज्ञान वेदना वृद्धि से होता है, यह अधिक नहीं बढ़ता। इसकी परीक्षा निम्न प्रकार की जाती है।

छ: (एक यूनिट एक क्युविक सेन्टीमीटर का ०.१प्रतिशत भाग है) श्वेतसार का विलयन वनावे। इसमें २ C. C. मूत्र डालें, इस मूत्र द्वारा यह श्वेतसार विलीन हो जाता है अथवा पचा दिया जाता है। इस प्रकार यह २ सी० सी० मूत्र ३० यूनिट तक के श्वेतसार विलयन को विलीन कर सकता है, किन्तु क्लोम रोगों में यही २ सी० सी० मूत्र २०० यूनिट तक श्वेतसार विलयनको पचा सकता है क्योंकि इसमें श्वेतसार-पाचक अधिक परिमाण में उपस्थित है। इस परीक्षा को "श्वेतसार पाचक दर्शन" कहते हैं। क्लोम रोगों को जानने के लिये यह एक महत्व की परीक्षा है; किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वृक्क रोगों में यह मूत्र में कम निकलता है क्योंकि वृक्कों द्वारा रोक लिया जाता है, अत: यदि क्लोम के साथ वृक्क रोग भी उपस्थित हो तो यह परीक्षा सफल नहीं होगी।

प्रसंगवश एक दूसरी परीक्षा, जिससे क्लोम रोगों का वहुत कुछ निर्णय हो जाता है, लिखी जाती है। एड्रेनलीन का १००० में १ सहस्र के अनुपात से विलयन तैयार करें। इस विलयन की ५ बूंदें रोगीके नेत्रों में डाले। ३ मिनट वाद पुन: ५ बूंदें डालें; यदि क्लोम रोग होगा तो नेत्र तारा प्रसृत हो जाएगा, अन्यथा नहीं।

कार्बोज का सात्मीकरण—

यद्यपि इस प्रसङ्ग में वर्णनीय व्याधियों में शर्करा-शासक रस स्रावक द्वीपक समूह अप्रभावित रहते है, तथापि कभी रक्त में शर्कराधिक्य मूत्र शर्करा सहित या उसके विना भी पाया जाता है। रक्त में शर्करा परीक्षा द्वारा कार्बोज के सात्मीकरण की न्यूनता
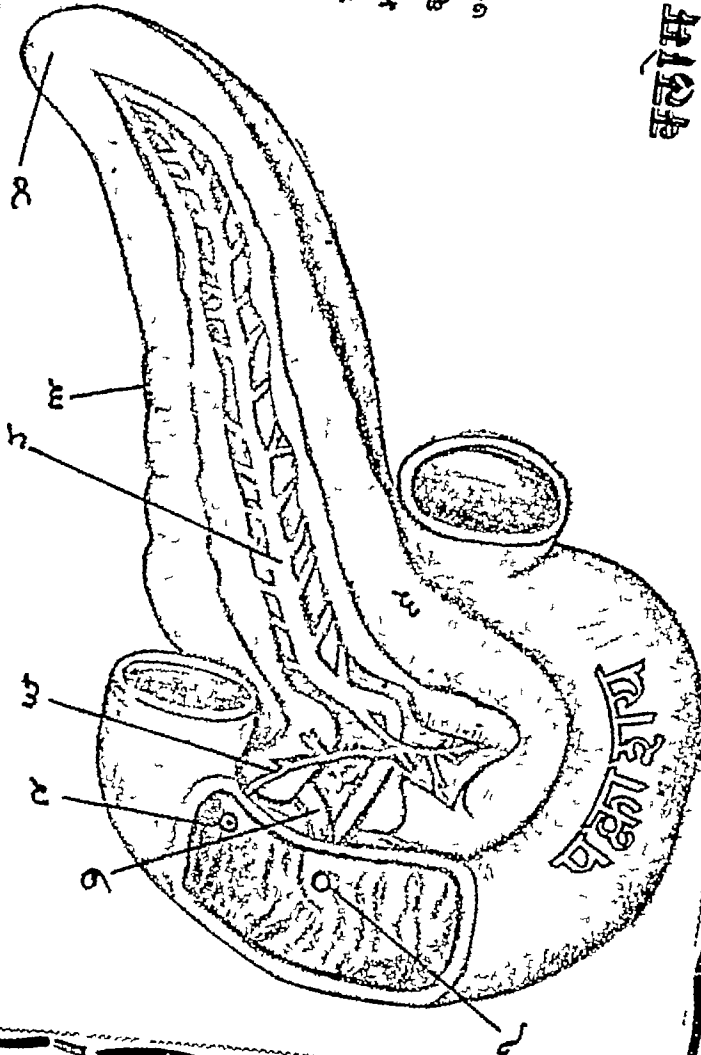
(उदररागांक)
१–पित्त नलिका और क्लोम – रस वाही नलिका का बहिर्मुख
२–गौण क्लोम स्रोतस्विनी का बहिर्मुख
३–क्लोम
४–क्लोम पुच्छ
५–मुख्य स्रोतस्विनी
६–गौण स्रोतस्विनी
७–पित्त रसवाही नलिका
पक्वाशय
क्लोम

प्रतीत होती है। संदेह-ग्रस्त रोगों में यह परीक्षा महत्व की है। विरले रोगियों में यदि शर्करा शासक रस-स्रावक द्वीपक-समूह में शोथ वा केन्सर पहुँच जाती है तो रक्त में शर्करा की कमी हो जाती है तथा तज्जन्य लक्षण उपस्थित हो जाते हैं, जैसा कि कभी २ इन्सुलीन की अधिक मात्रा के सेवन से होता है।

क्लोम के रोग (मधुमेह को छोड़कर) निम्न लिखित हैं।

१—क्लोम कोथ या शोथ (अ) तीव्र क्लोम कोथ (आ) ईषत् तीव्र कोथ, (इ) जीर्ण क्लोम शोथ। २—क्लोम का फिरंग ३—क्लोम की अश्मरी ४—क्लोम सिस्ट ५—क्लोम का कर्कस्फोट या अर्बुद।

तीनों प्रकार (अ—आ—इ) के क्लोम कोथ या शोथ का निदान सम्प्राप्ति तथा व्याधित अङ्ग का विज्ञान—

इन रोगों में कारणभूत वस्तु क्लोम-रस है, जो अपनी नलिका से निकल कर क्लोम में फैल जाता है अथवा किसी बाह्य पदार्थ के प्रविष्ट होने पर उसके सम्पर्क से दूषित होकर उसका पाचन करने लगता है। ऐसा क्यों होता है, इसके कारण निम्न लिखित हो सकते है।

(१) एक विचार यह है कि दूषित पित्त मुख्य स्रोतस्विनी द्वारा क्लोम मे चला जाता है और वहां प्रोटीन पाचक-जनक नामक क्रियाशील तत्व को उत्तेजित कर देता है, जिससे वह प्रोटीन पाचक के रूप में परिवर्तित होकर क्लोम का ही पाचन करने लगता है। इस प्रकार दूषित पित्त का क्लोम में पहुँचना लगभग २० प्रतिशत रोगियों में पित्ताशय-शोथ वा पित्ताशयाश्मरी में पाया जाता है। एक अन्य विचारक का

विचार है कि यदि पित्त-नलिका का मुख तथा क्लोम रस-वाहिनी का मुख (मुख्य स्रोतस्विनी) एक ही स्थान पर ग्रहणी में खुलता है, जैसा कि ७० प्रतिशत रोगियो मे होता है, ऐसी दशा में यदि अश्मरी "वेटर की कलसिका" में अड़ जाए तो पित्त क्लोम स्रोतस्विनियों द्वारा क्लोम में पहुँच जाता है पर ऐसा वहुत कम देखनेमें आया है। तीसरा विचार यह है कि पित्त नलिका वृन्त के चातुर्दिक् अवस्थित आड़ी के पिधान स्नायु के आक्षेप में भी पित्त क्लोम में चला आता है। पिधान-स्नायु का आक्षेप पित्ताशय पर दवाव के कारण अथवा वेटर की कलसिका पर उदहरिकाम्ल का वेटर की कलसिका पर तनु लेप लगने पर हो जाता है। यह उदहरिकाम्ल आमाशय से आता है, पर कभी-कभी ही आता है।

(२) रिच तथा डफ नामक विद्वानों ने मनुष्यों में तथा प्रायोगिक पशुओं के सख्त तीव्र क्लोम शोथ में धमनियों व शिराओ की दीवारों की भी तीव्र शोथ जन्य, सतत होने वाली विशिष्ट क्षति पाई थी तथा रक्तस्राव के कारण कोथयुक्त शिरा धमनियों की भित्तियों का फटना पाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने क्लोम रस को विना प्रोटीन पाचक जनक की सुक्रियता के भी, जो कि आन्त्रिक स्राव जन्य होती है, क्लोम रस को कोथ का कारण पाया। उनका विचार है कि बद्ध स्रोतों के पिछले प्रदेश में रहने वाली ग्रन्थि पिडिकाओं की भित्तियां दवाव के कारण प्रसृत व पतली होजाती हैं और फट जाती हैं। इस भंग का कारण स्रोतस्विनियों का बाधाजन्य दवाव है, जो कि अधिक भोजन के पश्चात् अधिक क्लोमरस के प्रवाह के कारण बद्ध स्रोतो में उत्पन्न होजाता है। मुख्य स्रोतस्विनी तथा वेटर की कलसिका में यह

पित्ताश्मरी जन्य वाधा हो सकती है; किन्तु उन्होंने यह वाधा लघुस्रोतों की शाखा में पाई, जिसका कारण रेखामय उत्तान स्तरिका की परिवर्तनावस्था को पाया। यह क्षति समस्त क्लोमकोथ के आधे से अधिक रोगियों में पाई गई। सारांश यह कि उक्त सभी कारण मिलकर इस रोग को उत्पन्न करते हैं; किसी एक कारण का नाम नहीं लिया जासकता है। मृत्यु के कारण प्रोटीन के पाचन से उत्पन्न सविष पदार्थ हैं, जो कि क्लोम तन्तुओं के अर्धपाचन से उत्पन्न होते हैं। यह सविष पदार्थ अति शीघ्र शरीर में शोषित होते हैं और तीव्र मस्तिष्काघात कर मृत्यु का कारण बनते हैं।

रुग्ण अवयव का स्वरूप तथा शरीर में परिवर्तन—इस रोग में क्लोम शोथ युक्त, मृदु तथा वर्णमें यकृदाभ होजाता है। सरक्त में यह लाल तथा कोथ होने पर काला दिखाई देता है। रक्तस्राव अवश्यंभावी नहीं, किन्तु आकस्मिक घटना है। कभी २ यही प्रधान रूप में पाया जाता है। रुग्ण क्लोम को चर्म-चक्षुओं से देखने पर यह स्वस्थ प्रतीत होता है किन्तु अणुवीक्षण रूपी चक्षु से देखने पर कोथ के लक्षण मिलेंगे। इस रोग में तीव्र वेदना का कारण शायद तीव्र शोथ है। अणुवीक्षण चक्षु से निम्न लिखित परिवर्तन प्रत्यक्ष होते हैं। छोटे २ सकोथ प्रदेशों का स्थान सौत्रिक तन्तु ले लेते हैं। कभी-कभी बड़े २ प्रदेशों में संक्रमण होनेके पश्चात् विद्रधि उत्पन्न हो जाती है और क्लोम का बड़ा भाग नष्ट होजाता है। उदर्याकला में विशेष कर लघुकोष में, एक मलिन वसा युक्त एवं देखने में गोमास रसवत् स्वरूप वाला तरल एकत्र हो जाता है, जो कुछ समय पश्चात् कुपित हो जाता

है तथा सपूय उदर्याकला शोथ उत्पन्न करता है। अणुवीक्षण द्वारा सूक्ष्माकार तन्तुओं का कोथ पाया जाता है, क्योंकि अनिपुष्ट कोथ में यह तन्तु दृष्टि-गोचर नहीं होते। सकोथ तन्तुओं में भी विभिन्न मात्रा में रक्त-स्राव होता है।

कुथित क्लोम के सम्पर्क में आने वाली वसा में भी कोथ हो जाता है। यह कुथित वसा शल्यक्रिया में क्लोम के चारों ओर या स्वयं क्लोम पर श्वेतवर्ण के धब्बों के रूप में जमी हुई मिलती है। यह वसा-कोथ तीव्र क्लोम कोथ का निर्णायक है। कुथित वसा के यह लघु ठोस अपारदर्शक श्वेत क्षेत्र क्लोम के स्तर पर तथा आसपास की उदर्या-कला में दृष्टि-गोचर होते हैं। यह क्षेत्र इस बात का प्रमाण है कि क्लोम-रसस्थ वसा पाचक स्रोतों से स्वतन्त्र होकर क्लोम में पहुँच गया है तथा वहां वसा के यह क्षेत्र पाक कर दिये हैं। वसा के पाचन से मधु-शर्करा तथा वसाम्ल बनते हैं। मधु शर्करा शरीर में शोषित हो जाती है तथा वसाम्ल क्लोम के सूक्ष्माकार कोषों में जमा होजाते हैं। इन वसाम्ल क्षेत्रों में कुछ ही सप्ताहों में शोषण होने की प्रवृत्ति होती है; किन्तु कभी २ यह सुधा लवण के साथ मिल कर श्वेत धब्बे उत्पन्न कर देती है। अणु वीक्षण द्वारा देखने में कुथित वसा कोष स्वस्थ वसा के कणों की अपेक्षा अपार दर्शक होते हैं। रुग्ण अङ्ग में स्वस्थ वसा को हम व्रणों को क्लोरोफार्म या इक्सोल से साफ करते समय विलयन के रूप में पाते हैं। यह विलयन वसा व क्लोरोफार्म के संपर्क से तैयार होता है। कुथित क्षेत्र सर्वथा शरीर के श्वेताणुओं (रक्तलसीका, पूय आदि के) से चारों ओर से आवृत्त होते हैं।

उक्त परिवर्त्तन तो तीव्र क्लोम कोथ में पाये जाते हैं। जीर्णक्लोम शोथ में अग्रस्थ परिवर्तन होते हैं। मृदु के विपरीत इसमें क्लोम कठोर, घन संकुचित पाया जाता है तथा उसके क्रियाशील अङ्ग का संकोच तथा आधारभूत सौत्रिक भागकी वृद्धि पाई जाती है। इसका कारण दूषित पित्त का बारंबार मुख्य स्रोतस्विनी द्वारा क्लोम में जाना है। शर्करा-शासक रस-स्रावक द्वीपक-समूह ग्रन्थिपिडिका संस्थान से पृथक् है अतः वह प्रायः प्रभावित नहीं होता, किन्तु यदि घन संकोच तीव्र हो तो यह भी प्रभावित होकर मधुमेह को उत्पन्न करते हैं। क्लोम की कठोरता के कारण क्लोम क केन्सर तथा जीर्ण क्लोम शोथ में भ्रम हो सकता है।

तीव्र क्लोम कोथ–

पर्याय—तीव्र अग्न्याशय शोथ या प्रदाह—

निदान–

ऊपर सामान्य निदान का वर्णन किया गया है। वही इसका भी निदान समझना चाहिये। पाठकों के लाभार्थ संक्षेप मे यहां वर्णन किया जाता है। साधारण पित्त नलिका के मुख पर बाधा उपस्थित होने पर पित्त क्लोम में चला जाता है और वहां क्लोम रस के विविध पाचक क्रिया शील तत्वों को उत्तेजित कर क्लोम का पाचन कर देता है। यह बाधा ५० प्रतिशत मे पित्ताश्मरी जन्य है और अतीव स्वल्प-रोगियों में क्लोमाश्मरी का व्रध्नक्रमि जन्य। यदि सामान्य पित्त नलिका में कोई बाधा उपस्थित न हो तो इसका कारण ओडीके पिधान स्नायुका

आक्षेप होता है। इस आक्षेप का कारण तीव्र आमाशय प्रहणी शोथ हो सकता है। यह दोनों रोग भी क्षोभक विषों के कारण होते हैं। विरल अवस्थाओं में यह अग्न्याशय क्लोमाघात या रक्तस्राव के कारण भी हो सकता है। अति विरलावस्था में रक्त अभिसरण द्वारा दूषित लसीकाणुओं से अथवा आमाशयिक व्रण का क्लोम से सीधा सम्बन्ध हो जाने की दशा में भी, तथा रक्तपूयता हृदयान्त कलाशोथ और अन्तः विद्रधि में रक्त द्वारा भी क्लोम संक्रमित हो जाता है। यह वात-श्लैष्मिक ज्वर, आंत्रिक ज्वर, मसूरिका का उपद्रव रूप से भी देखा गया है। कर्णमूल पाक में भी अति विरलावस्था में यह अनुबन्ध रूप में पाया गया है, किन्तु इसमें पाक नहीं होता।

रोग विज्ञान या सम्प्राप्ति—

पहले कह चुके हैं। इतना कहना शेष है कि तीव्र क्लोम शोथका उदर्याकला, तदन्तःस्थ और तद्बाह्य अङ्ग तथा कभी हृदयावरण-कला जैसे दूरवर्ति अंग भी प्रभावित हो जाते हैं। वहां पर संक्रमण लसीका द्वारा ले जाया जाता है। पित्ताशय तथा आमाशय में भी कीटाणु "बी० कोलाई, स्टेप्टोकाकस" पाये गये हैं।

लक्षण-

बिना किसी पूर्व रूप के चौड़ी या हृदय धारक प्रदेश में सहसा सुतीव्र वेदना उत्पन्न होती है। यह वेदना सन्तत रहती है, परन्तु बीच-बीच में अत्यन्त तीव्र वेदना के वेग आते रहते हैं। यह वेदना पृष्ठ तक जा पहुँचती है और दोनों पार्श्वों में भी वेदना होने लगती है। इसमें

यह विशेषता होती है कि रोगी शांत पड़ा रहता है। पित्ताशय व वृक्क शूल के समान छटपटाता नहीं और धीरे २ मोहावस्था को प्राप्त होता है। थोड़े समय पश्चात् वमन प्रारंभ हो जाते हैं तथा वमन भी कुछ अन्तर से लगातार आते रहते हैं। प्रथम आमाशयस्थ पदार्थ, फिर पित्त एवं तत्पश्चात् अपानवायु आने लगता है, किन्तु गुदाद्वार बन्द ही रहता है, उस ओर से अपान वायु आदि भी नहीं निकलता। श्रवण में, आमाशय व अन्त्रों की क्रियाशीलता द्योतक कोई भी शब्द सुनाई नहीं देता। उदर प्रदेश शीघ्र ही आध्मापित हो जाता है। स्पर्श पर, यह अति सुकुमार या आशुवेदनाज्ञ तथा मासपेशियां इस सुकुमारता के अनुपात से कठोर नहीं होतीं। यह सुकुमारता तथा तनाव (कठोरता) प्रथम कौडीप्रदेश से प्रारम्भ होता है ततः शीघ्र ही समस्त उदर में फैल जाता है। विरले रोगियों में वृद्ध क्लोम का स्पर्श कर सकते हैं, किन्तु तनाव व सुकुमारता के कारण यह सभव नहीं है। सशोथक्लोम के सामान्य पित्त नलिका पर दवाव के कारण गौण कामला उत्पन्न हो जाती है। रोगी शिथिल हो जाता है तथा नाडी क्षीण व तीव्र हो जाती है। त्वचा का वर्ण नीलाभ हो जाता है।

तीव्र उदर्याकला शोथ की अपेक्षा इस रोग में रुग्ण प्रथम कुछ घण्टों में अधिक रुग्ण प्रतीत होता है। विशेष बात यह होती है कि ताप बहुत ही कम बढ़ता है, कभी तो यह स्वस्थ से भी कम होता है। श्वासकृच्छ्र हो जाता है। मूत्र शर्करा विरल के कारण से मृत्यु अति शीघ्र हो जाती है। मूत्रशर्करा क्लोम के नाश के ६-७ दिन पश्चात् उत्पन्न होती है। प्रायोगिक पशुओं में देखा गया है कि क्लोम निकालने के

लगभग सप्ताह पश्चात् मूत्र में शर्करा का परिणाम बढ़ता है। इस रोग मे श्वेतसार पाचक दर्शन १०० या २०० से भी ऊपर पहुँच जाता है।

रोग निर्णय -

उदरगुहा विशेषत: उदर के ऊर्ध्वभाग के सब तीव्र रोगों मे इसकी सभावना पर विचार कर लेना चाहिये, विशेषत: प्रौढ़ अवस्था के स्थूल व्यक्तियो, मद्यपों, पित्ताशयाश्मरी, आमाशय व ग्रहणीशोथ के रोगियों में इसकी संभावना रहती है। यह प्राय: स्त्रियों में कम तथा पुरुषों में अधिक देखा जाता है। ध्यान पूर्वक इतिवृत्त लेने पर ज्ञात होगा कि रुग्ण व्यक्ति एक वार या अधिक कर इसी व्याधि के मृदु आक्रमणों का शिकार बन चुका होता है, जो तीव्र किन्तु प्रादेशिक क्लोम शोथ का परिणाम होते हैं, जो कुछ समय पश्चात् स्वय ही ठीक हो जाते है।

एक रोग जिसका तीव्र क्लोम कोथके साथ भ्रम हो सकता है वह है तीव्रान्त्रबद्धता। इन दोनो मे निम्न भेद है।

तीव्र क्लोम कोथ	*तीव्र बद्धान्त्र*
(१) आन्त्रिक शब्द प्रतीत नहीं होत।	(१) आन्त्रिक शब्द बढ़ जाते हैं।
(२) इसमें अपान-वायु गुदा द्वार से नहीं निकलती।	(२) अपान गुदाद्वार से निकलती है और बद्धस्थान से गुदाकी ओर वाला अन्त्र तीव्र गति से मल को निकालता है।
(३) मास-पेशियोंका तनाव कम	(३) उदर मांस-पेशियों का तनाव अधिक।

क्लोम या पित्ता (प्लीहा व पक्वाशय सहित)
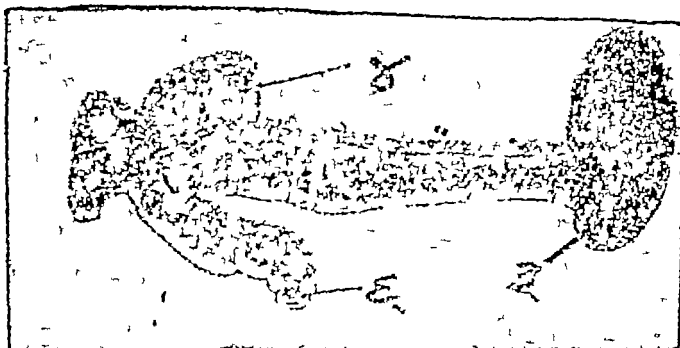
(१) क्लोम (पेन्क्रियास) इसका रङ्ग नीला होता है।

(२) क्लोम का सिरा

(३) तिल्ली, इसका हरा रङ्ग होता है।

(४-५-६) पक्वाशय और छोटी आंत का अंश

संक्षिप्त-विवरण—क्लोम, पक्वाशय के पास कान की अंजली के समान आकारवाला अवयव है, उसका 'मूसल' की तरह वाला भाग, आड़ेपन में नाभि के ऊपर बाईं ओर तक जाता है। जिगर का रङ्ग लाल, पित्ताशय का हरा-पीला-सा, आमाशय का गुलाबी और क्लोम का हलका-नीला वर्ण होता है।

तीव्र अग्न्याशय शोथ का आमाशय व पक्वाशय व्रणवेधन (इसमें आमाशय या ग्रहणी की दीवार में व्रण द्वारा छिद्र होजाता है और उसका सम्पर्क क्लोम से हो जाता है) के लक्षणों से भ्रम हो सकता है। नीचे की सरणि द्वारा दोनो मे भेद ज्ञात होगा।

तीव्र क्लोम शोथ–	आमाशय व पक्वाशय व्रण वेधन–
१–व्रण की उपस्थिति का पूर्व वृत्त प्राप्त नहीं।	१–व्रण की उपस्थिति का प्रागेतिहास प्राप्त।
२–वमन निरन्तर होती रहती है।	२–प्राय: वमन नहीं होती है, यदि होती है तो प्रारम्भ में ही।
३–ठेपन पर यकृदीय कठोरता सर्वदा उपस्थित रहती है।	३–व्रण छिद्र में से वायव्यो के आने के कारण यकृदीय कठोरता दूर हो जाती है।
४–पित्ताशयाश्मरी या शोथ का इतिहास मिलता है।	४–इसमें इसका अभाव होता है।
५–इसमें उदर मांस-पेशियां कम तनी होती है।	५–इनमें उदर मांस-पेशियों का तनाव अधिक होता है।

श्वेतसार पाचक दर्शन का बढ़ना तथा एड्रेनेलीन द्वारा तारा-प्रसृति रोग को प्राय स्पष्ट कर देते हैं।

परिणाम–

तीव्र व्याधि प्राय. घातक होती है। यदि शीघ्र शल्य क्रिया न की

जाय तो रोगी २-३ दिवस में यमालय की यात्रा कर जाता है। कई रोगियों में यह ईषत् तीव्र क्लोम शोथ में परिणत हो जाता है; विशेषकर जब एक या दो प्रदेशों में विद्रधि हो जाय तो रोगी एक सप्ताह तक जीवित रह सकता है। सौभाग्य की बात यह है कि क्लोम के यह रोग कम ही होते हैं। विरलावस्था में यह जीर्ण क्लोम शोथ में परिणत हो जाता है। आयुर्वेद में इसके रोगों का अधिक वर्णन नहीं है, केवल एक स्थान पर क्लोम विद्रधि रोग का नाम दिया है। उसके अरिष्ट लक्षण इसप्रकार हैं-

आध्मात बद्धनिष्यन्दं, छर्दि- हिक्का-तृषान्वितम्।
रुजा श्वास-समायुक्त, विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥

चिकित्सा-

'अत्र धन्वन्तरीयाणामधिकारः' रोग-ज्ञान होते ही शल्य क्रिया करनी चाहिये। केवल कर्णमूल रोग-जन्य क्लोम-शोथ को छोड़कर क्लोम-रस को उससे बाहर निकालने के लिये एक वाहक नलिका बनादी जाती है; पर ऐसा करना भी भयावह है, किन्तु रोगी की प्राणरक्षार्थ यह करना ही चाहिये। यदि पित्ताशय शोथ उपस्थित हो तो उसमें भी एक पित्त वाहक नलिका जो अन्त्र में सीधी पित्त को ही लाये, बना देनी चाहिये। जितनी ही शीघ्र शल्यक्रिया की जायगी उतना रोगी के स्वस्थ होनेका अवसर अधिक होगा, किन्तु यदि रोगी स्वस्थ भी हो जाय तो भी क्लोम-रस का सदा अभाव रहेगा। शल्य क्रिया किस प्रकार करनी चाहिये? इस विषय में समय पाने पर पुनः लिखा जायगा।

ईषत् तीव्र क्लोम कोथ-

पर्याय—तीव्रक क्लोम शोथ।

परिचय—

इस रोग मे प्रादेशिक पाक होता है। समस्त क्लोम प्रभावित न होकर विशिष्ट प्रदेश ही प्रभावित होते है। इसका निदान व संप्राप्ति पूर्व-रोगवत् है। विशेषता इतनी ही है कि इसके साथ पित्ताश्मरी आमाशयिक वा पक्वाशयिक व्रण वेधन का सम्बन्ध अधिक होता है।

लक्षण-

इस व्याधि मे वेदना के वेग बहुधा कौड़ी प्रदेश या वाम (आमशय प्रदेश) कौड़ी प्रदेश मे होते हैं, जो कि वाम पार्श्व के सीमान्त तक पहुंचते हैं। यह पीड़ा मांस पेशियों को वेधती हुई पृष्ठीय-सुषुम्नावश के वाम भाग तक पहुँचती है, जिससे वृक्क शूल भी उत्पन्न हो सकता है। इसके वेग वामोर्ध्वभाग में स्कन्ध तक वामाधः भाग मे जघनकपाल के खात तक और वहां से भी आगे ऊरु तथा जंघा तक पहुंचते हैं। वेदना के साथ गंभीर सुकुमारता भी उपस्थित हो सकती है किन्तु तनाव अन्यत्व या उसका सर्वथा अभाव होता है। उदर प्राय. आध्मापित रहता है। दो वेगों के मध्यकाल में रोगी प्रायः स्वस्थ रहता है। वेग-काल में क्लोम शोथ के समान त्वचा का आकार नील वर्ण हो जाता है। नाड़ी क्षीण होजाती है। मल प्रायः स्वस्थवत् रहता है। मूत्र में शर्कराधिक्य निरन्तर उपस्थित नहीं रहता, किन्तु वेगों के समय रक्त में शर्करा की अधिकता तथा मूत्रशर्करा भी पाई जाती है।

रोग निर्णय-

सहज पित्ताश्मरी की प्रवृत्ति वाले रोगी में, पित्ताश्मरी में, या पित्ताशय को निकालने के पश्चात् वाम भाग में उक्त प्रकार की वेदना के वेग इस रोग के ज्ञापक हैं। उक्त प्रकार की वेदना जो पृष्ठवंश तक जाती है, आमाशयिक व ग्रहणी व्रण में संभव है। सहसा सुतीव्र वेदना, गम्भीर सुकुमारता, तनाव तथा रक्त में श्वेताणु वृद्धि और त्वचा का विशेष वर्ण इस रोग के ज्ञापक हैं। मधुमेहज सन्यास में भी यह लक्षण उपस्थित हो सकते हैं।

चिकित्सा-

वेदना के वेगों का पुनरावर्तन इस प्रकार के आहार से दूर किया जा सकता है, जिससे क्लोम को पूर्ण विश्राम मिल सके। प्रथम ३ दिन तक रोगी को उपवास कराना चाहिये, बाद में ३ दिन तक कार्बोज रहित भोजन देना चाहिये, फिर ऐसा लघ्वाहार दें जिसमें मांस और वसा का अभाव हो। मल में क्लोम रस न्यूनता जन्य लक्षण न होने पर वसा व मांस का प्रयोग न करें। तीव्र वेदनायुक्त वेग के समय शल्यक्रिया विचारणीय है। यदि पित्ताशयाश्मरी हो तो उसे निकाल दें और पित्ताशय में पित्त वाहक नलिका लगादे, किन्तु पित्ताशय का छेदन न करें।

जीर्ण क्लोम शोथ-

पर्याय—जीर्ण अग्न्याशय शोथ।

परिचय—

इसमें क्लोम का परिमित प्रदेश ही प्रभावित होता है तथा उसमें सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं। वाम भाग में वेदना रहती है। गौण कामला देखी जाती है। वारंवार दूषित पित्त का क्लोम में पहुंचना इसका कारण है। निदान तथा रोग विज्ञान प्रथम ही कहा जा चुका है। संक्षेप में यहां भी वर्णन किया जाता है।

निदान व सम्प्राप्ति–

इसका कारण मुख्य स्रोतस्विनी का संक्रमण है, विशेष कर उस समय जब कि उसमें बाधा उपस्थित होने के कारण क्लोम रस का प्रवाह मन्द हो जाता है। विशेष कर उन व्यक्तियों में जिनमें गौण स्रोतस्विनी रक्त का वहन न कर सकती हो, बाधा का कारण वही है। पित्ताश्मरी का लघु कण वेटर की कलसिका में आजाय अथवा साधारण पित्त नलिका को बन्द करदे, विशेष कर जब कि वह अग्न्याशय शिर से समावृत हो। विरलावस्थाओं में मुख्य स्रोतस्विनी क्लोमाश्मरी से बद्ध होती है। यह अश्मरी क्लोम स्रोतस्विनियों के शोथ का परिणाम है। क्लोम शिर का कैंसर, वेटर की कलसिका व ग्रहणी का केंसर, सामान्य पित्त नलिका का मुख बन्द होना आदि इसके प्रधान कारण हैं। यदि बाधा का कोई विशेष कारण उपस्थित न हो तो अवस्थ कारण उपस्थित हो सकते हैं। पित्ताश्मरी जो निकल चुकी है किन्तु संक्रमण पहुंचाकर, यह संक्रमण ग्रहणी से व ऊर्ध्व पित्तनलिका से पहुँचता है, जब कि अश्मरी रहित पित्ताशय शोथ हो। आन्त्रिक ज्वर में पित्त नलिकास्थ सक्रमण भी इसका कारण हो सकता है। जब कभी आमा-

शयिक वा पक्वाशयिक व्रण क्लोम के गात्र पर खन कर देता है तब भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। जीर्ण शोथ में शोथ तथा सौत्रिक-तन्तुमयता प्रायः ग्रन्थिपिण्डिका के मध्य में पाई जाती है। यह उत्पन्न सौत्रिक तन्तुओं के स्तरबन्धन शल्य क्रिया करने पर साधारण नेत्रों से भी देखे जा सकते हैं, जो ग्रन्थिपिटिका को एक दूसरे से पृथक् करते हैं। विरलतया यह कोष मध्यवर्ति भी पाये जाते हैं। इस रोग में प्रायः क्लोम-शिर अधिक प्रभावित होता है। यह कठोर तथा कुछ बड़ा होता है।

लक्षण–

जीर्ण शोथ में क्लोम रस के साधारण कार्य में भिन्नता तो अवश्य आती है किन्तु अलक्षित रूप से। शोथ इतनी तीव्र नहीं होती कि आहार पाचन में बाधा उपस्थित कर सके। जिन व्यक्तियों की सामान्य पित्त नलिका क्लोम शिर द्वारा पूर्ण रूप से समावृत रहती है, उनमें कामला उत्पन्न हो जाती है। यह केवल लक्षण है स्वयं रोग नहीं। यदि कामला बिना वेदना के गुप्त रूप से बढ़ रही हो और उसमें पित्ताशय महणी शोथ, या पित्त नलिका शोथ से उत्पन्न कामला के लक्षण न हो, तो यह कामला जीर्ण क्लोम शोथ जन्य समझनी चाहिये। पित्ताशय प्रसृत पाया जाता है, यदि उसकी प्रसरण शीलता जीर्ण पित्ताशय शोथ द्वारा नष्ट न करदी गई हो, किन्तु स्पर्श द्वारा उसे जानना कठिन है। यकृत प्रायः वृद्ध एवं कोमल के स्थान पर असाधारणतया कठोर होगा। क्लोम रस की बाधा से उत्पन्न अजीर्ण वाले व्यक्तियो के मल में वसा-बाहुल्य तथा अपक्व मांस पाया जाता है। इनमें अतिसार भी उत्पन्न हो

सकता है। असाधारण रोगियों में तीव्रातिसार तथा पूर्ण क्षुधा नाश भी पाया जाया है, मधुमेह विरल किन्तु यदि शोथ ग्रन्थि पिडिकाओं और शर्करा शासक द्वीपक समूह तक फैल जाय तो यह हो सकता है। यद्यपि जीर्ण क्लोम शोथ स्वयं तो वेदना को उत्पन्न नहीं करता किन्तु यदि ईषत् तीव्र क्लोम कोथ हो तो उसके वेगों में उदर वेदना अनुभूत होती है। वेदना की प्रवृत्ति ईषत् तीव्र क्लोम कोथ के समान वाम भाग की ओर होती है। पित्ताश्मरी में इस प्रकार की वेदना इस रोग को तथा आमाशय, पक्वाशय, व्रण संपर्क जन्य क्लोम संक्रमण को प्रकट करती है।

निदान–

निदान कठिन है। यदि पित्ताश्मरी आदि उक्त कारण भूत रोगों में रक्त में शर्कराधिक्य मूत्र शर्करा सहित या रहित उपस्थित हो तो इस रोग की संभावना की जा सकती है। जीर्ण कामला में केवल मात्र मल का परिवर्तन इस रोग का द्योतक नहीं है, क्योंकि जिनमें लघु स्रोतस्विनी पूर्णतया कार्यक्षम नहीं होती, उनमें वेटर की कलसिका की बाधा, कामला का कारण हो सकती है, चाहे क्लोम स्वस्थ ही हो। निदान रहित वा संदेह-ग्रस्त कामला में इस रोग का विचार कर लेना चाहिये। यदि कामला सज्वर तीव्र आमाशय ग्रहणी शोथ के लक्षणों के पश्चात् उत्पन्न हुई हो तो उसे उक्त रोग जन्य समझना चाहिये। वेदना के वेग पित्ताश्मरी की संभावना प्रकट करते हैं। चाहे उसका विशिष्ट लक्षण या इतिहास मिलता हो या नहीं। वेदना के वेगों के अभाव में यदि पित्ताशय प्रसृत पाया जाय तो जीर्ण क्लोथ शोथ वा केन्सर सम-

झना चाहिये। केन्सर में जीर्ण आमाशय शोथ भी अपना नीमाना और निर्बलता अधिक तेजी से उत्पन्न होती है। जब रोगी पूर्णतया स्वस्थ हो चुके तो समझना चाहिये कि जीर्ण अग्न्याशय शोथ थी। यह उपशय द्वारा निदान है। प्राय. रोगियों मे कामला, कौड़ी प्रदेश मे वेदना, लोभ विरल, स्थानिक सुकुमारता, क्षुधा नाश, आध्मान, भार की कमी, मल मात्रा में अधिक, पाडु या श्वेत वर्ण तथा उसमें अपक्व मास तन्तुओं की उपस्थिति तथा उसमे अम्लताधिक्यादि लक्षण हों तो जीर्ण क्लोम शोथ समझे। क्लोम रोगों की उपर्युक्त दोनों परीक्षाएं करलें।

परिणाम–

गौण जीर्ण क्लोमशोथ परिणाम प्रधान व्याधि पर निर्भर है। पित्ताश्मरी को, जीर्ण अग्न्याशय शोथ होने पर भी निकाल ही देना चाहिये। प्रधान रूपेण समुत्पन्न जीर्ण क्लोम शोथ, बिना किसी शल्य क्रिया या औषधि के, ठीक होते देखे गये हैं। मृत्यु का कारण प्राय. उपद्रव ही बन जाया करते हैं।

चिकित्सा--

गौण जीर्ण क्लोमशोथ में प्रधान-व्याधि की चिकित्सा को जैसा कि चरक ने कहा है—"अनुबन्ध्यश्चिकित्स्यानुबन्धाविरोधेन' करे। कामला अधिक से अधिक तीन मास मे नष्ट न हो, रोगी का भार शीघ्रता से कम हो रहा हो, यकृत की क्रियाशीलता में बाधा हो रही हो तो शल्य क्रिया करनी चाहिये। इस दशा में पित्ताशय का एक छिद्र द्वारा अन्त्रों से सम्बन्धित कर देना उत्तम है, ताकि दूषित पित्त, क्लोम में न

जा सके। इस प्रकार गौण जीर्ण क्लोम शोथ की सम्भावना कम हो जाती है।

इस लेख के लिखने में हमें अपने मित्र डाक्टर एस. पी मेहता एम. डी. से विशेष सहायता मिली है, अतः उनका धन्यवाद करना आवश्यक है। पारिभाषिक शब्द कुछ तो श्री० गणनाथ सेन जी के 'प्रत्यक्ष शारीर' से लिए गए हैं, और कुछ का स्वयं निर्माण किया गया है।

× × × ×

नोट–इस लेख का सर्वाधिकार लेखक को है। उसकी आज्ञा के बिना इसका पूर्णरूप से या खण्ड रूप से, प्रकाशन करना निषिद्ध है।

—सम्पादक।

तिल्ली पर क्षार चिकित्सा।

लेखक—कविराज श्री० प० द्वारिकाप्रसाद जी शर्मा,
दधिमति आयुर्वेद-भवन, राजगांगपुर, (विरभूम)।

१०४-एक तोला पापड़ खार वस्त्र से छान कर, हरा नारियल जो जल से भरा हो उसके मुंह को छेदकर रात्रि के ८-६ बजे, उसी में १ तोला यह पापड़ खार डाल दे, उसे अच्छी तरह हिला कर मुंह पर डाट लगा कर घर की छत पर हवा में रखदें।

तिल्ली के रोगी को सुबह ६-७ बजे शौचादि के बाद मुख मार्जन कराके इतना भगावे कि वह खूब हांपने लगे, फिर उसे खड़ा करके नारियल के अन्दर का जल हिला कर और छान कर पिलादे। जब तक सांस का दम ठीक हो तब तक आहिस्ते २ घूमे। फिर चाहे जो कुछ भी करे। शाम को दाल रोटी खावे। दिन में भी उसी नारियल का टुकड़ा खाए तो अत्युत्तम है। दवा लेने के २०-२५ दिन के बाद ही तिल्ली नष्ट होगी। यदि ज्यादा दिनों का रोगी हो और तिल्ली बढ़ी हुई हो तो पुन. दे। नहीं तो एक बार ही काफी है।

मात्र एक ही दिन दवा देनी पड़ती है। रोगी को १-२ दस्त या कै होती है और तभी से आराम भी मालूम देने लगता है।

——❀——

पेट-प्रपंच

लेखक–आयुर्वेदाचार्य प० श्री० महावीरप्रसादजी जोशी,
सादुलपुर (बीकानेर)

जिस तरह सासारिक व्याधियों, अन्याय, उपद्रव आदि का कारण केवल पेट को बताया जाता है। छोटे-बडे, अमीर–गरीब सभी पेट के आधीन हैं। चोरी की जाती है तो पेट के लिये, भीख मागी जाती है तो पेट के लिये, सिविल वार होती है तो पेट के लिये, यहां तक कि महायुद्धों के मूल मे भी अन्तत' पेट की समस्या का ही पूरा हाथ है। ठीक इसी तरह शारीरिक संसार में भी उदर देवता का ही साम्राज्य है, स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य सब कुछ इसकी ही कृपा पर निर्भर है। आखें पसार कर देखने से प्राय: सभी रोगों के मूल में भोजन की अव्यवस्था एव उदर–शक्तियों की त्रुटि किसी न किसी रूप में अवश्य ही कारण है, क्योंकि शरीर में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र–रूप जो सात धातु या शक्तियां है, यह सब भोजन पर होने वाली उदर की क्रियाओं पर ही निर्भर हैं। इसलिये उदर–शक्तियों की क्षीणता से उत्पन्न, पाचन विकृति जन्य विबन्ध या अतीसार अधिक से अधिक रोगों के लक्षणों में सम्मिलित हैं। इनमें भी विबन्ध की ही प्रधानता है, क्योंकि स्वयं अतिसार का भी मूल कारण विबन्ध ही है। इसलिए 'धन्वन्तरि' के पाठकों के सामने विबन्ध का ही कुछ विवेचन किया जाता है।

विबन्ध–

विबन्ध को मलावरोध, बद्धकोष्ठ, कब्ज या कांस्टिपेशन (Constipation) कहते हैं। नियत समय पर मल–त्याग क्रिया में त्रुटि रहना, मल का बाहर चिपका रहना या चिकना होना आदि इसके लक्षण हैं।

यह आजकल बहुत ही तीव्र गति से जनता पर अपना रौब जमा रहा है। वैद्य या डाक्टरों की कृपा से यह घटने की अपेक्षा बढ़ता हुआ, अन्य रोगों को भी निमन्त्रण देता रहता है। यह विबन्ध रोग पहले यहां इतनी अधिक मात्रा में नहीं था, किंतु अब दिन-दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। इसका एक मात्र कारण हमारा प्रज्ञापराध ही है। राजकीय कानून के उल्लंघन करने पर जिस तरह व्यक्ति दण्डित होता है, उसी तरह प्राकृतिक नियमों का भङ्ग करने वाले, क्यों न ऐसी आफतों के शिकार बनें? सदाचार, श्रम, शारीरिक एवं मानसिक स्वच्छता और संयम आदि सद्गुणों का त्याग तथा चटपटे भोजन, अटपटे आराम, चाय, सिगरेट, शराब आदि प्रकृति विरुद्ध वस्तुओं का सेवन ही, शारीरिक शक्तियों को क्षीण करता हुआ यह अनोखा उपहार सादर समर्पित करता है।

शरीर में भोजन की पाचन क्रिया संक्षेपत. इस तरह निष्पन्न होती है—सर्व-प्रथम भोजन पर दांतों का आक्रमण होता है, यह इसे मर्दन करने में पर्याप्त प्रयत्न करते हैं, जिसमें चर्वण के साथ ही लाला ग्रन्थियों का रस मिल जाने के कारण भोजन आमाशय के उपयोग में आने वाला द्रव बन जाता है। जब दांतों से कम काम लिया जाता है तो लाला रस भी इसमें साधारण ही मिल पाता है, जिससे आमाशय अधिक प्रयत्न करने पर भी कठिनता से कृतकार्य हो सकता है। आमाशय में भोजन पर विविध रसों का प्रयोग होता है, जिससे भोजन खूब मथे हुए घोल की तरह होजाता है। वहा से ग्रहणी द्वारा पक्वता का सर्टिफिकेट लेकर छोटी आंतों मे प्रवेश करता है, जहां यकृत, क्लोम आदि के रस दुष्पाच्य चीजों पर अपना कार्य करते हैं। सुपक्व रस सूक्ष्म ग्राहकांकुरों के द्वारा खींच लिया जाता है। बाकी द्रव्य बडी आंत में फेंक दिया जाता है, जिसकी लम्बाई ५ फीट है। बड़ी आंत में आहार का वह अंश पहले ऊपर चढ़ता है फिर आड़ा चलता हुआ नीचे उतर कर मलाशय में संचित होता है।

इस समय तक उसका द्रव भाग प्राय: शुष्क और गाढ़ा हो जाता है, बाद में गुदद्वार से उसका विसर्जन कर दिया जाता है।

जब भोजन चटपटा, अनियमित, अति सूखा, प्रकृति प्रतिकूल, अति स्निग्ध, भोजन पर भोजन और अचर्वित होता है तो उस पर आमाशय एवं छोटी आंत की क्रियायें ठीक नहीं होती हैं। तीखे, चरपरे भोजन, सिगरेट, चाय आदि से यकृत एवं अग्न्याशय भी विकृत हो जाते हैं, इसलिये इनका रस भी भोजन को ठीक तरह से नहीं मिल सकता है, जिससे मल में दुर्गन्ध हो जाती है और भोजन का पाक ठीक तरह नहीं हो सकता है। अपक्व अंश पर बड़ी आंत की क्रिया में भी त्रुटि रहती है और शनै:-शनै आतें कमजोर होती जाती हैं। आन्त्रिक ज्वर आदि आतों की बीमारियों से भी या बार-बार विरेचन, एनीमा आदि के प्रयोग से भी आतों की शक्ति शनै-शनै: क्षीण होती रहती है और विबन्ध बराबर बढ़ता रहता है। आतों में दुर्गन्ध पूर्ण मल के सचय से विविध विष तैयार होकर, रस रक्तादि में मिलते हुए, शरीर को रुग्ण बना देते हैं।

विबंध से साधारणतया शिर:शूल, उदरशूल, मन्दाग्नि, अरुचि, अङ्गमर्द, आलस्य, आध्मान, गौरव आदि प्रतीत होते रहते हैं। यदि शीघ्र ही प्रतिकार नहीं किया जाता है तो नाड़ीदौर्बल्य–न्यूरेस्थेनिया या स्नायु समूह की कमज़ोरी का शिकार बनना पड़ता है। इसलिये सभी इसके प्रतिकार के लिए तत्पर रहते हैं। पर होता है—'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।' कारण यह है कि विरेचनीय औषध या एनीमा वगैरह दैनिक विबन्ध में बराबर फेल ही नहीं होते हैं, प्रत्युत आतों को कमजोर बनाते हुए, उसे बढ़ाने का और अधिक प्रयत्न करते हैं।

एनीमा के विषय में प्राकृतिक चिकित्सा का दम भरने वाले एक सज्जन जीवन–साहित्य के किसी पिछले अङ्क में बहुत कुछ लिख गये हैं, उनके मत से एनीमा कभी भी आतों को कमजोर नहीं बनाता है। यद्यपि समय-

समय पर विशेष विबन्ध के लिए एनीमा का प्रयोग, जैसे अपने शास्त्रकारों ने लिखा है, करने में बहुत लाभ है, किन्तु दैनिक विबन्ध के लिये प्रतिदिन एनीमा प्रयोग करने वाले कभी कृतकृत्य नहीं होते हैं, यह मैं ढके की चोट कह सकता हूं। इसमें अनुभव तो प्रत्यक्ष-प्रमाण है ही, किंतु शास्त्र भी अनुकूल है—

'स्नेहवस्तिं निरूहं वा, नैकमेवातिशीलयेत्।'
'स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ, निरूहे पचनाद् भयम्॥'
'अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम्।'

—सुश्रुत संहिता।

दुःख तो हमें तब होता है, जब देखते हैं कि प्राकृतिक चिकित्सा के नाम से धाधली मचाने वाले लोग इस तरह की अप्राकृतिक वस्तुओं के दैनिक व्यवहार पर जोर देते हैं। अस्तु—

पर्याप्त शास्त्रावलोकन एवं अनुभव के बाद मुझे तो इस महाव्याधि से बचने के तीन ही उपाय प्राप्त हुए हैं। वे ये हैं—(१) संयम (२) व्यायाम (३) प्राणायाम।

संयम-

संयम से यहां आहार और विहार दोनों का ही शास्त्रवर्णित दिनचर्या के अनुकूल व्यवहार करने से अभिप्राय है। जैसे प्रातःकालिक उषःपान, तैल मर्दन, स्नान, सात्विक भोजन। इनके प्रयोग से विबन्ध पास भी नहीं फटक सकता है। इसलिये संयमशील वह ही कहला सकेगा, जो हित भोजी, मित भोजी और जितेन्द्रिय होगा। जितेन्द्रिय से मतलब है जो ऋतु, प्रकृति, स्थिति के अनुकूल ही इन्द्रियों को काम में लाने वाला हो।

व्यायाम-

विबन्ध के रोगी के लिये कुछ हाथ, पैर, पेट के व्यायाम तथा घूमना

बहुत ही आवश्यक है, जिससे कि अति स्निग्ध भोजन से बनी हुई वसा का कुछ उपयोग हो। वस्तुत वसा शरीर में शक्ति पैदा करने वाली वस्तु है, किन्तु वह शक्ति वसा के सञ्चित होने से पैदा नहीं होती है, प्रत्युत श्रम द्वारा वसा को जला देने पर होती है। जो लोग घी, दूध, बादाम आदि वसा बनाने वाली चीजों का बराबर सेवन करते रहते हैं, किन्तु परिश्रम करने में हिचकिचाते हैं, घूमने भी जाते हैं तो सवारी में, घर में इधर-उधर उठने-बैठने में ही जो परिश्रम की इति श्री समझ लेते हैं, उनकी आंतों पर वसा जम जाती है और आतों को कमजोर बनाती हुई विबन्धादि की शिकार बनाती है। इसके अतिरिक्त वृक्क, हृदय आदि अङ्गों पर भी वसा का आधिपत्य हो जाता है, जिससे ब्लड प्रेशर बढ़ कर बड़ी-बड़ी व्याधियों को पैदा करता है। व्यायाम द्वारा वसा को जला कर शरीर मे शक्ति पैदा करने वाले व्यक्ति, शरीर के सभी अङ्गों का बराबर पोषण करते रहते हैं, बचपन से लेकर बराबर व्यायाम करने वाले बुढ़ापे में भी जवान बने रह सकते हैं। हाथ, पैर, पेट के व्यायामों का विवरण साधारण अनुसन्धान से ही मिल सकता है।

प्राणायाम–

तीसरा प्रयोग है प्राणायाम। व्यायाम में जिस तरह बाहरी अङ्गो पर श्रम पड़ता है और वे ताकतवर होते हैं, उस तरह ही प्राणायाम में भीतरी अङ्गों को शक्ति मिलती है। अपने दैनिक सन्ध्यावादन में प्राणायाम को स्थान देने वाले ऋषि-महर्षियों के अभिप्राय को समझ कर यदि हम ठीक विधि के साथ प्राणायाम का अभ्यास रखते तो आज विबन्ध के इस सर्वतो-मुखी प्रसार की नौबत ही क्यों आती? पहले विबन्ध का बिलकुल प्रचार न होने के कारण ही आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसका पृथक् रूपेण कोई परिचय नहीं मिल रहा है, किन्तु दुर्भाग्यवश हम लोग महर्षियों के उस अभिप्राय को न समझ कर दैनिक प्राणायाम के प्रयोग को ही भूल गये। इसे न

केवल योगियों की ही चीज समझी गई, प्रत्युत गृहस्थों के लिये सर्वथा हानि कारक भी बताया गया।

यद्यपि प्राणायाम का पूर्ण प्रकरण योगियों के ही बोधगम्य है, किन्तु कुछ दैनिक प्रयोग, उड्डियान, नाड़ी शोधन, ब्रह्म दतौन तथा न्यौली आदि की विधियां योग्य गुरु से सीखने पर साधारण गृहस्थों के लिये भी लाभ-कर ही नहीं प्रत्युत बहुत आवश्यक हैं।

मेरे एक मित्र हैं, जिन्हें पहले कुछ दिन सग्रहणी की शिकायत रही, पर्याप्त चिकित्साएं करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। एक योगी गुरु के मिल जाने पर इन्होंने प्राणायाम, नाड़ी शोधन, उड्डियान तथा न्यौली क्रिया का अभ्यास किया, जिससे उनकी सारी व्याधियां निर्मूल हो गईं। जहां एक तोला घृत पचाना कठिन था, वहां एक डेढ़ छटांक तक आराम से पचने लगा।

एक अन्य सज्जन हैं, जो केवल ब्रह्मदंतौन का प्रयोग करते हैं, इन्होंने कई वर्षों से शिरः शूल तक का भी अनुभव नहीं किया, मेदो-वृद्धि, विबन्ध आदि साधारण शिकायतें तो उड्डियान मात्र के प्रयोग से ही रफूचक्कर हो जाती हैं।

इस कागज़ की मंहगाई के जमाने में, मैं विषय को अधिक तूल नहीं देना चाहता हूं, किन्तु मेरा जहां तक विचार है, विबन्ध को संयम, दिन चर्या सुधार, व्यायाम तथा प्राणायाम से ही ठीक करना चाहिये। फिर भी यदि औषध का ही आग्रह है तो मैं केवल त्रिफला-रसायन का ही नाम उपस्थित करता हूं। यह औषध रूप से नहीं, प्रत्युत दिनचर्या क्रम में सम्मिलित करने से विबन्ध ही नहीं, अन्य व्याधियां भी पास में नहीं फटकेंगी।

अब दो-एक अनुभूत उदाहरण विबन्धजन्य विशेष-रोगों के लिख कर यह लेख समाप्त करता हूं।
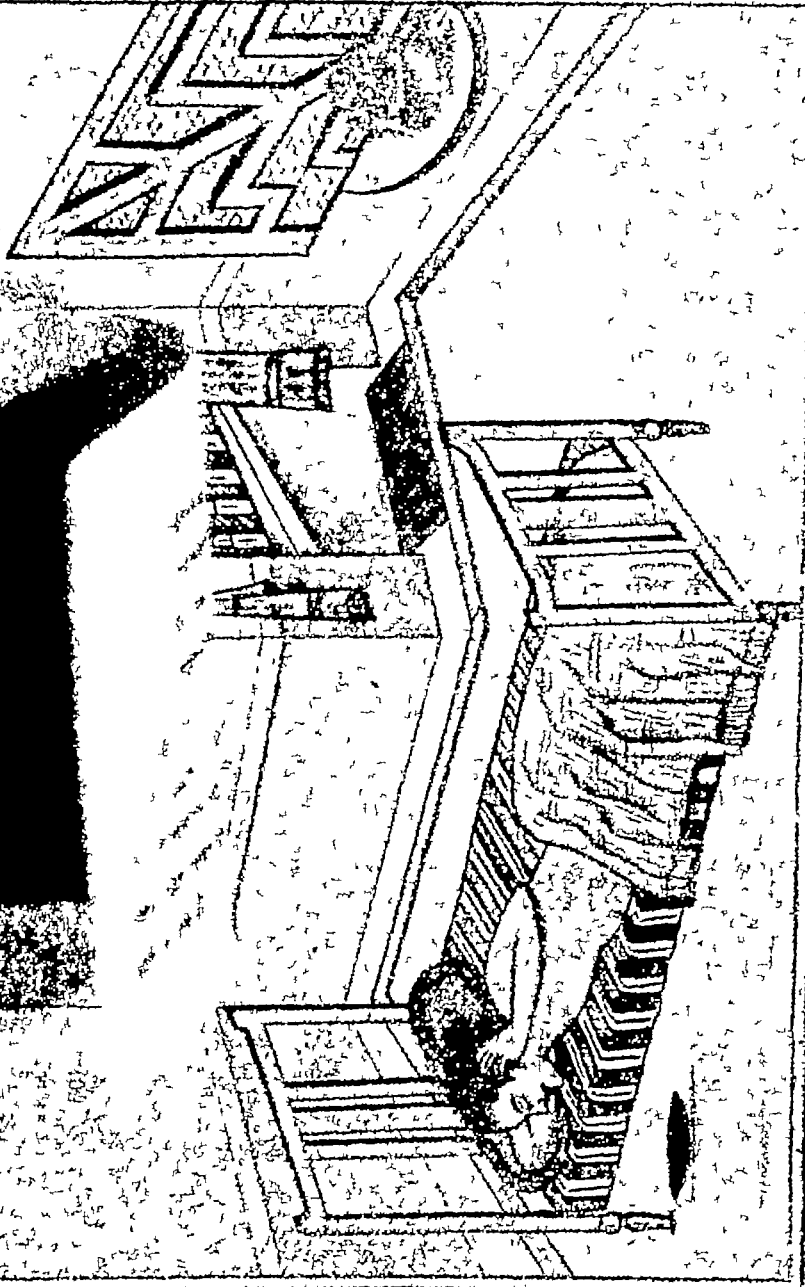
केवल योगियों की ही चीज समझी गई, प्रत्युत गृहस्थों के लिये सर्वथा हानि कारक भी बताया गया।

यद्यपि प्राणायाम का पूर्ण प्रकरण योगियों के ही बोधगम्य है, किंतु कुछ दैनिक प्रयोग, उड्डियान, नाडी शोधन, ब्रह्म दतौन तथा न्यौली आदि की विधियां योग्य गुरु से सीखने पर साधारण गृहस्थों के लिये भी लाभ-कर हो

कफोदर

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं, स्वापः श्वयथुगौरवम् ।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः, कासः शुक्लत्वगादिता ॥
उदरं स्तिमितं स्निग्धं, शुक्लराजीततं महत् ।
शिराभिवृद्धिकठिनं, शीतस्पर्शं गुरुस्थिरम् ॥

रोगी का शरीर जकड़ा हुआ, सुन्न-सा, सूजन सहित और है। रोगी में—नींद की अधिकता उबकाई, अरुचि, श्वास और शरीर का सफेद रंग होना, पेट भीगे हुए कपड़े से ढका तथा जकड़ चिकना, सफेद लकीरों वाला, फूला, भारी और ठण्डा मालूम देना लक्षण भी स्पष्ट हैं।

[illegible] है, किन्तु मेरा जहाँ तक विचार है, विबन्ध का संयम, दिन चर्या सुधार, व्यायाम तथा प्राणायाम से ही ठीक करना चाहिये। फिर भी यदि औषध का ही आग्रह है तो मैं केवल त्रिफला-रसायन का ही नाम उपस्थित करता हूं। यह औषध रूप से नहीं, प्रत्युत दिनचर्या क्रम में सम्मिलित करने से विबन्ध ही नहीं, अन्य व्याधियां भी पास में नहीं फटकेंगी।

अब दो-एक अनुभूत उदाहरण विबन्धजन्य विशेष-रोगों के लिख कर यह लेख समाप्त करता हूं।

(कफोदर)
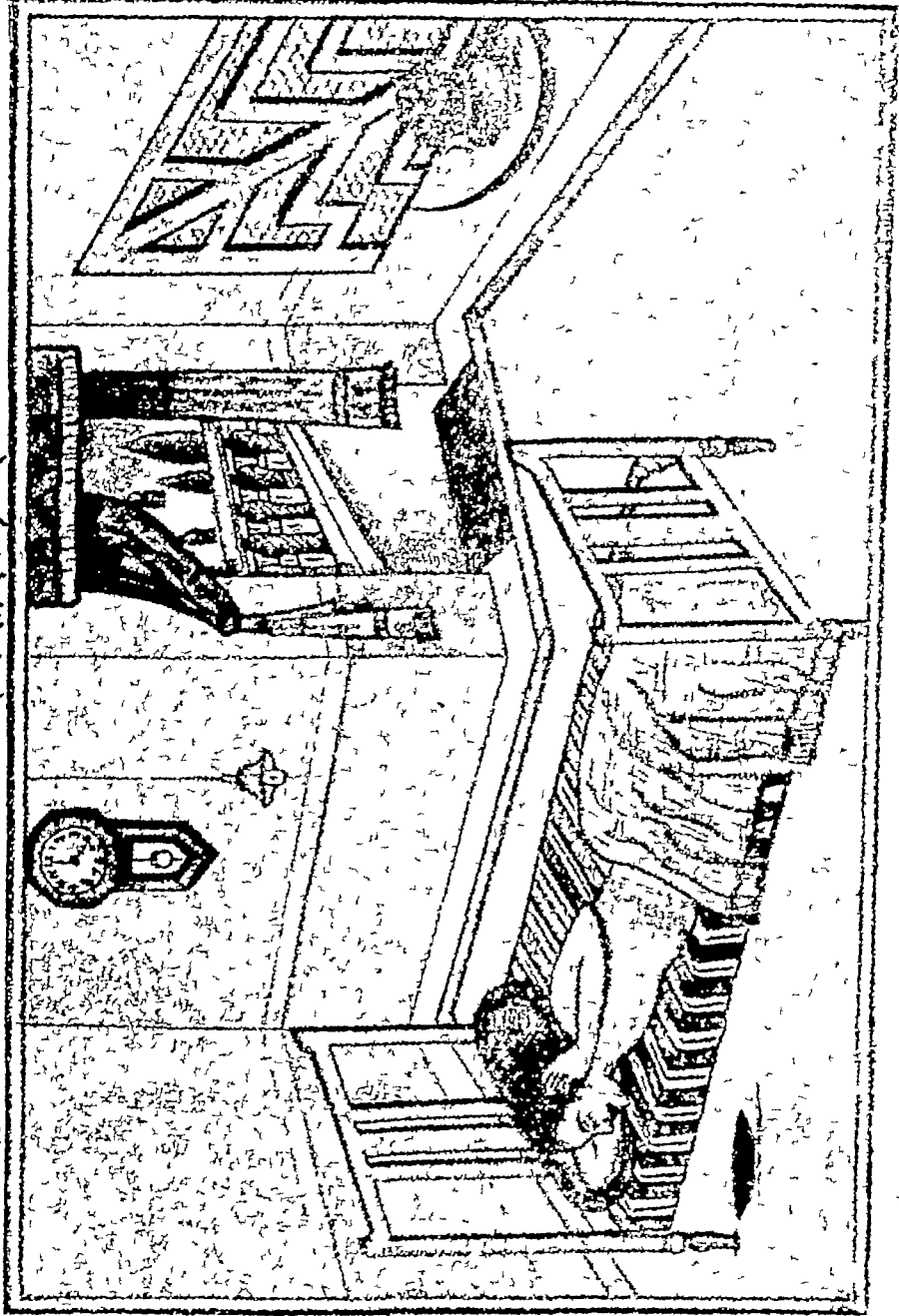
आन्त्रिक शूल-

शीत-काल की मध्य रात्रि में किसी के आवाज देने से मुझे होश हुआ। कपड़े पहन कर उसके साथ गया तो रोगी उदरशूल से बुरी तरह कराहता हुआ मिला। जब २ शूल उठता था तो बहुत जोर से शरीर को इधर-उधर फेंकता था, तीव्र व्यथा से व्याकुल होकर चिल्लाने लगता था। औंधा पड़ जाता था और दोनों हाथों से पेट को दबाता था, पर किसी तरह चैन न पड़ती थी, श्वासोच्छ्वास में कष्ट था और नाड़ी-गति मन्द एवं अनियत थी। उस समय विशेष विचार न कर, मैंने सद्य.फलद औषध का प्रयोग करना उचित समझा। घर वापिस आकर एक मात्रा शूलारि योग की दी। जिससे रात भर शान्ति मिली और वह रोग निकल गया।

प्रात काल जब उसे फिर देखा तो मालूम हुआ रोगी ५० वर्ष की आयु मे है। उसे ३-४ वर्ष से यह शूल का वेग आता है, वद्ध-कोष्ठ जीर्ण है, वातार्श भी है और शरीर क्षीण है। पहले कुछ दिन मन्दानल, पेट में भारीपन, वायु की गड़गड़ाहट, उबाक आदि मालूम होते रहे, फिर यह शूल का रोग शुरू होगया। इसमें नाभि के चारों तरफ ऐंठन की सी वेदना का अनुभव होता है, पेट गुम हो जाता है, शूल दो-तीन मिनट तक रह कर शान्त हो जाता है और कुछ देर बाद फिर शुरू हो जाता है। इस तरह कई घण्टों के बाद पेट मे गुड़गुड़ाहट होकर अधोवायु-स्राव होता है या मल-विसर्जन करना पड़ता है, तब पूर्ण शान्ति होती है। वेग न रहने के समय पेट में बिलकुल कठिनता

न होती थी, वेग-समय में कभी-कभी आध्मान भी होता था। कई चिकित्सा करने पर भी कुछ लाभ नहीं होता था।

पूर्वापर विमर्श के बाद मैंने इस अन्त्रशूल (एन्टर्रेल्जिया Enteralgia) निश्चित किया, जो कि विविध कारण जन्य जीर्ण-विबन्ध के कारण अधिकतर होता है; क्योंकि बद्धकोष्ठ के कारण अन्त्रावरोध होने पर अन्त्रप्रेरणा शक्ति की वृद्धि होती है, इससे वायु-प्रतिलोम होकर इस शूल को पैदा करता है। आमाशय-शूल (गेस्ट्रेल्जिया Gastralgia) का स्थान कुछ ऊंचा होने के कारण यह निदान निःसन्देह ठीक रहा।

अवस्था देख कर रोगी को धीरज दिला कर एवं श्री धन्वन्तरि भगवान् का स्मरण करके चिकित्साक्रम शुरू किया—

प्रातः सायं—धात्री लोह, दूध से।

भोजनोत्तर—शूलान्तक वटी दो गोली, नीबू के पानी से।

शाम को—बृहद्वातचिन्तामणि १॥ रत्ती मधु से।

रात्रि में—वातविध्वंस ३ रत्ती, पिप्पली घृत से खाकर ऊपर ६ माशे त्रिफल चूर्ण क्वाथ में दो रत्ती संचर नमक देकर पिलाया गया।

पथ्य में—बाजरे का दलिया, गेहूँ का भुना दलिया, हरी सब्जी, फलों का रस और दूध दिया गया। भोजन के समय तक्र भी दिया गया। बात यह है कि इनके दांत नहीं थे, सिर्फ एक दो दाढ़ें थीं, जो हिलने के कारण खराब हो रही थीं। दांतों के न होने के कारण भोजन

का चर्वण ठीक तरह से नहीं हो सकता था, जिससे लाला रस भी उचित-मात्रा में नहीं मिल सकता था, आतों को अधकुचला अन्न मिलने के कारण पर्याप्त परिश्रम उठाना पड़ता था। जिससे धीरे २ आंतें कमजोर होती गईं और जीर्ण बद्धकोष्ठ रहने लगा। मल सड़ कर विष पैदा करने लगा, जिससे वायु की अनुचित वृद्धि एवं प्रतिलोम गति होने के कारण शूल का दौरा होने लगा। अत इनकी जड़ें निकलवा दी गईं, जो कि अपने पीव द्वारा भोजन को खराब करती थीं। पथ्य ऐसा दिया गया, जिसमें दांतों की क्रिया कम हो। दाढ़ निकल जाने से दर्द न होने के कारण दलिया आदि खूब आराम से निगला गया, जिससे लालारस भी मिलने लगा। इन सब बातों पर पूरा खयाल न करने से ही अब तक सम्भवत: प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों से कम लाभ हुआ करता है।

इस चिकित्सा क्रम से इन्हें आश्चर्यजनक लाभ हुआ। एक आध साधारण वेग के सिवा बिलकुल वेग न हुआ। चार माह में १६ पौंड वजन बढ़ गया, पहिले जब कि बड़ी शीघ्रता से घटता जारहा था।

हिक्का—

अभी कुछ दिन पहले एक हिक्का रोगी को देखने का अवसर मिला। जिसको हिक्का के साथ २ ज्वर, शिर. शूल, आध्मान, श्वासकष्ट आदि उपद्रव भी थे। ज्वर १०० से १०२. तक रहता था, जो कि ६ दिन से सन्तत ही था। कण्ठ, जीभ और होठ बहुत सूखते थे, रोगी वयो वृद्ध एवं दुर्बल था और जृम्भा अधिक आती थी। हिक्का का

दो-तीन मिनट के बाद एक वेग सा आता था, जिससे रोगी स्तब्ध हो जाता था, कण्ठ में कपोत कूजन की तरह शब्द निकलता था और जीभ मलिन सी रहती थी।

चिकित्सा पहले आयुर्वेदिक ही होती रही थी, फिर डाक्टर साहब के इंजैक्शन लगे थे, बाद में एक हकीम साहब की गोलियां दी गई थीं, किन्तु हिक्का के वेग में कोई फर्क नहीं हुआ था। रात में नींद नहीं आती थी। सब लक्षण गम्भीरा के मिल रहे थे, किन्तु चिकित्सा की असफलता का कारण मुझे जीर्ण मलावरोध ही मालूम दे रहा था, अतः आशान्वित होकर चिकित्सा शुरू की गई।

अग्निकुमार रस २ गोली। दशमूलीय और रेचन चूर्ण के क्वाथ से।
वमन मृगकेसरी, ३-३ घण्टे बाद, मधु से।

इससे ५-६ घण्टे बाद मल शुद्धि हुई, जिससे रोगी को पर्याप्त शान्ति मिली। रात्रि में २ गोली आरोग्य वटी, दशमूलासव से दी गई। प्रातः काल रोगी प्रसन्न चित्त था। हिक्का का वेग अभी था तो पर कम, और नींद आने से आन्तरिक प्रसन्नता थी।

दूसरे दिन से—

शंखचूड़ रस ६ रत्ती, दिन मे दो बार, नीबू और सचर के साथ। अग्निकुमार रस ४ गोली, भुने जीरे और मधु से, ४-४ घण्टे बाद का प्रयोग किया गया, जिससे रोगी ३ दिन में पूर्ण स्वस्थ होकर सानन्द रहने लगा।

प्रवाहिका-

मेरे मित्र पोस्टमास्टर के आग्रह से प्रवाहिका से बुरी तरह आक्रान्त एक बालिका को मैंने देखा। बालिका की आयु १० वर्ष थी, शरीर कमजोर हो गया था। ५-५ मिनट पर पड़े पड़े ही बिल्कुल सफेद-चिकना, थोड़ा २ दस्त बड़ी पीड़ा के साथ होता था, बालिका किनछने के कारण कराहती थी, भूख बिलकुल नहीं लगती थी, प्यास बहुत थी, मूत्र कम होता था, मरोड़ों के कारण पेट में कतरने की सी पीड़ा होती थी, ज्वर १०० से १०२ तक रहता था, नाडी-गति अनियमित थी, यानी कभी तेज और कभी मन्द। जिह्वा बहुत मलिन थी। सारे लक्षण देख कर मैंने जीर्ण मलावरोध का कारण जान कर एरण्ड तैल का प्रयोग दिन में २ बार किया। दूसरे दिन से ही बालिका को आराम मिलने लगा, दस्तों मे मल आने लगा और प्रवाहण कम होगया। ७ दिन इसका प्रयोग करने के बाद जब जिह्वा सफाई पर आगई, तब स्तम्भन के लिये अतीसारामृत का प्रयोग किया, जिससे ५ दिन में बालिका पूर्ण स्वस्थ हो गई थी। लवण भास्कर चूर्ण का तक्र के साथ कई दिन तक प्रयोग कराया गया।

ऊपर आये हुए प्रयोग

इनमें धात्री लोह, वृहद् वातचिन्तामणि, अग्निकुमार रस, दशमूलासव, लवणभास्कर चूर्ण और पिप्पली घृत यह सब शास्त्रीय प्रयोग हैं। भैषज्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में सुविधा से लभ्य हैं। बाकी अनुभूत प्रयोगों का विवरण नीचे देता हूँ।

शूलान्तक वटी

१०६-सौंफ लवंग संचर नमक सैंधव
काली मिर्च गन्धक शुद्ध एलुआ—प्रत्येक ३-३ तोला
अमलबेत सज्जी गुलाबी इलायची बड़ी कालाजीरा यवक्षार
चकोतरे का छिलका भुनी हींग –प्रत्येक ६-६ माशा।
—सबका कपड़-छन चूर्ण बना ३ दिन नीबू के रस में तथा ३ दिन ग्वार पाठे रस में घोंटकर बेर की गुठली के बराबर गोली बनावें।

मात्रा—१ गोली। गुण—सब तरह के शूलों में लाभदायक है।

वातविध्वंस रस

१०७-सोंठ असगंध सुरंजानशीरी चोबचीनी
—हर एक १-१ तोला।
मिश्री ४ तोला। शुद्ध संखिया ६ माशा।
–३६ घण्टे तक खूब घुटाई करें। औषध का गुण पूर्ण घुटाई में ही है।
मात्रा–१ से ३ रत्ती तक। अनुपान–गर्म दूध या मधु।

किसी भी स्थान की वेदना के शमन मे सद्यः लाभ करता है। श्वास मे भी लाभप्रद है। इसके अतिरिक्त पक्षाघात आदि समस्त जीर्ण-व्याधियों मे अपूर्व लाभ करता है। मेरे औषधालय में तो पर्याप्त मात्रा में काम आता है।

शूलारि मिश्रण

१०८-पोटास आयोडाइड ५ से ५० ग्रेन तक

स्प्रिट अमोनिया एटोमैट ३० से ६० बूंद तक

जल १ औंस

यह एक मात्रा है। दौरे से आने वाले उदरशूलों में वेग के समय गजब का काम करता है। १ मात्रा देते ही रोगी को आराम मिल जाता है। आन्त्रपुच्छशोथ पर भी बहुत काम करता है।

वमन मृगकेसरी

१०६—नारियल की जटा तथा मयूर पुच्छ दोनो की भस्म समभाग तथा सितोपलादि चूर्ण समभाग मिलाकर ४ रत्ती की मात्रा द्वारा मधु के साथ प्रयोग करने से हिक्का, वमन, दाह, प्यास शर्तिया ठीक होते हैं।

अतिसारामृत

११०—इन्द्र जौ नागरमोथा धाय के फूल लौंग
जायफल —प्रत्येक १-१ तोला।
अफीम ३ तोला
शुद्ध पारा शुद्ध गन्धक समभाग की कज्जली २ तोला
—कूट कपड़-छन कर पोस्त के डोडे के पानी की ३ भावना तथा आंवले के रस की तीन भावना दें। फिर १॥-१॥ रत्ती की गोली बनावें।

मात्रा—१ से २ गोली तक। सौंफ अर्क से दें।

गुण—पक्वातिसार में बहुत लाभ करती है।

जीर्ण प्लीहोदर

लेखक—श्रीमान् कविराज रामानन्द जी अम्याना,
D I M, संडीला।

करीब चार मास हुए मेरे पास एक रोगी प्रात: आया, जिसने बताया कि मुझे तिल्ली की बीमारी है, मैं संडीला अस्पताल मे इलाज करा रहा हूँ, एक दूसरे मरीज़ ने मुझे आपके पास इलाज कराने की सलाह दी जिसकी तिल्ली आपने अच्छी करदी है, परन्तु अब उसके पैर में नासूर हो गया है, जिसके कारण अस्पताल में इलाज करा रहा है।

मरीज़ ने बताया कि कई महीने मेडिकल कालेज मे पड़ा रहा हूँ और एक महीने से इस अस्पताल में हूं, मुझे तनिक भी लाभ नहीं है।

नाम—रामपालसिंह। मौजा काकूपुर, ज़िला हरदोई।

मैंने देखा तिल्ली बहुत बढ़ी हुई है और अब असाध्यावस्था को पहुँच गई है। अच्छा होना कठिन है। डाक्टरी मिक्शचर जो साधारण देता हूं (Quin Sulph, Acid Sulph, Ferri Sulph, Mag Sulph) वह इसने महीनों पिये हैं अत: अब इनसे दूर रहना चाहिये और आयुर्वेद की शरण लेनी चाहिये। मुझे याद आया कि श्री० नगेन्द्रनाथ सेन ने अपनी वैद्यक शिक्षा मे लिखा है कि शंख भस्म को नीबू रस से

प्रयोग करने से कछुए के समान भी प्लीहा अच्छी होती है। मैंने ६ माशा शंख भस्म प्रात. और ६ माशा सायं नीबू रस से प्रयोग करने को कहा।

दूसरे दिन रोगी ने कहा कि मल से रक्त निकला जिसको उस दूसरे रोगी ने बताया कि प्लीहा कट रही है। अत मैंने शंख भस्म ४ माशा करदी तथा नीबू रस-में बराबर पानी मिलाकर लेने को कहा। मरीज ने आठ रोज की दवा ली और घर चला गया। आठ रोज के बाद जब आया तो अत्यन्त आश्चर्य हुआ जब देखा कि प्लीहा नाम मात्र को रह गई है। पुन. आठ रोज के लिये ले गया और कहला भेजा कि बिल्कुल ठीक है। यह उस प्रकार की प्लीहा थी जिनमें निराश होकर आपरेशन कराना होता है, जो प्राय: विफल ही होना है। मैंने अस्पताल को लिख भेजा कि इस प्रकार के रोगियों के लिये मेरे पास से मुफ्त दवा मगा कर दें, जिससे इसके ऊपर अधिक अनुभव हो परन्तु मरीज दवा ले जाकर फिर नहीं बताते क्या हुआ? मैं प्रत्येक चिकित्सक से इस पर अनुभव करने की आशा करता हूँ अगर यह अधिकतर ठीक हुआ तो सैकड़ों को इससे जीवन दान दिया जा सकेगा।

उदर में आमाशय का विशेष स्थान है तथा उदर रोगों में आमाशयिक रोगों की विशेष जगह है। हम जो भी भोजन, औषध आदि देते हैं वह पहिले आमाशय में पहुँचते हैं। रोग और आराम दोनों की सृष्टि पहिले आमाशय से ही होती है, इसलिये उदर के अन्य रोगों पर न लिख कर आमाशय के रोगों में से प्रधान रोग आमाशयशोथ, जिसे यूनानी में 'फम-मेदा' कहते हैं, पर अपने विचार लिखते हैं।

आमाशयिक शोथ—

इससे अभिप्राय उन सर्व अवस्थाओं से है जिनका सम्बन्ध आमाशय की सूजन से है। यह सूजन आमाशय के एक, दो व सभी परतों में हो सकती है। इस आमाशयिक सूजन को तीन भागों में बांटा जा सकता है। (१) नवीन सूजन। (२) पुरातन सूजन। (३) आमाशयिक दीवारों का फैल या बढ़ कर थैला सा बन जाना।

नवीन सूजन—

आरम्भ में मामूली अजीर्ण के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं और

वेचैनी नहीं होती। फिर जब यह पुरातन अजीर्ण में परिवर्तित होजाता है तो रोगी ऐसा अनुभव करता है जैसे आमाशय मे कोई कुछ भाग काट रहा हो। तब वेचैनी होने लगती और आमाशय मचलने लगता है।

नवीन सूजन चार प्रकार की होती है—

आमाशयिक शोथ नं० १-

इसका कारण आमाशय को अनावश्यक तौर पर खूब भर देना है। कभी २ अधिक शराब के पीने से भी यह होता है। जिह्वा के स्वाद के गुलामो के ही यह बहुधा होता है अथवा जो आमाशय के चौथाई भाग को भोजन से, चौथाई भाग को जल से भर कर, चौथाई भाग खाली नहीं रखते, उन्हे होता है। आइस क्रीम, शराव तथा चोभ जनक पदार्थ इस रोग के प्रधान कारण है। कच्चे फल और गले हुए फल जिनमें सड़ांद उत्पन्न हो गई हो तथा वे कारण जिनसे आमाशय मे सड़ांद उत्पन्न हो जाय, इसके कारण समझने चाहिये। विष तथा विषैले पदार्थ भी इसके कारण हैं।

जब यह सडांद आमाशय में उत्पन्न होती है तो बच्चों के मुख-पाक होता है। अधिक आयु वालों के मुख से लारें चलने लगती हैं। गला पकता है, मुख में फुंसियां होती हैं, दांतों में मवाद पड़ता है तथा जुकाम-नजला रहने लगते हैं। उदान वायु प्रकुपित होती है। कभी-२ हिक्का भी इसका कारण बन जाती है।

कभी २ औषधियों की अधिक मात्रा का प्रयोग कर जाने से भी यह रोग हो जाते हैं। इन औषधियों में कुनीन, सोडियम, सालिसिलेट आदि के नाम दिये जा सकते हैं।

लक्षण--

एक दम से पीड़ा का आरम्भ होता है। पीड़ा प्रायः कौड़ी प्रदेश में होती है जो कभी पीठ व कन्धों पर भी जा सकती है। उदर में कुछ तनाव आ जाता है, आमाशय मचलता है, उल्टियां भी होती हैं और वे लगातार हो सकती हैं तथा उनमें श्लैष्मिककला के टुकड़े, रक्त और पित्त रहते हैं। भोजन करने पर यह उलटी विशेषतया होती है और भूख नहीं लगती। विष होने पर ज्वर भी रोग का कारण होजाता है।

आमाशय में सड़ांद होने पर आमाशय का फैलाव कौड़ी-प्रदेश तक हो जाता है, पक्वाशय में भी सूजन हो जाती है और कभी २ पाण्डु रोग भी देखने मे आता है।

आमाशयिक शोथ नं० २--

इसमें बड़ा कारण अधिक चिन्ता है। अधिक चिन्ता से रक्त परिभ्रमण मस्तिष्क में अधिक रहता है तथा आमाशय में कम। रक्त परिभ्रमण रहने के कारण आमाशय में पड़ा भोजन सड़ांद को प्राप्त होकर इस रोग को पैदा करता है। आयुर्वेद के नियमों के अनुसार चिन्ता रहित भोजन करने वालों तथा भोजन के कुछ काल पश्चात तक गहरा विचार न करने वालों को यह व्याधि प्रायः नहीं होती।

लक्षण--

शिर का भारीपन, दृष्टि का एक वस्तु को दो रूप में देखना, नासा मे विकार होना, पाण्डु न होने पर भी शिर पीड़ा और शीत-स्वेद का आना, पिपासा का अधिक बढ़ना, मूत्र के भार का बढना तथा युरेटस का आना, कोष्ठवद्धता का रहना व मलत्याग अनियमित होना, कभी दस्त व कभी कब्ज का रहना आदि के साथ जिह्वा गाढ़ी-श्वेत व झिल्ली से ढकी होती है। दांत मैले होते हैं पर रोग बढ़ने पर जिह्वा रूक्षवर्ण की हो जाती है। नाड़ी की गति तेज और कमजोर होती है।

चिकित्सा--

आक्रमणावस्था में रोगी को बिस्तर पर रखना चाहिये। पेट की सफाई करनी चाहिये और रोगी को विश्राम देना चाहिये। उलटियां प्रकृति सफाई के लिये लाती है, उसकी सहायता नवज्वरांकुश-रस उष्ण जल से देकर अथवा मैनफल व अन्य उल्टी लाने वाले योग को देकर करनी चाहिये। इस रोग में पीपल (अश्वत्थ) छाल की भस्म चटाने से बहुत लाभ होता है। कर्पूरासव भी इसकी अच्छी औषध है। नाराच रस उष्ण जल से अच्छा लाभ करता है। मयूरपुच्छ भस्म, पुनर्नवादि मण्डूर, ताम्र भस्म, सल्फ्यूरिक ऐसिड जल मिश्रित या अमृतधारा खांड में डाल कर देना व एक औंस गरम जल में दो फांस पिपरमेंट की डाल कर देना आदि भी लाभ करता है। गरम जल से हिंग्वष्टक चूर्ण, अजवायन तुम्मा भी अच्छा लाभ करते हैं। आमाशय स्थान पर कपिग-ग्लास लगाने से तुरन्त आराम पड़ता है। कौड़ी प्रदेश पर सेंक देना और

मीठे तैल में सिकी मोटी रोटी पर लवण और हरिद्रा डाल कर बांधना भी यथेष्ट लाभ करता है। जहां उलटिया न हो मगर जी मचलाता हो तो कास्ट्रायल का जुलाब दें।

आक्रमणावस्था मे कोई भोजन न देना चाहिये। जब उलटिया रुक जावे तो पानी चूसने के लिये दें, इसके पश्चात साधित दुग्ध व यव का यूप देना चाहिये।

हमारा परीक्षित योग—

१११-शुद्ध आमलासार गंधक दालचीनी २-२ तोला
श्वेत जीरा ४ तोला नवसादर १ तोला
—इन सबको कुमारी का रस डाल कर घोटें और २ चने बराबर गोली बना कर सेवन करें अथवा शंखवटी या महा शंखवटी काम में लावें।

आमाशयिक शोथ नं० ३

यह प्रकार असाध्य होता है और कम देखने में आता है। इस अवस्था का नाम आमाशयिक व्रणावस्था रक्खा जा सकता है। इसमें श्लेष्मिक झिल्लियां मोटी हो जाती हैं। उनमे पीप पड़ जाती है और छोटे-छोटे उभार होते हैं। यह ऊपर के पर्त मे भी पहुंच सकती है और केवल एक ही बड़ा व्रण भी हो सकता है। यह बढ़ कर स्वत. ही आमाशय में फट भी सकता है।

इस अवस्था के आरम्भिक लक्षण, नवीन आमाशयिक शोथ जैसे होते हैं परन्तु तीव्र होते हैं तथा आमाशय में पीड़ा भी

अधिक होती है। अधिक दर्द सब ओर होता है। मुख पर उत्सु-कता रहती है तथा त्वचा का वर्ण मटियाला हो जाता है। उल्टियां बरा-बर होती हैं, उनमें कष्ट तथा श्लेष्मिक कला अधिक होती है और तृषा अधिक रूप से सताती है।

चिकित्सा--

पीड़ा कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। कौड़ी प्रदेश में सेक दें। पीने को मकोय का अर्क दें और खाने को मकोय का साग दें। बाहर दशांग लेप लगावें या पं० ठाकुरदत्त जी अमृतधारा का निम्न लिखित योग बना कर सेवन करें, वह भी अच्छा लाभ करता है।

हिरमची (एक रंग होता है, किंती पिसी हुई जो विलायत से आती है वह न लेनी चाहिये क्योंकि इसमें संदेह होता है कि कोई रंग न मिलाया गया हो) पत्थर जैसी कंकरीली मोटी २ जो बाजार में प्रायः मिलती है, वास्तविक रूप में पहाड़ों से एकत्रित की हुई होती है वह ही लेनी चाहिये, उसको महीन चलनी में छान लें और काम में लावें।

११२–अवाखार काली मिर्च पीपल –प्रत्येक १–१ तोला

नवसादर कल्मी शोरा बड़ी इलायची

—प्रत्येक ३–३ तोला।

सैंधव लवण १ माशा पिपरमेंट ६ माशा

हिरमची ५ तोला

—सबको पीस कर मिलाकर रखलें और थोड़ा २ चटावें। यह प्रयोग

हमारा भी परीक्षित है। इसी अवस्था के लिये धन्वन्तरि के अनुभवांक मे प्रकाशित 'जीवन सुधा अर्क' भी लाभ करता है।

सड़ांदयुक्त आमाशयिक शोथ नं० ४-

यह हमेशा किसी प्रकार के विष के प्रवेश से ही होती है पर यह कम तीव्र होती है। जब यह कम तीव्र विष से अथवा कास्टिक व क्षार से और संखिया व सिक्का आदि धातु विषों से हो तो तीव्र होती है। शराब, कार्बोलिक एसिड या फासफोरस से भी यह लक्षण हो सकते है।

इन विषों का यह प्रभाव होता है कि जब यह कलाओं में प्रविष्ट हो-जाते हैं तब भारी सूजन होती है और रक्त प्रवाह चलता है। संखिया के खाने पर रक्त की उल्टियां और दस्त आते हैं ऐसा सभी वैद्य जानते हैं। रस उत्पादक ग्रन्थियों में वसा भी आ जाती है।

लक्षण-

विष की मात्रा के अनुसार अधिक व कम लक्षण होते हैं। पेट खाली हो तो तीव्र और जो कुछ खाया हो तो कम लक्षण होते हैं। तीव्र जलन युक्त पीड़ा होती है। दवाने से यह जलन बढ़ती है। मुख पर उत्सुकता होनी है पर वह मुरझाया होता है और मूर्च्छा होती है। श्वास-प्रश्वास कठिनता से आता है।

चिकित्सा-

विष नाशक चिकित्सा करनी चाहिये। जल को १००° गरम करके इसके साथ आलिव आयल (जैतून का तैल) व अण्डे की सफेदी

अथवा मैदा वाले पदार्थ अत्यधिक देने चाहिये। भारी मात्रा में दुग्ध में अण्डे की सफेदी मिलाकर देनी चाहिये। संखिया के विष में कत्था पानी में मिलाकर देना चाहिये। दुग्ध और घृत का पिलाना भी लाभ करता है। वेदनान्तक रसों और औषधों का प्रयोग होना चाहिये।

रस विष आमाशयिक शोथ नं० ५—

जब वृक्क अपना ठीक काम नहीं कर सकते तो रक्त में विषैले पदार्थ बढ़ जाते हैं। वही जब अप्राकृतिक रास्ते से अर्थात् आमाशय से निकलने लगते हैं तो साधारण आमाशयिक शोथ के लक्षण दृष्टि गोचर होते हैं। अधिक काल तक मार्फिया के प्रयोग से भी आमाशयिक शोथ और उल्टियां आरम्भ हो जाती हैं। (इसे समझने के लिये थोड़ा रसशेष-अजीर्ण को देखिये।)

चिकित्सा—

जीवनसुधा अर्क जैसी औषधियां तथा सूजन को कम करने और रक्त को शुद्ध करने वाली औषधियां काम में लानी चाहियें। हमने जो रोगी इस व्याधि के देखे उन्हें क्षारीय औषधियों से ही लाभ हुआ।

पुरातन आमाशयिक शोथ—

पुरातन आमाशयिक शोथ से अभिप्राय आमाशय की श्लैष्मिक झिल्ली की पुरानी सूजन से है, जिसके कारण आमाशय के पाचक रसों में परिवर्तन आ जाता है।

कारण-

शराब तथा सिगरेट का अधिक प्रयोग या सोडियम सालिसिलेट, कुनीन, आरसनिक, सिलवर (चांदी) और पारद के अधिक काल तक के प्रयोग से यह रोग होता है। यक्ष्मा, वृक्क रोग, हृदय रोग, रक्त की अल्पता, मधुमेह आदि से भी यह होता है।

आरम्भ में रक्त बनाने वाली ग्रन्थियों तक तथा श्लैष्मिक कला तक रोग सीमित रहता है पश्चात् सब कलाओं में जाता है। वसा का आमाशय में संग्रह हो जाता है जो फिर थैला-सा बन जाता है।

लक्षण-

परिणाम शूल के समान होते हैं । भोजन के एक घण्टे पश्चात् पीडा आदि, पेट भरा हुआ, भारी सा और बेचैनी। बेचैनी पीठ के मोहरों में भी अनुभव होती है। थोडी शराब पीने से कभी रोग-शान्ति हो जाती है। भूख कम लगती है। प्रातः जी मचलता है। निर्बलता अधिक होती है। भोजन के तीन घण्टे पश्चात् दिल मचलाना आरम्भ होता है। उलटियां भी बहुधा प्रात होती हैं। जब पाचक अम्ल रस की मात्रा आमाशय में कम हो जाती है तो खाये भोजन में सड़ान्द उत्पन्न होने लगती है। कार्बन वायु बढ़ने से आमाशय के फैलाव की शिकायत होने लगती है। फिर इसी प्रकार का फैलाव आंतों में भी होने लगता है। दुर्गन्ध युक्त अपान वायु बहुत निकलती है। हृदय में जलन का बोध होता है, यह जलन कौड़ी प्रदेश मे, हड्डी या गले मे भी हो सकती

है। मुख का स्वाद खराब और रात को प्यास अधिक रहती है। जिह्वा पीले व भूरे वर्ण की होती है।

आरम्भ में कोष्ठबद्धता होती है। मल पीला-ठोस, आंव युक्त और बदबूदार होता है। रोग बढ़ने पर दस्त आने लगते हैं। पेट में पिचलने की सी पीड़ा होती है और बदबूदार अपान वायु निकलती है।

आरम्भ में नाड़ी निर्बल, धीमी और अनियमित होती है। रक्त का दबाव कम हो जाता है। हाथ-पांव में ठण्ड होती है, ठण्डा पसीना भी कभी २ आता है। बेचैनी, संदेह, क्षोभ और स्मृति-नाश हो जाते हैं। निद्रा कम तथा भयानक स्वप्नयुक्त होती है। मूत्र मात्रा में कम, रङ्ग-दार तथा अधिक अम्ल और काला होता है।

चिकित्सा-

पहिले हर प्रकार के मुख और नासा रोगों की चिकित्सा करें। दांतों की ओर भी ध्यान दें। भोजन समय पर और धीरे २ करें। भोजन के पश्चात् घण्टे भर रोगी को विश्राम करना चाहिये। भोजन काल में उत्तेजना, क्षोभ, चिन्ता, क्रोध न करना चाहिये। शराब, तम्बाकू को कम करना चाहिये। बलानुसार व्यायाम भी करें। स्नान उष्ण तथा लवणयुक्त जल से करना चाहिये। निवास खुले हुए वायु युक्त स्थान पर रखना चाहिये। लोहासव अथवा अन्य शीघ्र प्रभावोत्पादक आसव व औषध दे सकते हैं। पर्वत पर जाना भी अच्छा है। आलिव-आयल की मालिश भी कराई जा सकती है। इस रोग में नारिकेल लवण तथा शंखवटी आदि औषधियां अच्छा लाभ करती हैं। केवल शंख तथा

जहरमोहरा भस्म भी अच्छा लाभ करते हैं। तवाशीर, इलायची और सुहागे का चूर्ण खाना भी हितकर है। कहीं २ गोरोचन थोड़ी मात्रा में देने से लाभ होता देखा है।

भोजन—

रोगी का भोजन शक्ति वर्द्धक परन्तु क्षोभ पैदा करने वाला न हो। भोजन द्रव रूप में देना चाहिये। वह भोजन दूध व दुग्ध-यव मिश्रित जल का हो। जब दुग्ध हज़म न हो तो सोडा साईट्रास डाल कर दें। माखन, दूध व सोडा भी दिया जा सकता है। धीरे २ दुग्ध को कम करना तथा दूसरे खाद्य पदार्थों को बढ़ाना चाहिये। पाठकों के सुभीते के लिये हम अजीर्ण के भेदों को भी लिखते हैं।

आमाजीर्ण—इससे पेट तथा देह में भारीपन रहता है, जी मचलाता है, कपोलों तथा होठों पर सूजन आजाती है और जैसा खाया है वैसी ही डकारें आती हैं।

विदग्ध-अजीर्ण—भ्रम, प्यास, मूर्च्छा, पित्तज रोग, मुंह के साथ खट्टी डकारें, पसीना, दाह आदि होते हैं।

विष्टब्ध अजीर्ण—शूल, अफारा, वायु के रोग, मल और अधोवायु का रुकना, देह का जकड़ जाना, पीड़ा, मोह का होना आदि होता है।

रसशेष अजीर्ण—अरुचि, हृदय में जड़ता और देह में भारीपन होता है।

दिनपाकी अजीर्ण—रात दिन २४ घण्टे में भोजन पचना ही इसका प्रधान लक्षण है।

प्राकृतिक-अजीर्ण—यह प्रति दिन रहता है प्रात काल सोकर उठने के पश्चात जी मचलाता है तथा कभी २ वमन होजाती है।

अजीर्ण के साथ थोड़ा अम्लपित्त का पाठ देख लेने पर आप बहुत सुभीते के साथ इस आमाशयिक शोथ रोग की चिकित्सा कर सकेंगे। लक्षण अम्लपित्त के इस प्रकार हैं—प्रातः काल अपरिपक्व या विदग्ध भोजन के खट्टे या मीठे वाष्पों से युक्त डकार आते हैं, पेट में भारीपन होता है तथा शूल का अनुभव होता है। जी मचलाता है और मुख में बार २ पानी आता है। जिन्हें पूयदन्त व गल-शुण्डिका रोग होती है उन्हें यह अम्लपित्त अधिक होता है।

आमाशयिक शोथ अधिकांश में अम्लपित्त से और कुछ अव-स्थाओं में अजीर्ण के लक्षणों से मिलती जुलती व्याधि है इसलिये इसकी चिकित्सा में इन्हीं व्याधियों के अधिकार में वर्णित औषधियों को प्रयोग में लाना चाहिये।

प्रवाहिका के लिए एक योग।

लें०—आयुर्वेदाचार्य श्री० पं० हरदयालु जी वैद्यवाचस्पति, लाहौर।

प्रवाहिका बृहदन्त्र के अन्तिम भाग का रोग है। रोग साधारण है परन्तु कभी २ भयङ्कर स्थिति में दुःखप्रद सिद्ध होता है। आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से यह वात-प्रधान व्याधि है। इसकी शान्ति के लिए एलोपैथी में—एरंड तैल, गोंद और जल का घोल बना कर दिया जाता है। यह योग आशु-लाभप्रद सिद्ध होता है। जो चिकित्सक इस योग का प्रयोग करते हैं उन्हें एक आयुर्वेदीय योग जो इसी कक्षा का एवं इससे भी अधिक लाभकर सिद्ध हुआ है, प्रयोग करना चाहिये। योग इस प्रकार है—

पणनिष्क तैल—

पणनिष्कं तिल तैलस्य, निष्कं जम्बीरजं रसम्।
लवणं पञ्चगुञ्जं च, अंगुल्या मर्दयेद् दृढम्॥
आमवातातिसारघ्नं, लिहेत्पथ्य च पूर्ववत्। (रसरत्न समु०)।

११३-विशुद्ध तिल तैल १॥ तोला, नीबू स्वरस ३ माशा (परन्तु व्यवहार में हम आधे नीबू का स्वरस डालते हैं) सैंधव लवण ४ रत्ती (१ माशा)।

विधि—प्रथम तिल तैल को स्वच्छ खरल में डालकर लवण के साथ मर्दन किया जाता है, फिर शनैः २ थोड़ा २ निम्बु रस डाल कर घोंटने से यह फेन-प्रभ घोल में परिवर्तित हो जायगा। यह एक ही मात्रा है।

इस प्रकार की ३ वा ४ मात्राएं पिला देने से रोगी शौचकालिक परिकर्त्तनवत् पीड़ा और बार २ मल त्याग से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ करता है। इस रोग के रोगी को क्षुधा उत्पन्न होने पर द्रवप्रायः भोजन दिया जाता है। इस प्रकार अल्पकालिक चिकित्सा से ही यह रोग नष्ट होजाता है। इस योग ने अद्यावधि बहुत लाभ किया है। विशेषकर शौचकालिक भयङ्कर पीड़ा और बेचैनी इससे शीघ्र दूर होती हैं।

तम्बाकू और मन्दाग्नि

लेखक—आयुर्वेदाचार्य श्री० पं० दयानिधिजी शर्मा A M S
बुढाना दर्वाज़ा, मेरठ।

आजकल दुनियां में तम्बाकू का प्रयोग बडी ही तीव्रता से बढ़ रहा है। भारत में मुस्लिम राज्यान्तर्गत हुक्के के द्वारा तम्बाकू का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था, किन्तु इसके बाद सूंघने और पान के साथ खाने का भी प्रचार द्रुत गति से चला।

आधुनिक सभ्यता में सिगरेट के रूप में दुनियां का एक बड़ा जन समूह तम्बाकू का प्रयोग कर रहा है। जिस प्रकार प्रायः प्रत्येक धर्म ने मद्य का पीना ही नहीं अपितु छूना-देखना तक वर्जित किया है; उसी प्रकार सिख धर्म ने तम्बाकू का प्रयोग भी धर्मविरुद्ध माना है।

कुछ अनभिज्ञ व्यक्ति आयुर्वेद चिकित्सा में वर्णित धूम्रपान से तम्बाकू पीने की तुलना करते हैं, किन्तु उन्हें यह नहीं ज्ञात है कि धूम्र-पान विधि में, तम्बाकू का प्रयोग न होकर, अन्य विशिष्ट औषधिओं की व्यवस्था है।

अफीम ने जिस प्रकार चीन-वासिओं को निरुत्साही, आलसी, और विलासी बना दिया था उसी प्रकार आज मद्य और तम्बाकू सारे संसार के नैतिक और शारीरिक पतन के कारण बन रहे हैं।

तम्बाकू में निकोटीन नामक एक उग्र विष होता है, जिसकी १ बून्द की मात्रा से ही मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। तम्बाकू का विष इतना उग्र होता है कि, यदि तम्बाकू युक्त पान की पीक को काले सर्प के मुख में थूक दिया जाय तो सर्प की पांच मिनिट में मृत्यु हो सकती है।

मन्दाग्नि के विषय से पूर्व तम्बाकू के अन्य उपद्रवों का ज्ञान भी आवश्यक है, इसलिये उनका वर्णन इसी जगह किया जा रहा है।

तम्बाकू का तरुण विष प्रभाव—

जो व्यक्ति तम्बाकू खाने का तो व्यसनी नहीं है, किन्तु भूल से अथवा मित्रों के अनुरोध करने पर सेवन कर बैठता है, उसमें निम्न प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। जी मिचलाना, चक्कर, वमन, निर्बलता, विचार शक्ति में विकृति, चर्म ठण्डा, कम्पन, मूर्च्छा और तीव्रावस्था में हृदयावसाद के कारण मृत्यु।

उपचार—

आमाशय का प्रक्षालन अथवा वमन कराना, टेनिक एसिड १ माशे या पुटास आयोडाइड १ माशे, को जल में मिलाकर पिलाना चाहिये। इससे निकोटीन विष निष्क्रिय हो जाता है। कुचला सत्व ½ चावल की मात्रा में इन्जैक्शन द्वारा देना चाहिये, इससे हृदय में बल उत्पन्न हो जाता है।

तीक्ष्ण मद्य को भी पिलाना चाहिये। शरीर को गरम रखना, आक्सीजन सुंघाना इत्यादिक श्रेयस्कर है।

शूकर-कृमि
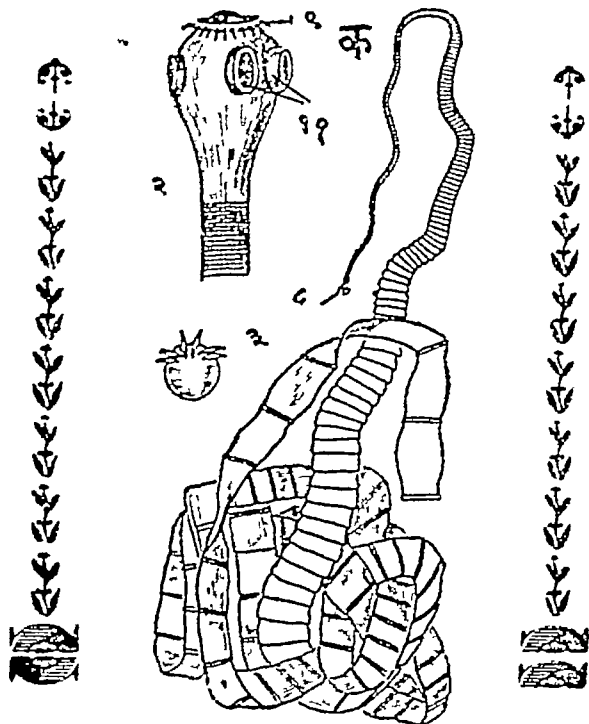
यह सूअर का मांस खाने वालों के ही पड़ते हैं और उनके संसर्ग से बालकों में आते हैं।

(क) कीड़े का पूरा आकार
(२) कीड़े का सिर
(३) कीड़े का अण्डा
(८) उसका सिर धड़ में जुड़ा हुआ है।
(९) सिर पर के कांटे हैं।
(११) रक्त-रस चूसने वाले मुंह हैं।

तम्बाकू का जीर्णविष—

तम्बाकू से प्रथम थोड़ा सी उत्तेजना मिलती है, किन्तु कुछ देर बाद असाधारण शिथिलता महसूस होती है, इस शिथिलता का दूर करने के लिये मनुष्य पुन तम्बाकू का प्रयोग करता है, इस प्रकार बहुत अधिक मात्रा में तम्बाकू के सेवन करने का व्यसनी बन जाता है। तम्बाकू के अधिक सेवन के कारण इसका जीर्ण विष सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है, जिससे मनुष्य अल्पायु, अशक्त, असहन शील, शिथिल, कान्ति हीन और पाण्डु वर्ण का हो जाता है।

तम्बाकू का विशिष्ट प्रभाव हृदय और मस्तिष्क पर पड़ता है। हाथों का कम्पन, अपस्मार, मूर्च्छा, बहरापन, दृष्टि में कमी, गले का सूखना, नाड़ी और श्वास में विषमता इत्यादिक भी हो जाते हैं।

मन्दाग्नि—

शरीर का नाड़ीमण्डल एकदम कमजोर और विकृत हो जाता है, जिससे आन्त्र की जलौकागति बहुत मन्द हो जाती है। इसी वजह से कब्ज की शिकायत सर्वदा बनी रहती है। भोजन में पाचन-रस कम मात्रा में निकल कर मिलते हैं। यकृत की क्रियायें भी विकृत होजाती हैं, जिससे बलिष्ठ रक्त के बनने में बहुत कमी आजाती है। रक्त में अम्लता बढ़ जाती है, गले में जलन और भोजन में अरुचि उत्पन्न होने लगती है। उदर पर स्पर्शासह्यता हो जाती है।

कब्जियत के कारण आंत्र में मल सड़ने लगता है जिससे दूषित गैसों का बनना तो जारी रहता ही है किन्तु उनका निष्कासन, आंत्र में

रूक्षता के कारण, कठिनता से होता है, जिससे पेट में भारीपन इत्यादि उपद्रव प्रायः हमेशा उपस्थित रहते हैं।

चिकित्सा–

१—तम्बाकू के प्रयोग को धीरे २ कम करना और बाद को बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। साथ ही तम्बाकू का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के सहयोग से जहां तक हो सके दूर रहना चाहिये।

२—गो-दुग्ध, ताजे फलों का रस और रुचिकर मृदु-सुपाच्य, तरल, हृद्य, स्नेह युक्त भोजन को अग्नि-बलानुसार सेवन करना चाहिये।

३—तम्बाकू से प्राप्त हुई विकृतिओं को दूर करने के लिये शुद्ध कुचले का प्रयोग विशिष्ट प्रभावशाली होता है। विषमुष्ट्यासव, अग्नि-तुण्डी वटी इत्यादिक या कुचला युक्त औषधियां उपयुक्त होती हैं।

४—बहुत कब्जियत रहने के कारण कभी २ अतिसार, उदरशूल, आध्मान, इत्यादिक होते हैं। उस समय, कपूरासव, रसोनासव, द्राक्षासव, लोहासव, कुमार्यासव, तालीसादि चूर्ण, लवङ्गादि चूर्ण, या जातीफलादि चूर्ण का प्रयोग भी अवस्थानुसार लाभप्रद होता है।

५—त्रिफला चूर्ण के साथ थोड़ा घृत या बादाम रोगन मिला कर गो-दुग्ध के साथ सेवन करना लाभप्रद है।

६—अधिक तीव्र औषधिओं से विरेचन कराना लाभ के स्थान में हानिकारक ही होता है।

७—चिन्ता, क्रोध, भय, मैथुन, मानसिक और शारीरिक परिश्रमाधिक्य, रूक्षाहार-विहारादि वर्जित हैं।

चुन्ने या पेट के कीड़े

लेखिका—श्री० वैद्या इन्दिरादेवी जी शास्त्रिणी, आयुर्वेदमणि,
नारी आरोग्यमंदिर, हैदराबाद, (दक्षिण)।

रोग परिचय-

पेट क कीड़ों को बोल-चाल की भाषा में चुन्ने कहते हैं। ये अनेक रूप-रङ्ग के, छोटे-बड़े, चपटे, गोल तथा लम्बे हुआ करते हैं। इनका रङ्ग प्राय: सफेद या लाल हुआ करता है। किन्तु कई बार ये काले, पीले तथा भिन्न २ प्रकार के रङ्गों में भी दिखाई पड़ते हैं। आरम्भ में ये कीड़े बहुत ही छोटे होते हैं, जिन्हें सूक्ष्म दर्शक यन्त्र की सहायता के बिना देखना प्राय: असम्भव है। किन्तु शनैः-शनैः इनकी शारीरिक वृद्धि होने पर ये बड़ी सरलता के साथ देखे जा सकते हैं। इनमें सफेद रंग के कीड़े तो आकार में बहुत अधिक नहीं बढ़ते हैं, किन्तु लाल रङ्ग के कीड़े आकार-प्रकार में इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि उनका चलना-फिरना तक ज्ञात होता है। ये बड़े २ कीड़े पेट में एक ओर से दूसरी ओर तक की यात्रा किया करते हैं। इन कीड़ों को पेट के "केंचुए" कहते हैं। ये केंचुए विष्ठा के साथ बाहर आ जाते हैं और सर्व साधारण लोग बड़ी आसानी से इन्हें देख सकते हैं।

यों तो पूर्वाचार्यों ने २१ प्रकार के कीटाणुओं का वर्णन किया है, जो रक्त, कफ, आमाशय तथा हृदय-देश में रहते हुए कितने ही भयङ्कर रोगों की सृष्टि किया करते हैं, किन्तु प्रस्तुत लेख में जिन कीडों का उल्लेख किया गया है, उन्हें पेट के कीड़े कहते हैं। इनका मुख्य निवास स्थान, उत्पत्ति स्थान तथा वृद्धि स्थान मलाशय, पक्वाशय एवं पित्ताशय हैं। इसीलिये ये प्रायः विष्ठा में ही अधिकतर देखने में आते हैं। छोटे बालकों तथा बड़ों के भी यह कृमि-राग होता हुआ देखा जाता है; किन्तु बालकों के यह रोग बहुतायत से होता है।

कारण—

खाया हुआ भोजन पचे बिना ही पुनः भरपेट भोजन करना, लड्डू, मालपुआ, गोझिया आदि गरिष्ठ-मिष्ट खाद्य-पदार्थों का अधिक खाना, भोजन के समय की अनियमितता, किसी प्रकार का व्यायाम अर्थात् शारीरिक श्रम का अभाव तथा दिन का सोना, आदि कारणों से कृमि-रोग उत्पन्न होता है। यही सब कारण थोड़े से परिवर्तित रूप में छोटे बालकों के लिये भी लागू हैं। जो मातायें अनुचित दुलार-प्यार या ममता के चक्कर में पड़ कर बालक की अनिच्छा होते हुये भी जब देखो तब दूध पिलाती रहती हैं, सड़ी-गली बासी मिठाइयां या पकान्न खिलाती रहती हैं, रात-दिन बालक को गोद में ही रख कर पालने या फर्श पर बालकों को हाथ-पैर फेंक कर स्वाभाविक "बाल-व्यायाम" नहीं करने देती हैं एवं बाजारों में बिकने वाली विलायती रङ्ग-बिरंगी मिठाइयों तथा पौष्टिक खाद्य पदार्थों को अपने प्यारे बालकों

का आहार बनाती हैं, उनके बालक इस "कृमि-रोग" के शिकार अवश्यमेव बनते हैं।

लक्षण-

जिन लोगों के पेट में चुन्ने हो जाते हैं उन्हें अजीर्ण, मन्दाग्नि, मलावरोध, काला-मैला तथा दुर्गन्धित शौच होना, कई बार अनेक रङ्गों का शौच होना, पेट में अफारा तथा मीठा २ दर्द होते रहना, कभी-कभी पेट में अधिक दर्द होना एवं वह दर्द स्थायी रूप से बना रहना, शरीर का दुर्बल, निस्तेज, रुक्ष, कठोर तथा पीत हो जाना, गुदा स्थान में खुजली अथवा पीड़ा का होना, शरीर में रोमांच होते रहना, रोग की प्रवृद्ध दशा में शरीर के पसीने से तथा श्वास प्रश्वास से दुर्गन्ध का आना आदि रोग के लक्षणों या कष्टों में से एक-दो या अनेक कष्ट होजाते हैं। उपर्युक्त सभी रोग के लक्षण छोटे बच्चों तथा बड़ों में समान रूप से पाये जाते हैं।

चिकित्सा—

११९-कृमि नाशिनी वटी-

वायविडङ्ग	खुरासानी अजवायन	कबीला
ढाक के बीज	करंजा की गिरी	—प्रत्येक १-१ तोला
गुड़		२॥ तोला

विधि—करंज की गिरी को पृथक् पीस करके, शेष औषधों के कपड़-छन चूर्ण तथा गुड़ को भली-भांति एक में मिलाकर चार २ रत्ती की

गोलियां बना लेनी चाहिये। प्रातः सायं १ गोली से २ गोली तक शीतल जल के साथ सेवन करने से पेट के कीड़े नष्ट हो जाते हैं।

११५-कृमि नाशक चूर्ण--

वायविडंग	हरड़ की बकली	अजमोद
छोटी पीपल	जवाखार	सेंधानमक
सोंठ	हींग (घी में भुनी)	-प्रत्येक १-१ तोला

विधि-समस्त औषधों को कूट-पीस-छान कर चूर्ण बना लेना चाहिये।

मात्रा-१ माशे से ३ माशे तक।

अनुपान-ताजा या गर्म जल। समय-प्रातः-सायं अथवा भोजन के बाद। रोग—पेट के कीड़े (चुन्ने) शूल, अफारा, अपच तथा मन्दाग्नि आदि दूर होते हैं।

नोट-शास्त्रीय-प्रयोगों में कृमिघ्न मण्डूर, कृमिकुठार रस, कृमि कालकूट-रस, प्रभृति भी आवश्यकतानुसार दिए जा सकते हैं।
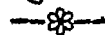
उदरव्याधि और चिकित्सा।

लेखक–श्री० पं० प्रह्लादराय जी शर्मा, "वैद्य–विशारद"
श्री हनुमान विद्यालय, मालासर (सीकर)।

सर्व प्रकार के रोग प्रायः मन्दाग्नि से ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु उदररोग तो मन्दाग्नि से ही होते हैं। चार प्रकार के अजीर्ण (आम–विष्टब्ध, विदग्ध और रसशेष) से, सड़ा हुआ बासी और अपक्वादि लक्षणों से युक्त मलिन अन्न सेवन से और बहुत दिन के मल के संचय से उदर रोग उत्पन्न होते हैं। अग्नि की मन्दता के कारण प्रकुपित हुए वातादि दोष त्वचा और मांस के बीच वाली संधियों में स्थित जलवाही–स्रोतों को रोक कर प्राण-वायु, अग्नि और अपान वायु को दूषित कर और कुक्षि में आध्मान उत्पन्न करके उदररोगों को उत्पन्न करते हैं।

उदररोग पीड़ित के लक्षण--

तेनार्त्ताः शुष्कताल्वोष्ठाः, शून-पाद-करोदराः।
नष्ट-चेष्टा बलाहाराः, कृष्णाः प्रध्मात-कुक्षयः॥

(वाग्भट्ट)

उदररोग से पीड़ित मनुष्य के तालु और ओष्ठ सूख जाते हैं। हाथ, पांव और पेट पर सूजन आजाती है। शारीरिक चेष्टा, बल और आहार कम हो जाते हैं, शरीर कमजोर तथा कुक्षि में अफारा हो जाता है।

उदररोग के पूर्वरूप--

उदररोग होने से पूर्व, क्षुधा का नाश, भोजन में खाए हुए अन्न का दाह के साथ देर में पचना, जीर्ण और अजीर्ण में कुछ अन्तर मालूम न पड़ना, पेट भर भोजन सहन न होना, दिन-प्रतिदिन बल की क्षीणता, थोड़े चलने फिरने में ही श्वास की वृद्धि, मल की वृद्धि, अथवा शंका बनी रहना, पांवों पर साधारण सूजन, वस्ति की सन्धियों में शूल होना, हलका भोजन करने पर भी पाचन न होना, मांस की बलि अथवा सलवटों का लोप होजाना, उदर की शिराओं का दिखाई न देना आदि उदररोगों के पूर्वरूप हैं।

जलोदर को छोड़ कर सब प्रकार के उदररोगों में उदर का वर्ण लाल, सूजन रहित और गुरुता रहित होता है, जो नसों के जाल के समूह से झरोखे की तरह हो जाता है और सदा गुड़-गुड़ करता रहता है। वायु नाभि और अन्त्र में विष्टम्भता उत्पन्न करके हृदय, कटि, नाभि, गुदा और वंक्षण में पीड़ा करता हुआ अपने रूप को दिखा कर नष्ट होजाता है। कभी-कभी शब्द करता हुआ बाहर निकलता है, इसमें मलावरोध और मूत्र की अल्पता होती है। जठराग्नि अत्यन्त मंद नहीं होती है पर भोजन में इच्छा नहीं रहती और मुख में विरसता उत्पन्न हो जाती है।

उदररोग में जल की उत्पत्ति--

सब प्रकार के उदररोगों की चिकित्सा न करने पर वात, पित्तादि दोष अपने २ स्थानों को छोड़ कर और पाक को प्राप्त होकर अत्यन्त पतले हो जाते हैं। फिर सम्पूर्ण सन्धि तथा स्रोतों के मुखों को भी पतला कर देते हैं। पसीना भी बाहर के स्रोतों में रुक कर तिर्यक्-गति को प्राप्त होता हुआ उस पूर्व संचित उदर को कुक्षि में बढ़ा कर पिच्छिलता करता है, इससे उदर भारी, स्थिर, गोलाकार, हाथ से पीटने पर शब्दहीन और कोमल होजाता है, इनमें नसें नहीं दिखाई देती हैं और नाभि पर हाथ दबाने से फैल जाता

है। तदनन्तर जल का संचय होता है इससे उदर बहुत बढ़ जाता है, सम्पूर्ण सिरायें छिप जाती हैं और जलोदर के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

उदररोग का कृच्छ्र-साध्यासाध्यत्व—

वात पित्त-कफ-प्लीह-सन्निपात-दकादरम् ॥

.... तत्र कृच्छ्रम् यथोत्तरम् ॥

बद्ध-क्षतोदर का मारकत्व—

बद्धोदर और क्षतोदर ये दोनों एक पक्ष के पीछे प्राणों का नाश कर देते हैं। जिनकी आयु नियत है वह अनुकूल चिकित्सा होने से नहीं भी मरता है।

जन्म से उदररोग की कृच्छ्रता—

प्रायः उदररोग जन्म से ही कृच्छ्र-साध्य होते हैं, किन्तु यदि रोगी बलवान हो, उदररोग में जल का संचय न हुआ हो और रोग भी नया हो तो उसे यत्नसाध्य समझना चाहिये।

उदररोगों की चिकित्सा-

(चिकित्साखण्ड में शास्त्रोक्त तथा स्वानुभूत नुसखे लिखे गये हैं)

उदररोग में विरेचन—

वातादि दोषों के अत्यन्त बढ़ जाने के कारण स्रोतों का मुख रुक जाने से उदररोग पैदा होते हैं। इसलिए उदररोगों में खास करके विरेचन अवश्य कराना चाहिये।

मधुविरेचन—

११६—छोटी हरड़, रेवन्दचीनी, सोंठ, निशोथ, कालादाना

—सम भाग लेकर चूर्ण बना लें।

मात्रा—६ माशे से १ तोला तक, गर्म जल से दें।

उदररोग में स्निग्ध विरेचन--

११७-गौ के दूध अथवा गोमूत्र के साथ एक-दो महीने ६ माशे से ६ माशे तक अरण्डी का तेल पिलावें; अथवा दोषानुसार गौ या भैंस का मूत्र भी पिला सकते हैं।

विरेचन-विधि--

रूक्ष देह वाले तथा वात दोष से अधिक पीड़ित रोगी को दोषों की शुद्धि के निमित्त स्नेहनीय और उदररोग नाशक घृतपान कराना चाहिये।

११८ घृत १ सेर, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार, तीनों २-२ तोले। इनको पीस कर दशमूल के ४ सेर काढ़े में मिलादे, दही का तोड़ तथा छाछ भी क्वाथ समान डाल कर पाकविधि से पाक करे। यह घृत उदर-रोग में बहुत लाभप्रद है।

११९-सोंठ १५ तोला, घृत १ सेर, दधि तथा तक्र ४ सेर, लेकर उपरोक्त विधि से बनावे। यह घृत सब प्रकार के उदररोग तथा वात-कफज गुल्म में परमोपयोगी है।

१२०-घृत १ सेर, जल ४ सेर, गोमूत्र २ सेर, चीता की छाल १ छटांक, मिला कर तैयार करे, फिर २ रत्ती जवाखार मिलाकर सेवन करें तो जठर-रोग शान्त होगा।

घृतपान के पीछे विरेचन—

ऊपर कहे हुए स्नेह-पान से रोगी के स्निग्ध होने पर, उसकी देह में मल आने पर, वायु के शान्त होने पर और दोषों के स्थिर होने पर ऊपर कहा हुआ विरेचन देना चाहिये।

अनाह पर घृत—

पीलू के कल्क से सिद्ध किया हुआ घी, तैल्वक घृत, नलिनी-घृत वा स्नेहपान कराने से आनाह रोग शान्त होता है।

पूर्वोक्त रीति से चिकित्सा द्वारा दोषों के निकल जाने पर शाली चावलों का भात खाने को दें।

घृत के पचने पर कर्तव्य--

घी के पच जाने और रोगी का विरेचन हो जाने पर सोंठ डाल कर औटाया हुआ गुन--गुना पानी पीने को दे। फिर पीछे पेया और कुलथी का यूष खाने को दे।

उदररोग में हरीतकी सेवन--

उदर रोगी को उचित है कि बचे हुए दोषों की निवृत्ति के लिए गो-मूत्र से भावना दी हुई सहस्र हरीतकी वर्धमान रीति से सेवन करके दूध का अनुपान करता रहे। अथवा सेंहुड के दूध की भावना दी हुई सहस्र पीपल वर्धमान रीति से सेवन करे। चीता और देवदारु न०२ का कल्क दूध के साथ पीवे अथवा गजपीपल और सोंठ का कल्क नियमानुसार १ महीने तक दूध के साथ पीता रहे।

प्रवृद्ध-उदर की चिकित्सा--

१२१ वायविडङ्ग चीता दन्ती चव्य त्रिकुटा

—इन सब द्रव्यों का कल्क १ तोला दूध में मिलाकर पीने से बढ़ा हुआ उदर रोग नष्ट हो जाता है।

उदर पर प्रलेप--

ऊपर कहे हुए प्रकार से विरेचन होने पर उदर में म्लानता हो जाती है। इसलिए—

१२२-देवदारु पलाश आक गज पीपल
सहजना हल्दी

—इन सबको पीस कर उदर पर लेप कर दे।

उदर का परिषेक—

१२३-मैंदा मिंगी	वच	सोंठ	पंचमूल
पुनर्नवा	मांठ	धनियां	कूट

—इनके क्वाढे में गोमूत्र मिला कर उदर पर परिषेक करे। अथवा केवल गोमूत्र को औटाकर फलालेन का कपड़ा उसमें भिगोकर निचोड़ लें और उदर पर परिषेक करे। इससे आध्मान में फौरन लाभ होता है यह मेरा कई बार का परीक्षित योग है।

आध्मान में वस्ति—

कफादि आधार से युक्त वायु जिस रोगी के पेट में अफारा उत्पन्न करे उसको क्षार और गोमूत्र सहित तीक्ष्ण वस्ति देनी चाहिये।

वातोदर चिकित्सा--

वातोदर रोग में यदि रोगी बलवान हो तो विदार्यादिगण से साधित घृतपान करावे। फिर रोगी को स्निग्ध स्वेदित करके तैल्वक वा मिश्रक घृत का बार २ प्रयोग करके विरेचन करावे।

पित्तज उदररोग की चिकित्सा--

इसमें मधुरवर्गोक्त औषधों द्वारा सिद्धघृत से स्निग्ध करके, विरेचन के लिए पीपल, निशोथ और त्रिफला के क्वाथ में पकाया हुआ घृत देवे। बार-बार दुग्धपान, वस्ति-प्रयोग और विरेचन का प्रयोग करने से पित्तोदर निश्चय ही जाता रहता है।

कफोदर चिकित्सा--

कफोदर में बलवान रोगी को वत्सकादि गणोक्त औषधों से सिद्ध किये हुए घृत को पिला कर स्निग्ध करे। तत्पश्चात् उसको स्वेदन कर्म से

स्वेदित कर सेंहुड के दूध से सिद्ध किये हुए घी द्वारा विरेचन देकर कटु और क्षार युक्त कफनाशक पेयादि अन्न का पथ्य देना चाहिये। पेयादि पान कराने के पीछे मुस्तकादि गणोक्त द्रव्यों के काढे में अधिक परिमाण में गोमूत्र, त्रिकुटा और तेल मिलाकर निरूहण देवे तथा काढे से सिद्ध की हुई स्नेह-वस्ति देकर त्रिकुटा मिलाकर दूध के साथ अथवा कुलथी के यूष के साथ भोजन करावे।

कफोदर में अरिष्ट सेवन—

शराब पीने वाले उदर रोगी को यदि अरुचि, हृल्लास, मन्दाग्नि तथा कफ से उदर में गाढ़ापन वा कठोरता हो तो अरिष्ट तथा क्षार का प्रयोग करे। दुर्बल कफोदर रोगी को अरिष्ट, गोमूत्र, लोह तथा क्षार संयुक्त तैलपान कराके कफोदर को दूर करने का उपाय करे। सफेद सरसों, सुरा बीज और मूली के बीजों का कल्क करके दुर्बल जठर—रोगी के पेट पर लेप करके बार २ स्वेदन करे।

त्रिदोषज जठर की चिकित्सा—

सब प्रकार के उदर रोगों में, विशेष करके सन्निपातोदर में जब किसी उपाय से फल सिद्ध न होवे, तब रोगी के परिचारकों से पूछ कर कि जो दवा हम देते हैं वह विषम है, इससे रोगी मरेगा कि जीवेगा इसमें सन्देह है, यह जता कर काकादनी, चिरमिटी, कनेर इनकी जड को पीसकर मदिरा के साथ पिलावे। खाने और पीने में वत्सनाभ विष का प्रयोग करे अथवा सर्प कुपित होकर जिस फल में विष उगले, उस विष-फल को देना चाहिये। इस प्रमाथी-विष से रोगी की धातुओं में लीन विमार्गगामी स्थिर दोषसमूह शीघ्र छिन्न-भिन्न होकर बाहर निकल जाता है। ऊपर कही हुई रीति से उदर रोगी का दोष निकल जाय, तब उसको शीतल जल से स्नान कराके शीतल दूध और पेया का पान करावे। अथवा निशोथ, मंडूकी, फाल शाक या यवशाक को इन्हीं स्वरस में सिद्ध करके सेवन करे।

इन शाकों में नमक खटाई आदि न डालना चाहिये। तृषा लगने पर शाकों का स्वरस ही पिलावे। यह प्रयोग लगातार १ महीने तक करता रहे।

यकृत-प्लीहा चिकित्सा-

प्लीहादि में वातादि दोषों के अनुसार रोगी को स्निग्ध और स्वेदित करके दही के साथ भोजन करावे। यकृत में दाहिने हाथ की फस्द खुलावे तथा प्लीहा में बाएं हाथ की फस्द खुलवा कर रुधिर निकाले पर चिकित्सा समान रूप से करे। यकृत--प्लीहा के वास्ते आगे कई नुसखे लिखे जायगे।

यकृत--प्लीहा नाशक उत्तमोत्तम योग—

१२४-पीपल, सोंठ और दन्ती समान भाग, हरड़ २ तोला, काला नमक १ तोला, इनका चूर्ण गर्म जल से सेवन करे।

१२५-बायविडङ्ग, चीता, सत्तू, सेंधव, बच, इनको ठीकरे में जला कर पीस ले। इस चूर्ण का दूध के साथ सेवन करने से गुल्म और प्लीहा जाते रहते हैं।

१२६-रोहिड़े की छाल १। सेर, बेर १॥ सेर, इनका क्वाथ करे, फिर इसको छान कर इसमें पचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता, सोंठ) प्रत्येक ४-४ तोले, बड़ी हरड़ का छिलका २० तोला, घृत १ सेर, इनको पाकविधि से घृत सिद्ध करके सेवन करे तो अत्यन्त बढ़ी हुई यकृत और प्लीहा भी नष्ट होजाती है।

१२७-सैंधा नमक ५ तोला, अठगुने पानी में औटा कर पीवे तो प्लीहा, यकृत और गुल्म रोग दूर हों।

१२८ आक के पत्तों में सैंधव नमक लगा कर आंच में फूंक ले। भस्म होने पर छाछ के साथ पीवे तो दारुण प्लीहा और यकृत भी नष्ट होगा। मात्रा बलानुसार। इनके साथ धमासे का चूर्ण देना भी हितकर है।

१२९-पके आम के रस में शहद मिलाकर पीने से प्लीहादि रोग नष्ट होते हैं।

१३०-अजवायन, चीते की छाल, यवक्षार, वच, दन्ती, पीपल, इनके चूर्ण को गर्म जल से तथा दही के साथ लेना चाहिये। यवक्षार, काला नमक और पीपल इनको लहसुन के रस में मिला कर प्रातः-काल सेवन करे तो यकृत और प्लीहा रोग शान्त हो जाते हैं।

उदावर्त चिकित्सा-

१३१-निशोथ ७ तोला, पीपल ४तोला, हरड़ का छिलका ६ तोला, इनका चूर्ण करके गुड़ में गोली बना कर खाये तो बद्धकोष्ठ ठीक होता है।

छिद्रोदर चिकित्सा-

छिद्रोदर में स्वेदन कर्म के अतिरिक्त सब चिकित्सा कफोदर के समान की जाती है। किन्तु जब आंतों में छेद होकर उनमें से जल टपक-टपक कर पेट में भरे तब उस जल को योग्य चिकित्सक द्वारा निकलवा दे।

उदकोदर चिकित्सा--

जलोदर में प्रथम गोमूत्र तथा अन्य विविध क्षारों से युक्त जल के साथ दोष नाशक तीक्ष्ण—औषधों का प्रयोग करना चाहिये। अग्नि सदीपक और कफ नाशक आहार का सेवन कराके फिर वातादि दोषानुसार चिकित्सा शुरू करे। बकरी की मेंगनियों के क्षार को गोमूत्र में घोल कर अग्नि पर पकावे। जब गाढ़ा हो जाय तब नीचे लिखी औषधों का चूर्ण मिला दे।

१३२ पीपल	पीपलामूल	सोंठ	पांचों नमक
दन्ती	निशोथ	त्रिफला	स्वर्ण क्षीरी
मालती			यवक्षार

--फिर इनकी बेर के बराबर गोलियां बना लेवे। इन गोलियों को काजी में मिलाकर पीने से अजीर्ण, सूजन और बढ़ा हुआ-उदर रोग शान्त होगा। बद्धोदर, छिद्रोदर और जलोदर में यदि उपरोक्त चिकित्सा से लाभ न हो तो चतुर चिकित्सक द्वारा शस्त्र चिकित्सा करवानी चाहिये।

विशाला चूर्ण—

इन्द्रवारुणी का चूर्ण। अनुपान-गोमूत्र, मात्रा ३ से ४ माशे। सब प्रकार के उदररोगों में तथा स्त्रियों के मूढ़गर्भ में भी पूर्ण लाभ करता है।

पाचक चूर्ण—

१३३-पीली हरड़ का छिलका, काली मिर्च —दोनों २-२ तोले

छोटी हरड़	सोंठ	मिर्च	पीपल
सेंधव नमक	सांभर नमक		काला नमक

—प्रत्येक ४-४ तोले

छोटी इलायची	जीरा भुना हुआ	सौंफ
आंवला		—चारों ४-४ छटांक
अनारदाना १ सेर	अजवायन	पावभर

—कूट छान कर नीबू के रस की भावना देकर छाया में सुखावे और पीस कर शीशी में भर ले। मात्रा—३ माशे, भोजन के बाद सेवन करे तो शीघ्र ही लाभ हो।

विरेचन के अयोग्य—

अति स्निग्ध, बालक, वृद्ध, गर्भवती, क्षत-क्षीण, भयातुर, तृषा से पीड़ित, अधोगत रक्तपित्ती, प्रसूता स्त्री, नवीन ज्वर, मन्दाग्नि तथा प्रतिश्याय वाले रोगी को विरेचन न दे। शेष प्रायः सब रोगों में विरेचन हितकर है।

आहार में वर्ज्यावर्ज्य—

अम्ल और लवणादि वर्ज्य आहार-विहार में उदररोगी को यत्न से रहना चाहिये। कथित अन्नपानादि में अत्यन्त यत्न से रहने की आवश्यकता नहीं, परन्तु परिमाण से भीतर ही रहना चाहिये। अकथित अन्नपानादि में जितेन्द्रियता से रहे अर्थात् जिह्वा—लोलुप न होना चाहिये।

सर्वोदर चिकित्सा--

सर्वमेवोदर प्रायो, दोष-संघातजं यतः ।
अतो वातादि-शमनी, क्रिया सर्वा प्रशस्यते ॥

क्योंकि सब प्रकार के उदर रोग प्रायः तीनों दोषों के समूह से होते हैं, इसलिये सब प्रकार की वातादि नाशिनी क्रिया करनी चाहिये ।

उदररोगों में पथ्य–

दोषों के द्वारा कुक्षि के भर जाने से अग्नि मन्द पड़ जाती है इसलिए अग्नि संदीपक और हलके भोजन करने चाहिये । भोजन में पंचमूल, थोड़ी खटाई, नमक, स्नेह और कटु द्रव्य डालने चाहिये ।

उदररोग में यवागू आदि—

सांठी चावलों में गो-मूत्र की भावना देकर दूध के साथ उन चावलों की यवागू सिद्ध करके जठर रोगी को तृप्ति पर्यन्त खिलावे । ऊपर से इसका रस पिलावे, ऐसा करने से वात-पित्त और कफ अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं ।

उदररोग में त्याज—

अत्यन्त उष्ण, अम्ल, लवण, रूक्ष, ग्राही, शीतल, भारी गुरु तैल के पदार्थ, शाक, जलपान, स्नान, परिश्रम, मार्ग पर्यटन, दिन में सोना, सवारी आदि पर चढ़ना, छोड़ देवे ।

उदररोग में तक्रपान—

उदररोग में मधुर रस से युक्त तक्र श्रेष्ठ होता है ।

वातोदर में—पीपल और सेंधव डालकर दें ।
पित्तोदर में—काली मिर्च और खांड डाल कर दें ।
कफोदर में—अजवायन, सैंधव, जीरा, शहद और त्रिकुटा मिलाकर दें ।
सन्निपातोदर में—त्रिकुटा, यवक्षार, मिलाकर दें ।
प्लीहोदर में—मधु, तैल, वच, सोंठ, सौंफ, कूट और सैंधव मिलाकर दें ।

बद्धोदर में—हाऊबेर, अजवायन, सैंधव और जीरा मिलाकर दें।
छिद्रोदर में—पीपल और शहद मिलाकर दें।
जलोदर में—त्रिकुटा चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये।

वात-कफादि में तक्र की श्रेष्ठता—

वात-कफ से पीड़ित उदर रोग में यदि भारीपन, अरुचि, आनाह, अग्निमांद्य और अतिसार हो तो तक्र का सेवन अमृत का काम देता है।

दूध और तक्र का सेवन—

उदररोग में सब प्रकार की ओषधों के सेवन के पीछे दूध और तक्र का सेवन करना चाहिये। तक्र सम्पूर्ण धातुओं को स्थिर करने वाला है तथा बलकारक और दोषों के अनुबन्ध को दूर करने वाला है। जिस रोगी का शरीर औषध सेवन से पुष्ट होगया है, उसको दुग्धपान कराना अमृत-तुल्य है।

उपरोक्त लेख में उदर व्याधि, निदान तथा चिकित्सा सम्बन्धी वही नियम तथा औषधियां लिखी गई हैं, जो शास्त्रोक्त तथा स्वानुभूत हैं।

संग्रहणी-श्लेष्मातिसार

स्प्रु (*Sprue*) क्रानिक डायरिया (*Chronic Diarrhoea*)

पुराने दस्त--जीर्णातिसार

'झलक-उल-अम-आ'

——पर——

प्रसिद्ध चिकित्सकों के सफल अनुभव

ग्रहणी रोग पर संक्षिप्त टिप्पणी।

लेखक--श्री० पं० धर्मदत्त जी, प्रिंसिपल-गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय,
गुरुकुल कांगड़ी, (सहारनपुर)

ग्रहणी—ग्रहण्याशय या क्षुद्रान्त्र के प्रथम भाग में जहां पर आहार का पाचनकार्य विशेषरूप में होता है, उसमें यदि कफप्रकोप, पित्त प्रकोप या वातप्रकोप जन्य शोथ हो जाय तो उसे ग्रहणी रोग कहते हैं।

ग्रहणी का श्लैष्मिक शोथ—यदि ग्रहण्याशय की अन्त कला फूल जाय, रक्त वर्ण हो जाय और उसकी फूली हुई श्लेष्म ग्रन्थियों में से श्लेष्मद्रव का स्राव अधिक हो तो इसे ग्रहणी का श्लैष्मिक शोथ कहते हैं।

ऐसी अवस्था में जिह्वा भी ग्रहणी के समान स्थूल, रक्त वर्ण, चकत्तों से युक्त और श्लेष्मस्राव से युक्त होती है। प्रायः युवा मनुष्यों के ग्रहणी रोग में इसीप्रकार का कफशोथ होता है।

यदि ग्रहणी की अन्तः कला शुष्क, क्षीण, श्वेत वर्ण हो जाय तथा ग्रहणी की दीवार पतली पड़ जाय तो इसे ग्रहणी की वात प्रकोप जन्य क्षीणता कहते हैं। इस अवस्था में जिह्वा भी इसीप्रकार अंकुरों से हीन, सफाचट, पाण्डुर और क्षीण हो जाती है। बड़ी आयु के रोगी मनुष्यों में प्रायः वात प्रकोप के लक्षण विशेष होते हैं। युवा रोगियों के सारे शरीर में कफ प्रकोप तथा वृद्ध रोगियों के शरीर में वात प्रकोप के ही नाना प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं।

यदि ग्रहण्याशय की अन्तःकला में तीव्र शोथ पूयभाव या व्रण भाव हो तथा जिह्वा पर भी रक्त वर्ण विस्फोट हों तो उसे पित्त प्रकोप जन्य ग्रहणी रोग कहते हैं। पित्त प्रकृति के मध्यमायु से नीचे के व्यक्तियों में, यह होता है।

यह ग्रहणी शोथ का रोग चिरस्थायी अजीर्ण का परिमाण है। जब अजीर्णान्न ग्रहण्याशय में विदग्ध होता है तो उससे उत्पन्न विषों की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण्याशय की अन्तःकला में यह शोथ उत्पन्न होती है।

जिस देश और काल में अजीर्ण अधिकता से होता है, जैसे उष्ण और आर्द्र देश तथा शीत या उष्ण ऋतु में होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार के देश और काल में यह रोग विशेषता से पाया जाता है तथा विदाह-शील आहार के अधिक प्रयोग करने वालों में यह रोग प्रचुरता से होता है। निशास्ता (स्टार्च) खाण्ड और घृत से बने आहार सब आहार द्रव्यों की अपेक्षा अधिक विदाहशील होते हैं। जिनकी ग्रहणी

में स्वाभाविक निर्बलता हो और वे इनका सेवन विशेषता से करें तो उनमें यह रोग अधिक होता है।

ग्रहण्याशय में अधिक पहुँचे हुये निशास्ते तथा खाण्ड के आहार के यथावत् जीर्ण न होने से जो विदाह उत्पन्न होता है, उससे नाना वानस्पतिक अम्ल तथा गैस आदि उत्पन्न होते हैं। यदि ये अम्लीय विष-द्रव्य मृदु हों और शरीर बलवान हो तो ग्रहण्याशय में कफ प्रकोप जन्य शोथ होती है। यदि ये अम्लीय विष-पदार्थ तीक्ष्ण हों और शरीर बलवान् हो तो ग्रहण्याशय के अन्दर पित्त प्रकोप जन्य शोथ होती है। यदि ये अम्लीय विष द्रव्य तीक्ष्ण या मृदु हों परन्तु शरीर की तथा ग्रहण्याशय के अवयवों की वातिक शक्ति (Vitality) निर्बल हो तो ग्रहण्याशय में वात प्रकोप जन्य या क्षीणता सूचक शोथ होती है।

अजीर्णान्न के अम्लीय विषों से ग्रहणी में शोथ होता है और फिर इस शोथ के बाद अन्न और भी कम जीर्ण होता है, जिससे दिन भर का किया हुआ आहार ग्रहण्याशय में विदग्ध होता रहता और अगले दिन प्रातः काल तीन चार आमातिसार के वेगों के द्वारा बाहर निकल जाता है। ग्रहण्याशय में अन्न तथा खांड के विदग्ध होने से जो अनेक अम्ल उत्पन्न होते हैं उनके कारण रोगी का मल अम्लीय होता है; विदग्धान्न से उत्पन्न गैसों के कारण मल झागदार, वायु से युक्त, फूला हुआ होता है। सायं तथा रात भर पेट में आध्मान सा रहता है। स्निग्ध तत्व के हजम तथा विलीन न होने से, उसके श्वेत घोल से युक्त होने के कारण, मल कुछ श्वेत वर्ण

होजाता है। आहार के यथावत् जीर्ण न होने के कारण जितना आहार किया जाता है उसकी अपेक्षा मल की मात्रा अधिक होजाती है। प्रातः से मध्याह्न के लगभग तक तीन-चार वेग हो जाने के बाद फिर दिन तथा रात को और कोई वेग नहीं होता। अगले दिन प्रातः फिर इसी प्रकार के तीन-चार वेग हो जाते हैं। इस रोग मे मल न अधिक पतला और न अधिक बंधा हुआ होता है।

पथ्याहार करने से तथा शीत काल में, यह रोग शान्त हो जाता है; परन्तु ग्रीष्मतु तथा वर्षा ऋतु में फिर भी प्रगट हो सकता है। इस प्रकार चिरस्थायी आमातिसार के रूप में यह रोग चिर-काल तक बना रहता है।

भ्रम का स्थल--

१—ज्वरातिसार मे इसका भ्रम हो सकता है परन्तु इस रोग में ज्वर कभी नहीं होता।

२—'प्रवाहिका' तथा 'अमीबा युक्त प्रवाहिका' से इसका भेद यह है कि उनमें मल हर बार थोड़ा २ तथा कुछ मरोड़ के साथ होता है और परीक्षा करने पर अमीबा-जीवाणु भी पाये जाते हैं, किन्तु ये सब लक्षण इस रोग में नहीं होते।

चिकित्सा--

क्योंकि विदाहशील आहार जैसे अन्न तथा खांड का सेवन इस रोग के लिये हानिकारक है, इसलिये इनसे बने आहार बन्द कर देने चाहिये। स्निग्धता से विहीन दही तथा दूध पर ही रोगी को

रखना चाहिये। विशेषतया कफ प्रकोप जन्य ग्रहणी रोग में रूक्ष दही–दूध का ही सेवन कराना चाहिये।

वात प्रकोप जन्य ग्रहणी रोग में स्निग्धता युक्त दही–दूध का देना हितकर है। दही या दूध को किसी कफ प्रकोप हर औषधि, जैसे-पिप्पली. त्रिकटु आदि के साथ देना चाहिये। एक मास तक रोगी को केवल इसी आहार पर रखना चाहिये। दही का मट्ठा तथा दूध क्रमशः बढ़ा कर दिन में तीन-चार सेर या इससे भी अधिक जितनी क्षुधा हो. दिये जा सकते हैं।

एक मास के बाद ही किसी रसदार किन्तु ताजे फल जैसे सन्तरे, छोटे आम, खरबूजे आदि का सेवन भी करा सकते हैं। दो मास तक इन दोनों आहारों के अतिरिक्त और कोई आहार नहीं देना चाहिये, फिर स्निग्धता युक्त दूध-दही दे सकते हैं, पर दूध में खांड का प्रयोग सर्वथा न करना चाहिये। दो मास के बाद पहले पकाई हुई नर्म सब्जियों की और फिर दिन में एक बार थोड़े से अन्न की आज्ञा दे सकते हैं, परन्तु तीसरे या चौथे मास की समाप्ति तक मात्र एक बार ही, और वह भी थोड़ी सी मात्रा में ही दें। खाण्ड तथा खांड और घृत से बने आहारों का उपयोग छः मास तक सर्वथा न कराना चाहिये।

औषधियों में से जो दीपक, पाचक, कफ नाशक चूर्ण, आसव आदि शास्त्रों में लिखे हैं, जैसे लशुनाष्टक, चित्रकादि, दाडिमाष्टक, लवंगादि, नायिका, जातीफलादि, पिप्पल्यासव आदि किसी का

दिन में एक-दो बार प्रयोग करना चाहिये। कफ प्रकोप जन्य ग्रहणी रोग में ये अत्यधिक हितकर हैं।

वात प्रकोप जन्य ग्रहणीमें इनका प्रयोग घृत के साथ या दीपक-पाचक घृतों जैसे महापट्पल घृत या किसी अन्य दीपक औषधियों से साधित योग्य घृत के साथ करना चाहिये। इनसे पाचन शक्ति बढ़ती है और ग्रहणी में विद्यमान शोथ शान्त होता है।

ग्रहण्याशय में विद्यमान शोथ को शान्त करने तथा विदाह को रोकने के लिये पारद-गंधक से बनी पर्पटी का प्रयोग विशेष हितकर है। यदि पांडुता हो तो लोह-ताम्र के संयोग से बनी पर्पटी, और यदि वायु का प्रकोप विशेष हो तो स्वर्ण संयोग से बनी पर्पटी का एक रत्ती से आठ दस रत्ती तक, दिन में एक बार प्रयोग करना चाहिये। इस रोग में रक्त के अन्दर खारिक धातु की न्यूनता भी हो जाती है इसलिये शंख, शुक्ति, प्रवाल आदि किसी का प्रयोग करना भी हितकर है।

इस चिकित्सा से मध्यमायु से नीचे के रोगियों को तो पूर्ण आराम हो जाता है; परन्तु वृद्ध ग्रहणी रोगियों को केवल तात्कालिक आराम आता है। यदि वे पथ्यापथ्य का थोड़ा सा भी ध्यान न रखें तो उन्हें फिर से यह कष्ट हो जाता है, तब उन्हें आयु भर पथ्य ही रखना पड़ता है।

[उदररोगाङ्क]
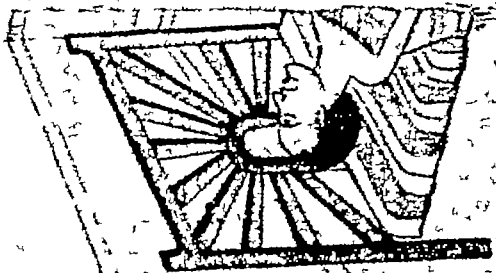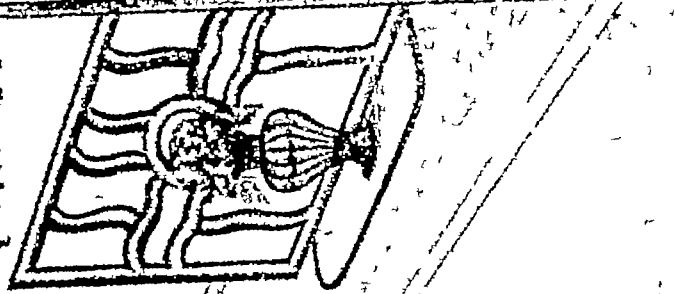
(सन्निपातोदर

संग्रहणी

[चिकित्सा चन्द्रोदयादि अनेक पुस्तकों के सफल-लेखक और सम्पादक]

ले०—श्री० बाबू हरिदास जी वैद्य, मथुरा

सभी जानते हैं कि वृद्धावस्था बुरी बला है, आंख काम नहीं देतीं। लिखता हूं कुछ और लिखा जाता है कुछ और। अभ्यासवश कुछ लिख तो लेता हूँ, पर उसमें जो छूट-छाट और गलतियां रह जाती हैं, उनका सुधार करना महाकठिन होजाता है। बुढ़ापा बहुत बुरा है, सच पूछो तो एक भयानक बला है, पर मजबूरी से जो कुछ करना है, करना ही पड़ता है।

वैद्यक के सुविख्यात मासिक पत्र "धन्वन्तरि" के सम्पादकों की मुझ पर आरम्भ से ही कृपा चली आती है। मुझ से बड़े आग्रह के साथ कुछ न कुछ लिखवाया जाता है, इससे मुझे तकलीफ तो होती ही है, पर इज्जत बढ़ती है। इस बार अनेक बार इरादे करने पर भी लेख न लिख सका, माननीय सम्पादक महोदयों ने मुझे तार तक दिया। तब कुछ लिखकर उन महानुभावोंकी आज्ञा पालन करनी पड़ी। इसमें त्रुटिया बहुत होंगी, आशा है, सम्पादक महाशय सुधार करके मेरी इज्जत बचा लेंगे। इस कृपा के लिये मैं आजीवन आभारी रहूँगा।

ग्रहणी की सम्प्राप्ति-

अतिसारे निवृत्तेऽपि, मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूयः सन्दूषितो वह्निः, ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥

अतिसार के आराम हो जाने पर भी, अगर मन्दाग्नि वाला अपथ्य पदार्थ सेवन करता है, तो उसकी जठराग्नि दूषित होकर, ग्रहणी को दूषित करके संग्रहणी रोग उत्पन्न कर देती है।

खुलासा यह है कि अतिसार रोग के आराम हो जाने पर भी अगर मन्दाग्नि वाला मनुष्य अपथ्य पदार्थ सेवन करता है— बद-परहेज़ी करता है, तो उसकी जठराग्नि आमाशय के बीच में रहने वाली 'पित्तधरा' नामकी छठी कला ग्रहणी को बिगाड़ कर 'संग्रहणी' रोग पैदा करती है।

अन्न का अधिष्ठान "अग्नि" है, अग्नि अन्न को ग्रहण करती है, इसीलिये उसे ग्रहणी कहते हैं। यह अग्नि नाभि के ऊपर रहती और कच्चे या बिना पके हुए अन्न को धारण करती है, और पके हुये को नीचे गिरा देती है। ग्रहणी का बल अग्नि है, अग्नि के ही आसरे से ही वह रहती है, इसलिये अग्नि के दूषित होने से ग्रहणी भी दूषित हो जाती है।

नोट—इसका काम है कच्चे अन्न को ग्रहण करना और पके हुए को गुदा की राह से बाहर निकाल देना। उस ग्रहणी नाम की आंत में जब कुछ खराबी हो जाती है, तब वह कच्चे अन्न को भी गुदा के बाहर निकाल देती और रोगी को बड़ा दुखी कर देती है।

ग्रहणी के सामान्य लक्षण-

जब वातादि तीनों दोष, अलग-अलग या मिलकर खराब हो जाते हैं, तब वह ग्रहणी को बिगाड़ देते हैं। दूषित ग्रहणी कच्चे और पक्के मल को गुदा की राह से नीचे गिरा देती है। उस समय दर्द होने लगता है, मल कभी पतला कभी गाढा आता है और उसमें बदबू आया करती है, जब ऐसे लक्षण हों, तब समझना चाहिये कि ग्रहणी रोग हो गया।

नोट—आम वायुके एकत्रित होने को संग्रहणी कहते हैं, ग्रहणी की अपेक्षा संग्रहणी अधिक भयङ्कर होती है।

ग्रहणी रोग की परीक्षा—

ग्रहणी कच्चे अन्न को ग्रहण करती है, इससे पेट फूल जाता है और कच्चे दस्त आने लगते हैं। दस्त होते ही रहें, यह कोई क़ायदा नहीं, कभी कुछ दिनों तक दस्त बन्द रहते हैं और फिर होने लगते हैं। कभी एक-दो दस्त होते हैं, कभी बहुत से होते हैं। भोजन पच गया हो, या पच रहा हो, उस समय पेट फूलता है, फिर भोजन करने से शांति मिलती है। मन में ऐसा खयाल होता है, मानो तिल्ली बढ़ गई है, वायगोला हो गया है या छाती में कोई रोग है। अनेक बार पतला या सूखा और कच्चा दस्त, आवाज के साथ बारम्बार होता है। शरीर गलने लगता और खून कम होने लगता है, अन्त में शरीर पर सूजन आजाती है। ऐसे मौके पर बाज़-बाज़ दफा देखा है कि रोगी होश-हवास में बातें करते हुए ही चोला छोड़ जाता है। बहुधा संग्रहणी के दस्तों में खून और राध प्रभृति भी गिरने लगते हैं। आमातिसार या मरोड़ी के दस्तों की तरह पाखाना फिरते समय पेट में ऐंठनी होती या मरोड़े चलते हैं। बारम्बार दस्त होते हैं। रोगी पीड़ा और कमज़ोरी की वजह से घबरा जाता है।

ग्रहणी रोग को संग्रहणी इसीलिये कहते हैं, क्योंकि इसमें आमवायु का संग्रह होता है।

ग्रहणी के पूर्व रूप-

जब ग्रहणी रोग होने वाला होता है, तब नीचे लिखे हुए लक्षण दीखने लगते हैं जैसे—प्यास, सुस्ती, बल की कमी, खाना पचते समय जलन होना, भोजनका देरमें पचना, तथा शरीर भारी होना आदि।

ग्रहणी रोग के भेद-

१—वातज ग्रहणी
२—पित्तज ग्रहणी
३—कफज ग्रहणी
४—सन्निपातज ग्रहणी
५—संग्रहणी
६—घटी यन्त्र

संग्रहणी रोग के इलाज में याद रखने योग्य बातें-

(१) संग्रहणी रोग की, लंघनों तथा अग्नि को दीपन करने वाली अतिसार की औषधियों से, अजीर्ण की तरह चिकित्सा करनी चाहिये। इस रोग में भी दोषों की सामता और निरामता का ख्याल रखना चाहिये, अतिसार की तरह ही आम को पचाना चाहिये।

(२) पुराना आम या संग्रहणी रोग मामूली उपायों से आराम नहीं होता, वैद्यों को पुरानी संग्रहणी में बड़ी तकलीफें उठानी पड़ती हैं, क्योंकि संग्रहणी वाले का पेट बहुत ही खराब हो जाता है, यहां तक कि मामूली खाना भी उसे नहीं पचता, संग्रहणीके रोगी को एक छोटा बच्चा समझ कर उसका इलाज़ करना चाहिये।

(३) संग्रहणीके रोगी की जीवन-रक्षा मठा (तक्र) ही कर सकता है, संग्रहणी वाले को खाने और पीने की चीजों के बदले में केवल मठा ही सेवन कराना चाहिये। भुना जीरा, भुनी हींग और सैंधा नमक मिला करमठा ही पिलाना संग्रहणी वाले के लिये अत्यन्त पथ्य है। संग्रहणी वाले को मठे से भोजन के समान ताक़त रहती है और अग्नि तेज़ रहती है। जब अग्नि

तेज़ हो जाय तब रोगी को पुराने चावल वगैर. देने में कोई हानि नहीं। अनेक बार देखा है, कि जो हाड़ों के कङ्काल हो गये थे, जिनको डाक्टरों ने असाध्य कह कर छोड़ दिया था, वे कई-कई महीने तक, विश्वास के साथ एक मात्र छाछ या मठा सेवन करने से भले चंगे हो गये।

(४) संग्रहणी रोग की शास्त्रों में अनेक औषधियां और रसादि लिखे हैं, उनमें से हम अपने आजमाये हुये चन्द योग आगे लिखते हैं।

(५) संग्रहणी रोग में मठा पीना, आबहवा बदलना, नदी की सैर करना आदि बहुत ही मुफीद हैं। इसी तरह ज्यादा नहाना, ज्यादा पानी पीना, जागना, चिकने पदार्थ खाना और परिश्रम करना नुक्सानमन्द है।

चिकित्सा--

शास्त्रीय सुप्रसिद्ध प्रयोगों में इस जटिल रोग को मार भगाने के लिए, निम्न-लिखित योग बड़े मार्के के प्रमाणित हुये हैं।

१—लाई चूर्ण
२—लवणादि चूर्ण
३—अग्नि कुमार रस
४—ग्रहणी वज्रकपाट रस
५—ग्रहणी कपाट रस
६—ग्रहणी मदवारण सिंह रस
७—ग्रहणी गुटिका
८—ग्रहणी गजेन्द्र वटिका
९—महा गंधक
१०—श्री वैद्यनाथ वटिका
११—पीयूष वल्ली रस
१२—वृहत् गंगाधर चूर्ण
१३—कनक रस
१४—दुग्धवटी

गरीब लोग, जो कि इन कीमती चीजों को नहीं खरीद सकते, उनके लिए कुछ रामबाण पर सस्ते-आशुफलप्रद योग दिये जा रहे हैं।

१३४-गाल ४ माशे को ४ माशे गुड़ या चीनीमें मिलाकर खाने और ऊपर से बकरी का दूध पीने से संग्रहणी नष्ट होजाती है।

१३५-खजूरके फल ६ माशे लेकर गायके दो तोले दहीके साथ खिलावें।

१३६-चीता, चव्य, बेलगिरी, सोंठ, इन चारों को बराबर-बराबर लेकर चूर्ण बनालो। इस चूर्ण के खाने से दुस्सदाणी से दुस्सदार्थी संग्रहणी भी चली जाती है।

१३७-बबूल का गोंद ६ माशे, आध पाव ठण्डे पानी के साथ खाने से संग्रहणी नष्ट हो जाती है। इसे तीन दिन खाना चाहिये।

१३८-तीन दाने चिकनी सुपारी की राख, दो तोले गाय के दही में मिला कर खाने से संग्रहणी चली जाती है।

१३९-अफीम और केशर शहद में घिस कर एक चावल भर देने से सब तरह के अतिसार और संग्रहणी नाश हो जाती है।

१४० भाग दो माशे भून कर तीन माशे शहद में मिला कर चाटने से संग्रहणी नष्ट हो जाती है।

क्षमा प्रार्थना--

जगत्प्रसिद्ध अनुभवी वयोवृद्ध लेखक ने अपने प्राणस्वरूप सुपरीक्षित शास्त्रीय योगों को पूर्णरूपेण प्रकाशनार्थ भेजा था, किन्तु स्थान की अत्यधिक कमी के कारण, हमें खेद है कि, हम उन योगों का मात्र नामोल्लेख ही कर सके हैं। भविष्य में आपका यह अनुपम लेख, धन्वन्तरि में योग्य स्थान पर अविकल रूप से यथासमय प्रकाशित करेंगे। हमारी बेवसी की ओर ध्यान करके, आशा है कि पाठक तथा लेखक हमें अवश्य क्षमा कर देंगे। स०

संग्रहणी की कल्पचिकित्सा

ले०—वैद्य श्री० बांकेलाल गुप्त आयुर्वेदाचार्य, सम्पादक 'धन्वन्तरि'

जो भी विशेष अवस्थाएँ संग्रहणी वाले रोगियों की देखी गई हैं, हम यहां पर उनकाही वर्णन करना चाहतेहैं, किन्तु उनके पूर्णतया लिखने पर एक स्वतंत्र पुस्तक बन सकती है, इसलिये यहां संक्षेप में वही लिखेंगे जिससे नवीन वैद्य और गृहस्थ भी लाभ उठा सकें।

ग्रहणी पुरानी होनेपर बड़ा भयंकर रूप धारण कर लेती है। रोगी निर्बल और निस्तेज हो जाताहै, उसको स्वयं अपना जीवन भाररूप हो जाता है। घर के लोग भी परिचर्या करते २ थक जाते हैं। ऐसी कठिन अवस्था में आयुर्वेदीय चिकित्सा ही उन्हें जीवनदान देती है। उससे रोगी हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। पर, ऐसे रोगों का कल्प कराना ही श्रेष्ठ-उपाय है। अन्न और जल बंद करके एकमात्र तक्र (छाछ) अथवा गोदुग्ध या दूध और पके-मीठे आम ही सेवन कराने होते हैं, जिससे रोगी रोगमुक्त हो जाता है।

इन कल्पों से हमने ऐसे सैंकड़ों रोगियों को रोगमुक्त किया है, जो अपने जीवन को भाररूप समझते थे, चिकित्सा कराते २ निराश हो बैठे थे, जिनके अस्थिमात्र शेष रह गये थे, चारपाई पर पड़े रहते थे और घर वाले भी उनके जीवन की आशा छोड़ चुके थे।

हम उनमें से कुछ अवस्थाओं का यहां क्रमशः वर्णन करेंगे, किंतु साथ ही प्रार्थना भी करेंगे कि उन प्रयोगों को गृहस्थ स्वयं न करके

जिन वैद्यों को अनुभव हो, उनसे ही करावें। नवीन वैद्यों से भी अनुरोध है कि वे जब इन प्रयोगोंको आरम्भ करें तब बड़ी सावधानी से करें। रोगी से प्रथम ही कहदें कि भाई, हम इस प्रयोग को करते तो हैं, जो तुम्हारे लिये परम आवश्यक और लाभ प्रद है, इससे तुम अवश्य ही आरोग्य लाभ करोगे; लेकिन यह प्रयोग १०० दिन करने का है, अतः विश्वास व धैर्यपूर्वक १०० दिन तक चिकित्सा करा सको तब कराओ, अन्यथा नहीं। इस सम्बन्ध में जो जो बातें इस प्रयोगके समय समझमें न आवें या कोई उपद्रव उठ खड़ा हो तब हमसे पूछते रहें हमें जो भी अनुभव है वह सब अपने प्रिय नवीन वैद्यों को बताने में सङ्कोच नहीं करेंगे। आशा है कि हमारी प्रार्थना पर ध्यान दिया जायगा और अवस्था भेद से जो चिकित्सा विधि हम लिखते हैं उससे लाभ उठाया जायगा।

१–जिन रोगियोंको भूख कम लगती हो, दस्त पतला या फूला हुआ होता हो, शरीर निर्बल होता जाता हो, पेट में गुड़गुड़ाहट होती हो, प्रारम्भ में ५–६ दिन तो १–२ दस्त ही प्रतिदिन होते हों, बाद को अधिक दस्त हो जाते हों अर्थात् दस्त का दौड़ा हो जाता हो; चाहे वह ७–८ दिन बाद या १४–१५ दिन बाद ही क्यों न हो, तब उन्हें चार रत्ती ग्रहणीरिपु जल या तक्र के साथ प्रातः और सायं-काल फंकाना चाहिये। मठा (तक्र) गाय के दही का बनाया हुआ हो तथा जिससे लोनी (घृत) निकाल ली गई हो; उस ही एक बार में पाव भर लेकर तथा सेंधा नमक, काली मिर्च, और जीरा भुना डालकर पिलावें।

नोट—ग्रहणीरिपु के स्थान में ग्रहणी गजेन्द्र रस, या लाई रस भी आवश्यकतानुसार दिया जा सकता है।

२—जिन रोगियों में उपर्युक्त बातें हों तथा प्रतिदिन दस्त भी भी अधिक होते हों; उन्हे उपर्युक्त ग्रहणीरिपु प्रातः और सायं काल दें तथा भोजन के बाद लवणभास्कर २-२ माशे जल के साथ दें। यदि यह रोग अधिक पुराना हो तो इनके अतिरिक्त रात्रि को सोते समय ३ माशे कपित्थाष्टक चूर्ण जलके साथ और फंकाना चाहिये।

नोट-कपित्थाष्टक चूर्ण के स्थान में गंगाधर चूर्ण मध्यम भी दे सकते हैं। यदि रोगी स्त्री हो और उसे प्रदर भी हो तब चन्दनादि चूर्ण सेवन करावें।

३—जिन रोगियों को प्रतिदिन ४-५ दस्त होते हों और दौड़े में ८-१० या और भी अधिक होजातेहों तथा शरीर बहुत निर्बल हो, प्यास अधिक हो या ज्वर की मन्द ऊष्मा भी रहती हो, उन्हें प्रातः और सायं मृगांक-पोटली-रस चार २ चावल, १-१ रत्ती भांग, १-१ रत्ती कालीमिर्च मिलाकर मधु के साथ चटा, ऊपरसे ढाई २ तोला द्राक्षादि अर्क पिलावें। दिन के ९ बजे व ३ बजे ग्रहणीरिपु ४-४ रत्ती गाय के तक्र के साथ (तक्र में सेंधा नमक, कालीमिर्च, भुना जीरा, अन्दाज का डालें तथा ४ रत्ती चित्रक की छाल पीस कर डालें) फंकाना चाहिये। भोजन के बाद २ माशे लवणभास्कर चूर्ण मठा या जल के साथ दें। रात्रि को सोते समय १ रत्ती स्वर्णपर्पटी शहद से चटावें। यदि रोगी को अफारा हो-जाता हो या पेट मे दर्द रहता हो, तब भोजन के बाद लवणभास्कर चूर्ण न देकर क्रव्यादिरस चार २ रत्ती, तक्र के साथ दें।

नोट—मृगांक पोटली के स्थान में हिरण्यगर्भ पोटली रस भी दे सकते हैं।
स्वर्णपर्पटी के स्थान में रसपर्पटी, विजय पर्पटी भी दे सकते हैं।

४—जिन रोगियों में उपर्युक्त बातें तो हों ही, पर दस्त में आंव भी आती हो, उनको द्राक्षादि अर्क न देकर कुटजारिष्ट २ तोले की मात्रा में पानी मिलाकर दें। भोजन के बाद लवणभास्कर या क्रव्यादिरस न देकर एरण्ड पुटपाक या एरंड पुष्प वटी दें तथा भोजन के पदार्थों में सोंठ का भी व्यवहार करें।

५—जिन रोगियों में उपर्युक्त बातें तो हों ही, पर साथ ही दस्तों में आंव-खून भी आते हों अथवा आंव न आकर दस्तों के साथ खून ही आता हो, तब प्रातः और सायंकाल १-१ गोली [illegible] खिलावें और ऊपर से थोड़े २ पानी में दो दो तोला कुटजारिष्ट मिलाकर पिलावें। ९ बजे और ३ बजे ग्रहणीरिपु या ग्रहणी गजेन्द्र रस ४-४ रत्ती की मात्रा से मट्ठा के साथ दें। भोजन के बाद दो दो गोली चित्रकादि गुटिका अर्क या सौंफ के अर्क के साथ दें और रात्रि को १ रत्ती स्वर्णपर्पटी या एक रत्ती विजयपर्पटी शहद में चटावें।

६—जिन रोगियों का उपर्युक्त हाल तो हो, पर साथ ही उनकी प्रकृति में पित्त की गरमी भी अधिक मालूम देती हो, प्यास भी अधिक लगती हो, तब प्रथम उन्हें अनार देते रहें। यदि अनार से भी शांति न हो तब मधु के स्थान में शर्बत अनार का व्यवहार करें तथा सौंफ का अर्क भी दे सकते हैं।

७—जिन रोगियों को पतले दस्त होते हों, भूख कम लगती हो, शरीर निर्बल होता जाता हो तथा कमजोरी अधिक हो पेट बोलता हो

तथा साथ में ज्वर भी हो; उन्हें प्रात: और सायं चार २ चावल मृगांक पोटली रस में एक २ माशे जातीफलादि चूर्ण मिलाकर शहद मे चटाना चाहिये। ऊपर से २-२ तोला द्राक्षादि अर्क पिलाना चाहिये। ९ बजे चार २ रत्ती ग्रहणीरिपु जल के साथ देना चाहिये।

यदि दस्त अधिक होते हों तब ग्रहणीरिपु न देकर चार २ रत्ती मार्कण्डेय रस जल के साथ दें। भोजन के बाद चित्रकादि वटी या लवणभास्कर दे। रात्रि को सोते समय एक रत्ती पचामृत पर्पटी शहद के साथ चटावे।

ऐसी अवस्था में ही दूध का प्रयोग भी चलता है। उसमें प्रथम रात्रि को क्षीरपाक बना ५ तोला दूधसे आरम्भ करते हैं और जब आध सेर हो जाता है तब दिन में भी मृगांक की जगह स्वर्णपर्पटी देकर दूध पिलाते हैं। इस तरह धीरे २ जब दूध बढ जाता है तब अन्न-जल बन्द कर केवल दूध ही पिलाते हैं औषधि में सिर्फ प्रात, सायं और रात्रि में स्वर्णपर्पटी ही देते हैं। हा, प्यास वगैरह को शान्त करने के हेतु द्राक्षादि अर्क और अनार का शर्बत भी देते हैं तथा हरे नारियल का पानी भी देते हैं।

"कल्प नम्बर १"

जिन रोगियों को पतले दस्त होते हो तथा दौरा भी होता है, भूख बहुत कम लगती हो, हाथ, पैर, पेट, तथा मुख पर सूजन (शोथ) भी हो, शरीर निर्बल हो गया हो, तब वैद्य निराश हो जाते हैं। घर वाले भी उसे मृत्यु के मुख में ही समझते हैं। ऐसी अवस्था वालों को हमने अनेक बार अन्न-जल बन्द कराके केवल दूध ही देकर और आरोग्य कर यश और धन पैदा

किया है। आज हम उसी अपने अनुभव को पाठकों के सामने निष्कपट भाव से रखते हैं और आशा करते हैं कि वैद्य इससे अवश्य लाभ उठायेंगे।

प्रातः और ३ बजे—१-१ रत्ती स्वर्ण पर्पटी में २-२ रत्ती लोहभस्म मिला कर शहद में चटावे। दिन के ६ बजे तथा रात्रि को सोते समय दुग्धवटी (अहिफेन वाली) एक २ गोली गौ के दूध के साथ (दूध औटा कर ठंडा कर और बताशे डाल कर) दें। दिन के १२ बजे और सायं ६ बजे ४-४ रत्ती मार्कंडेय रस दूध के अर्क (दूध को भवके में डाल अर्क निकाल लें) के साथ दें।

जब भूख लगे और प्यास लगे तब दूध ही दें, अन्न और जल न दें। दूध औटालें और ठण्डा करके बोतलों में भरकर रखलें और उन पर काट लगा कर गरम पानी में डुबा रखें तथा बर्तन को आग पर रखा रहने दें, जिससे पानी थोड़ा गरम बना रहे। यह ध्यान रहे कि अधिक अग्नि लगने से बोतल टूट जाती है और दूध में भी गरिष्ठता आ जाती है। अग्नि न रहने से भी दूध खराब हो जाता है अतः साधारण अग्नि पर ही बर्तन रक्खें।

प्रथम दिन ही अन्न-जल बन्द न करना चाहिये। प्रथम दिन औषधि के साथ ही एक २ छटांक दूध दें और पथ्य में गेहूं की रोटी व मसूर की दाल दें। दूसरे दिन दूध औषधि के साथ आध २ पाव दें और भूख लगने पर भोजन भी दें। तीसरे दिन दूध तीन २ छटांक दें। इस क्रम से दूध बढ़ाते जायें, दूध बढ़ने पर रोगी स्वयं ही अन्न कम खाता है। ५-७ दिन बाद एक समय का भोजन भी बन्द करदें। १०-११ दिन बाद एक समय के भोजन में भी कमी कर दें। १४-१५ दिन बाद अन्न-जल बन्द कर दें, इसी तरह थोड़ा २ जल भी कम करावें। यदि रोगी को भूख ही न हो तब प्रथम दिन से ही अन्न-जल बन्द करा देते हैं। जब रोगी की दशा सुधरने लगती है तब दूध भी बढ़ने लगता है। साधारण खुराक

वाला रोगी ५-५ सेर दूध पी लेता है। ४० रोज तक अन्न-जल बन्द रखने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है, किसी २ को अधिक दिन भी लग जाते हैं। जब रोग की कोई शिकायत शेष न रहे तब अन्न-जल का पथ्य दिया जाता है, वह मात्र २-४ माशे ही, अधिक नहीं। फिर रोज धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है, तब १५-२० दिन में पूर्ण अन्न-जल पर आ जाता है। हां, रोगी की अवस्थानुसार औषधियों का परिवर्तन करते रहना अथवा खुराक कम बेशी करते रहना, वैद्य का काम अवश्य है।

नोट-जिन्हें शोथ न हो उन्हें दुग्ध वटी (अहिफेनवाली) न देकर १-१ रत्ती सिद्ध मकरध्वज और ४-४ रत्ती जायफल मिला कर दें।

"कल्प नम्बर २"

वर्षा ऋतु में कोई भी कल्प करना प्रायः बड़ा कठिन होता है। उसे वही कर सकते हैं, जिन्होंने अनेक बार अनुभव कर लिया होता है, किन्तु यदि शोथ न हो, तब वर्षा ऋतु में आम का कल्प बड़ा श्रेष्ठ रहता है।

प्रातः ६ बजे और रात्रि को ६ बजे--१-१ रत्ती सिद्ध मकरध्वज, २ २ रत्ती चित्रक छाल मिला कर फांके। ऊपर से गौ का, गरम करके ठण्डा किया हुआ दूध, मिश्री मिला कर पीवें।

दोपहर को --१ या २ बजे --१-१ रत्ती स्वर्ण पर्पटी या विजय पर्पटी शहद में चाटें।

पथ्य में-प्रथम दिन ५ आम प्रात काल ६ बजे ही चूसले। आम चूसता जाय और सेंधा नमक, काली मिर्च, काला जीरा (तीनों को पहिले ही पीस कर रखलें) चाटता जाय।

इसी तरह सायङ्काल के ६ बजे ५ आम चूसे। मध्य में भूख लगने पर दूध-चावल लेना चाहिये। दूसरे दिन आम ७-७, तीसरे दिन १०-१०, इस प्रकार क्रमशः बढ़ाता रहे और दूध भी बढ़ाता रहे।

नोट—आम उत्तम पके हुये पाल के लेने चाहिये, जिसका छिलका हरे रङ्ग का न हो पीला हो, तथा रस मीठा और पतला हो, ऐसे आम लेने चाहिये ।

"कल्प नम्बर ३"

यह कल्प सरल है और प्राय: हर ऋतु में किया जा सकता है, किंतु यह अनुकूल ऋतु में विशेष लाभप्रद होता है ।

प्रात: और सायं—४-४ चावल मृगांक पोटली रस, काली मिर्च, धुली भांग मिला कर मधु के साथ चटावें ।

६ बजे और ३ बजे—४-४ रत्ती ग्रहणीरिपु फका कर ऊपर से गौ का पाव भर तक्र-सैंधा नमक, काली मिर्च, भुना जीरा और चित्रक छाल डाल कर पिलावें ।

नोट-गृहणीरिपु की मात्रा प्रथम ४ रत्ती ही दें पश्चात् क्रमश: १-१ रत्ती बढ़ा कर १ माशे तक कर सकते हैं ।

भोजनोपरांत—लवण भास्कर ३ माशे, भांग धुली १ रत्ती मिला कर तक्र के साथ फकावें ।

रात्रि को-स्वर्ण पर्पटी १ रत्ती शहद या शर्बत अनार में चटावें ।

तक्र सदैव-सैंधा नमक, काली मिर्च, भुना जीरा और चित्रक छाल डालकर दें ।

पथ्य में-मसूड़ की दाल और गेहूं की रोटी दें । तक्र क्रमश: दूध की तरह दो-दो छटांक रोज के हिसाब से बढ़ाता रहे । जब तक्र यथेष्ट हो जाय रोगी की भोजन से रुचि कम रहे, तब प्रथम एक समय का भोजन बन्द करके पश्चात् दूसरे समय का भी भोजन और जल बन्द कर दे । जब अन्न-जल बन्द हो जांय तब जब-जब भूख या प्यास लगे तक्र ही दें । प्रथम १॥ माशे लवण भास्कर फका ऊपर से तक्र पिलावें । जब रोगी रोग मुक्त हो जाय तब ही पथ्य दें ।

संग्रहणी और उसकी

स्वानुभूत चिकित्सा

लेखक—वैद्यराज श्री० घनश्याम जी वैद्य शास्त्री नूरपुर (कांगड़ा)

संग्रहणी रोग की वास्तविक चिकित्सा करने के लिये सर्वप्रथम ग्रहणी कला की वास्तविक स्थिति को समझ लेना अत्यावश्यक है।

ग्रहणी की स्थिति—

षष्ठी पित्तधरानाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था, ग्रहणीत्यभिधीयते ॥ सु० ॥

सुश्रुतीय इस वर्णन के आधार पर ग्रहणी का स्थान आमाशय और पक्वाशय के मध्य का स्थान है। निःसन्देह ग्रहणी का यही स्थान ठीक है। अष्टांगसंग्रह कार ग्रहणी के सम्बन्ध में एक रुचिर वर्णन इस प्रकार करते हैं।

यथा—'षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था। सा ह्यन्तरग्ने रधिष्ठानतयामाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयति, पचति पक्वं च विमुञ्चति। दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव। ततोऽसाव न्नस्य ग्रहणाद पुनर्ग्रहणी सञ्ज्ञा। बल च तस्याः पित्तमेवाग्न्यभिधानत साग्निनोऽरस्तत्थोपवृ हितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति'।

इस वर्णन में ग्रहणी की स्थिति, उसकी बलवत्ता और निर्बलता; भुक्त आहार का पाचन, शोषण, और विमोचन का भी विस्तार विद्यमान है। भुक्त आहार के ग्रहण (पाचनार्थ) के कारण से ही इसका

नामकरण भी उल्लिखित है। इस ग्रहणी की कार्यकर शक्ति का मूल-कारण पित्त माना गया है।

उपर्युक्त विवेचन पढ़ने के अनन्तर इस पर कुछ सामयिक विचार करना भी उचित प्रतीत होता है।

आंत्र का जो भाग आमाशय के अधोभाग से आरम्भ होकर क्षुद्रान्त्र से मिलता है, उसी भाग को ग्रहणी के नाम से कहा गया है। इसी नलिका के भीतर अष्टांगसंग्रहोक्त पचन, शोषण और विमोचनादि क्रियाएं निष्पन्न होती हैं। इसी नाड़ी के अन्तः भाग में अवस्थित ग्रहणी कला के स्तर के अंकुरों द्वारा उपर्युक्त तीनों क्रियायें होती हैं। इस विवेचन से इस स्थल तक पहुँचना भ्रान्ति रहित हो जाता है कि—पित्तधरा कला (ग्रहणी) की मर्यादा आमाशय से लेकर पक्वाशय तक होती है।

एतदर्थ ही भगवान धन्वन्तरि कहते हैं कि—

"षष्ठीपित्तधरानाम या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्तमामाशयात्प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति"।

अर्थात्-पित्तधरा नाम वाली छटी कला है, जो आमाशय से प्रच्युत होकर पक्वाशय की ओर आने वाले उपभुक्त चारों प्रकार के (अशित, खादित, पीत और लीढ़) अन्न-पान को धारण करती है।

जब तक अन्न धारण की यह शक्ति ग्रहणी कला में रहती है, तब तक इसकी विकृति या संग्रहणी रोग नहीं होता। जब अनेकविध मिथ्याहार-विहारादि के कारण से ग्रहणीकला की शक्ति नष्ट हो जाती

है, तब इसमें विमोचन क्रिया बढ़ जाती है। इस विमोचन क्रिया वृद्धि को संग्रहणी कहते हैं।

ग्रहणी के कार्यों की विवेचना

१-बलेन विधार्य—

यानी दृढ़ता से अन्न का धारण करना। यह कार्य तब ही हो सकता है, जब ग्रहणीकला स्वस्थ हो और स्वस्थ पाचक रसों को उत्पन्न करने में क्षमता रखती हो अन्यथा 'दौर्बल्यादाममेव विमुञ्चति' दुर्बल होने से खादित, पीत, लीढ और अशित चतुर्विध भुक्त आहार को कच्चा ही छोड़ देती है, यदुक्तम् 'सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति' अतएव अन्न को धारण करने से ही उसका पचन और शोषण हो सकता है। जिस अवस्था में अन्न-पान धारण करने की क्षमता नष्ट हो जाती है तब ही इसकी विकृति को संग्रहणी के नाम से पुकारा जाता है।

२—पित्ततेजसा शोषयति पचति—

पित्त अग्निस्वरूप होने के कारण अपने तेज प्रभाव से आहार्य द्रव्यों के कणों को अनेक अणुयौगिकों में विभक्त करके जरण या पचन योग्य बना देता है। जब भुक्त द्रव्य छोटे २ यौगिकों में विश्लेषित होता है, तब उसका शोषण आन्त्र की दीवाल के श्लैष्मिकस्तर से होता है। यद्यपि यह कार्य सम्पूर्ण रूप से इसी स्थान पर पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। रसाकर्षण का पूर्ण कार्य क्षुद्रान्त्र में सम्पादित होता है। परन्तु आद्यारम्भ यहीं से आरम्भ हो जाता है। इस स्थान से आगे चल-कर भुक्त आहार के वह कण, जो अनेक अणुयौगिकोंमें विभक्त हो चुके

हैं, इस योग्य बन जाते हैं. जो क्षुद्रान्त्र में शोषित हो सकें। इसलिये शोषण और पचन निर्देश ग्रहणी से ही आरम्भ कर दिया गया है।

३—पक्व च विमुञ्चति—

इस स्थान में निर्गत होने वाले आहारीय द्रव्यों के कणों में जब इस स्थान में प्राप्त होने वाले पाचक रस का पूर्ण संमिश्रण वहां हो लेता है, तब आन्त्र गति के कारण स्वतः ही तरल रूप पदार्थ आगे को प्रस्थान करता है। इस क्रियापूर्ति के कारण से ही 'पक्व च विमुञ्चति' कहा है। चिकित्साकी सुविधाके लिये इस रोगको त्रिधा विभक्त करते हैं।

प्रथमावस्था अथवा आमावस्था—

इस अवस्था में भुक्त द्रव्य अपक्व ही गुदमार्ग से बाहर निकल जाता है। कारण कि ग्रहणीकला से उत्पन्न होने वाले पाचक रस बलवान नहीं होते। आंत की धारण शक्ति भी शिथिल हो जाती है। गतियों में वृद्धि होती है। इसी के परिणाम स्वरूप भोजन करने के तत्काल बाद ही शौच जाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था के ग्रहणी रोगी का भुक्त आहार देर से पचता है। हृल्लास, छर्दि, अरुचि, जिह्वा की मललिप्तता, मुख माधुर्य, दग्धोद्गार बाहुल्य, उदर-स्तैमित्य, अङ्गसाद आदि होते हैं।

मल परीक्षा—

आमावस्था में मल परीक्षा से मल आमंमिश्रित, अपक्व, शिथिल, गुरु और जल में डूबने वाला होता है। यह मल पिच्छिल और शीत होता है। इस अवस्था के रोगी में यह लक्षण विशेष रूप से होता है

कि उसके अंग अकृश होते हुए भी अत्यधिक दुर्बलता का अनुभव करते हैं। कारण कि रस धातु की क्षीणता से रक्त निर्माण में व्याघात होता रहता है।

चिकित्सा-

पाठकवृन्द! आमावस्था में आपने देखा है कि ग्रहणी से प्रस्तुत होने वाले पाचक रस इतने दुर्बल होते हैं कि उनके द्वारा भुक्त आहार के कण इस इस योग्य ही नहीं बनते कि वह उत्तम रस के रूप में परिणत हों और उसका आचूषण हो सके। इस अवस्था की सर्व प्रथम चिकित्सा पाचक रसों को बलिष्ट बनाना है। एतदर्थ भगवान चरक कहते हैं—

> आमलिङ्गान्वितं ज्ञात्वा, सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्।
> फलानां वा कषायेण, पिप्पली सर्षपैस्तथा॥

अर्थात्-आमलिङ्गान्वित सग्रहणी में-सुखोष्ण जल में, अथवा मैनफल के क्वाथ अथवा मदनफल के क्वाथ में पिप्पली और सर्षप कल्क प्रक्षेप रूप में डालकर पहिले वमन करावे।

आमावस्था में अत्यन्त हितकर, सर्व प्रथम प्रयुक्त होने वाला यह चिकित्साक्रम परमावश्यक है। इस क्रिया के बिना आमाशय का शोधन नहीं होता और जबतक आमाशय शुद्ध नहीं होता तबतक उसके भीतर से आहार में मिलने वाले पाचक रस विशुद्ध और बलिष्ठ नहीं होते। आप हजार बल प्रयोग करें, विधि त्याग करके प्रयुक्त होने वाली चिकित्सा कभी भी रोग के मूल कारण को नष्ट नहीं कर सकती। यह आद्य उपक्रम रोग के मूल पर कुठाराघात है। उपर्युक्त चिकित्सा क्रम आरम्भिक अवस्था का है। यदि आम दोष पक्काशय में लीन हों तो—

लीनं पक्वाशयस्थं वाऽप्यामं स्राव्यं सदीपनैः ।
शरीरानुगते सामे रसे लघन पाचनम् ॥ चरक० ।

अर्थात् यदि आम पक्वाशय में लीन हो तब दीपन द्रव्यों से युक्त विरेचन देकर आम दोष का स्रावण करना चाहिये ।

जब कोष्ठ आमदोष से रहित हो तो आम के पुनरोद्गम रोकने के लिए निम्नलिखित योगों में से किसी एक का व्यवहार करें ।

१४१—कपर्दभस्म ४ तोला, शु० गंधक २ तोला और मरिच २ तोला मिलाकर चूर्ण बनालें ।

मात्रा—१—१॥ माशा । अनुपान पञ्चकोल क्वाथ १ पल ।

गुण—

इसके २ सप्ताह के प्रयोग से अन्नभक्षण में पूर्वापेक्षा अधिक रुचि उत्पन्न होती है । मुख स्राव, उदर-स्तैमित्य नष्ट होता है । पाचक रसों में बलवत्ता आती है । आमरसोत्पत्ति तथा आमसंचय नहीं होता । ऐसा होने से अकस्मात् स्वतः ही शान्त हो जाता है ।

दूसरा योग—

१४२—चित्रक चूर्ण　　लवंग　　अर्कपुष्प चूर्ण　　यवक्षार
—प्रत्येक समभाग

उत्तम रजत भस्म　　६ माशा　　कपर्द भस्म　　२ तोला

निर्माण विधि—

पत्थर के स्वच्छ खरल में उपर्युक्त चीजों को डालकर चित्रक पत्र स्वरस की ७ भावना देकर शुष्क कर ले ।

मात्रा—४ से ८ रत्ती ।　　अनुपान—उष्णोदक ।

गुण—पक्वाशय में उत्पन्न होने वाले पाचक रसों के पाचक अंश की

वृद्धि करता है एवं आध्मान को नष्ट करता है। संग्रहणी की प्रथमावस्था में हम प्रायः इन्हीं योगों का प्रयोग करते हैं। इनसे पूर्ण लाभ होता है। परन्तु चिकित्सा साफल्यार्थ सर्व प्रथम रोगी को आवश्यकतानुसार वमन और विरेचन उपर्युक्त विधि से अवश्य करा लेने चाहिये।

शास्त्रीय योग—

वैश्वानरी वटी, रसरत्न समुच्चय, ताम्रामृताख्य रसायन, वङ्गसेनोक्त, राक्षस रस, रसरत्नसमुच्चयोक्त, शखादि चूर्ण, भैषज्य रत्नावल्युक्त भी प्रदर्शित मात्रा और अनुपान के द्वारा दिये जा सकते हैं।

जिस रोगी को प्रकृति से ही मन्दाग्नि प्राप्त हो और दुर्भाग्य से यदि वह संग्रहणी का शिकार हो जाए, ऐसी अवस्था में रोगी और चिकित्सक दोनों को ही निराशा का सामना करना पड़ता है। ऐसे रोगी के पाचक संस्थान जन्म से ही इतने दुर्बल होते हे कि उन्हें साधारण चिकित्सा क्रम से आराम नहीं होता। ऐसे रोगियों के लिये अत्यन्त गुप्त और चमत्कार करने वाला योग नीचे लिखा जाता है। यद्यपि इसकी पथ्य चर्या कठिन है, परन्तु यह कठिनता भविष्य जीवन को निरापद और सुखमय बना देती है। जिन चिकित्सकों के पास संग्रहणी के रोगी आते हों उन्हें एक बार इस निम्नोक्त योग को अवश्य प्रयुक्त करके देखना चाहिये।

गुप्त योग—

१४३—विशुद्ध और कृष्णप्रभ वत्सनाभ जायफल चूर्ण १-१ छटाक
शुद्ध धत्तूर बीज ३ माशा

निर्माण विधि—सर्व प्रथम पत्थर के स्वच्छ खरल में चूर्णीभूत वत्सनाभ और धत्तूर बीजों को डालकर जल के साथ निरन्तर १ सप्ताह तक मर्दन करें। मर्दन करते हुये जब फेनोद्गम हो तब जायफल का चूर्ण डालकर पुनः एक दृढ मर्दन करके, चणक परिमित (२ रत्ती) की गोलियां बना लेवें।

मात्रा—१-१ गोली प्रातः-सायं ।　　अनुपान—धारोष्ण गौ दुग्ध २ तोले में गोली को घिसकर पिला देवे । पुनः जब क्षुधा हो तब धारोष्ण गौ दुग्ध देवे । दुग्ध थोड़ा २ देना चाहिये । जब २ भूख लगे तब २ आधा या चौथाई गिलास दुग्ध का दिया जा सकता है ।

इसके कुछ दिन सेवन के पश्चात् क्षुधा की वृद्धि अधिकाधिक होती जाती है । ऐसी अवस्था में दुग्ध की वृद्धि करते जाना चाहिये । भाग्यशाली रोगी इसके द्वारा १०-१० सेर दुग्ध अहोरात्र में पचा लेता है ।

पथ्य—इस योग के अनुष्ठान में रोगी को सिवाय दुग्ध के और कोई खाद्य या पेय पदार्थ नहीं दिया जाता । जल का सर्वथा निषेध है । स्नान भी १०-१२ दिन के पश्चात् साधारण सा करना पड़ता है । इस प्रकार इस औषध का तीन मास तक पूर्ण प्रयोग होता है । तीन मासका पूर्ण अनुष्ठान होने पर संग्रहणीकी तो बात ही क्या, अनेक वर्षों तक और भी कोई रोग पैदा नहीं होता ।

आमावस्था की पथ्यचर्या—

संग्रहणी की प्रथमावस्था में रोगी और चिकित्सक प्रायः उपेक्षावृत्ति में रहते हैं, कारण कि रोग साधारण समझा जाता है; परन्तु पूर्ण सफलता के लिये यह धारणा मांगलिक नहीं । उपर्युक्त विवेचन से इस स्थल तक पहुँचना कठिन नहीं कि इस अवस्था में आम रसोत्पत्ति अधिक और पाचक रसों का नैर्बल्य मुख्य होता है । इन दोनों की वृद्धि रुचिरहित भोजन से होती रहती है । एतदर्थ इस अवस्था में भोजन का परित्याग आशातीत फल प्रदान करता है । यदि रोगी इस व्यवस्था पर न रह सके तो मुद्ग या मसूर की पतली यूष उसे दिनमें एक-दो बार देनी चाहिये । ऐसी पथ्य चर्या के साथ उपर्युक्त चिकित्सा द्वारा रोगी का सन्देह रहित सत्वर कल्याण होता है; अन्यथा द्वितीयावस्था आरम्भ होजाती है ।

संग्रहणी की दूसरी अवस्था–

इस अवस्था का प्रधान लक्षण 'पक्वं वा सरुज पूति' गुदामार्ग से पतित होने वाला मल परिपक्व और पीडा के साथ विसर्जित होता है। इसका कारण यह होता है कि इस अवस्था में ग्रहणी कला के स्तरांकुरों द्वारा उत्पन्न होने वाला पाचक रस अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है जिसके कारण आन्त्र की गति बढ़ जाती है और उसके द्वारा भुक्त द्रव्य त्वरित गति से बाहर निकल जाता है। इसमें पित्ताधिक्य के लक्षण होते हैं।

मल परीक्षा—

इस अवस्था में जो मल पतित होता है उसकी आभा नील और पीत होती है। इसमें क्षारांश अधिक होने के कारण पृथ्वी पर पडा हुआ मल फूल जाता है। इसमें दुर्गन्ध अधिक होती है। मल पतला होता है। इसका रोगी दाह, तृष्णा तथा बेचैनी का अधिक अनुभव करता है।

दूसरी अवस्था की चिकित्सा–

संग्रहणी की प्रथमावस्था परम सुखसाध्य है, पर दूसरी अवस्था परम कष्ट साध्य है। पूर्वावस्था की अपेक्षा इसमें चिकित्सा का सूत्रपात ही बदल जाता है, कारण कि पूर्वावस्था में ग्रहणीकला के स्तरांकुरों द्वारा निर्बल पाचक रस उत्पन्न होते हैं और आम रस की उत्पत्ति और सञ्चय अव्याहत रूप से चालू रहते हैं, परन्तु इसमें अवस्था सर्वथा विपरीत होती है अर्थात् पाचक रस तीक्ष्णता लिये हुये अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। पूर्वावस्था में चिकित्सा का ध्येय संशोधन और अग्निवर्धन और आम रस पाचन की ओर होता है; परन्तु इसमें शमन, तीक्ष्णताहरण, शोषण, ग्राही वा स्तम्भन की ओर होता है अतएव पूर्वावस्था की कोई चिकित्सा यहां न करनी चाहिये।

इस अवस्था के रोगी की चिकित्सा का सौभाग्य प्राप्त होने पर सर्वप्रथम उसे आमलकी स्वरस २ तोला, शर्करा १ तोला के साथ मुक्तापिष्टि एक

रत्ती प्रातः ही चटा देनी चाहिये। ऐसे ही सायंकाल में। इस योग के ७-८ दिन के प्रयोगसे दाह, तृषा, विषम और बेचैनी की शांति हो जाती है। रोगी की श्रद्धा भी चिकित्सक के प्रति गाढ़ हो जाती है। आहार [illegible] ग्रीष्म काल में कोमल पद्मिनी पत्र एवं कोमल कदली-पत्र भी लिए जा सकते हैं।

अथवा—

१४४-रस पर्पटी २ रत्ती, मजीरम चूर्ण २ रत्ती

मोचरसावलेह १ छटांक

निर्माण-विधि—मोचरस ऽ= को काष्ठ कणों से रहित करके पीस कर वस्त्रपूत चूर्ण कर लेवे। इस चूर्ण को स्वच्छ कलईदार बर्तन में अष्ट-गुण जल मे पकावे। जब पकते २ लेही सा हो जाय तब उतार कर रख लेवें। फिर शीत होने पर इसमें १ छटांक मिश्री बारीक पीस कर मिला दें। बस, मोचरसावलेह तैयार है। उपर्युक्त मात्रा मे प्रातः-सायं दिया करें।

गुण—इसके एक सप्ताह के प्रयोग से आंत्ररसोत्पत्ति की अधिकता और तीक्ष्णता, जो वैकारिक होती है, प्रशांत हो जायगी। इसके अनन्तर निम्न-लिखित योग का प्रयोग करने से व्याधि शांति हो जाती है।

१४५-पाठामूल चूर्ण २ छटांक काकजङ्घा चूर्ण छटांक

निम्ब बीज मज्जा चूर्ण २॥ तोला

महानिम्ब बीज मज्जा चूर्ण २॥ तोला

विधि—इस योग में काकजङ्घा पूर्ण परिपक्व और सपञ्चांग लेनी है। इसी काकजङ्घा के पुष्प स्थान के भीतर एक कीट होता है। जिसमें यह कीट हो वही ग्राह्य है एवं प्रथम दोनों बीजों की मज्जा को अत्यन्त सूक्ष्म पीस लेना चाहिये, फिर अवशिष्ट चूर्ण डाल कर १ दिन दृढ़ मर्दन करके स्वच्छ और शुष्क शीशी में भर लेवे।

मात्रा—इसकी पूर्ण मात्रा ६ माशा है परन्तु आद्यारम्भ ३ माशे से करना चाहिये, फिर शनैः-शनैः बढ़ा कर ६ माशा तक ले जानी चाहिये।
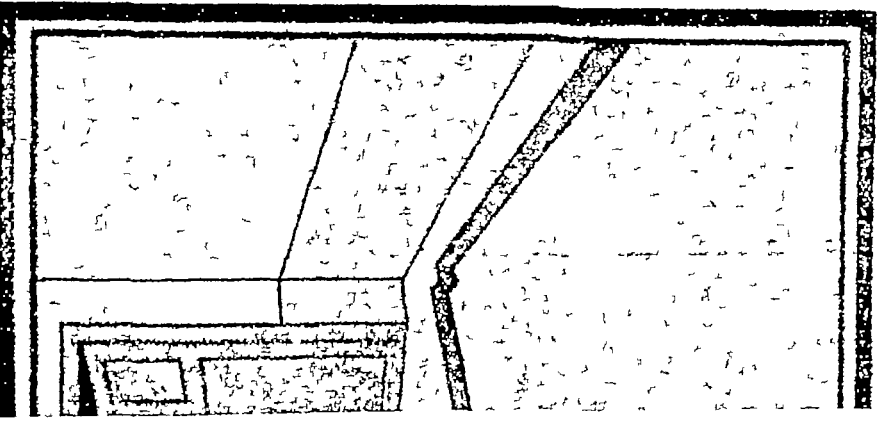
यकृद्दाल्युदर

मंदज्वराग्निः कफपित्तलिंगैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।
सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रदुष्टे, ज्ञेय यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥

रोगी में हलका बुखार, मन्दाग्नि, कफ और पित्त के अधिक लक्षण हैं। अत्यन्त कमजोरीके साथ बहुत पीलापन पाया जाता है और रोगी का जिगरभी बढ़ गया है।
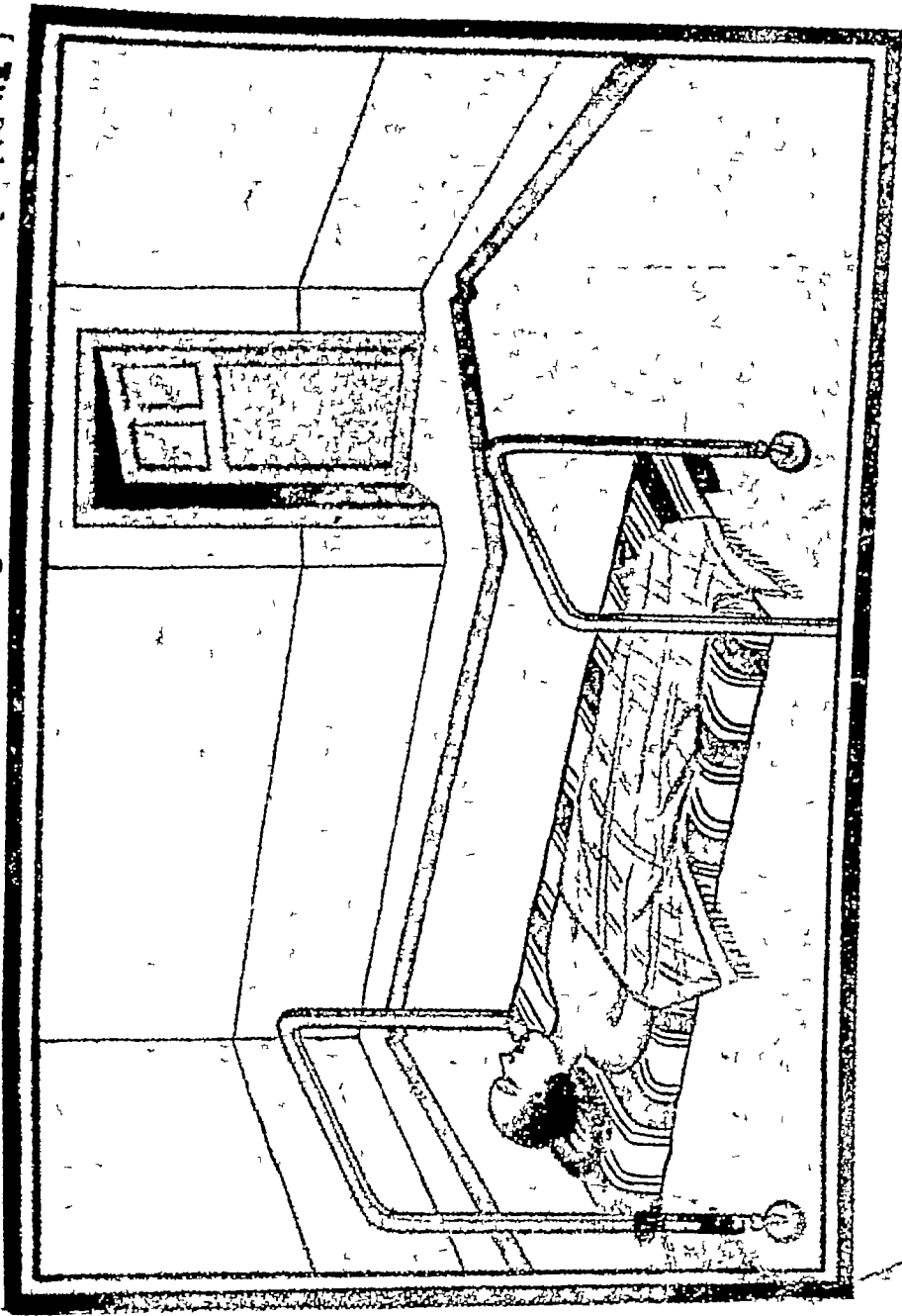
समय–प्रातः और सायं।

अनुपान–साठी के विना टूटे तण्डुल ५ तोला, जल १० तोला। दोनों को ४ घण्टा भिगोने के बाद हाथ से मसल कर चावलों के ऊपर के जल को निथार लेवे। इस तण्डुलोदक के द्वारा उक्त एक मात्रा औषध को चटनी जैसी पीस कर पिलावे ऊपर से अवशिष्ट तण्डुलोदक का पिला वे। शाम का भी ऐसे ही दे।

तण्डुलोदकार्थ जो तण्डुल बाजारू लिए जाते है वे इतने उपयोगी नहीं होते। कारण कि धान्य में से तण्डुल प्राप्त करने वाले इस बात का ध्यान ही नहीं रखते कि इन्हें कितनी मात्रा में कूटना है? अधिक धवलता के लिए अधिक कूटने से चावलों के ऊपर का आवरण, जिसमें आज का विज्ञान भी विटेमिन को मानता है, नष्ट कर देते हैं। पर यही जीवन द्रव्य आंतों के क्षोभ, प्रदाह, शोथ और आन्त्रशक्ति की क्षीणता को नष्ट करता है, एतदर्थ यहां तण्डुलोदक के प्रयोग का महत्व है। हम अपने यहां इस विधि से ही प्रयोग करते हैं।

धान्यों को एक काष्ट पट्ट पर फैला कर ऊपर से काष्ठ खण्ड या डिब्बा से रगड देते हैं। इससे छिलका पृथक् हो जाता है और भीतर से अक्षत तण्डुल चमकीला बाह्य–दर्शन वाला निकल आता है। चिकित्सक इसी विधि का अवलम्बन करें तो अधिक लाभ में रहेंगे। संग्रहणी के दीर्घ रोगियों को ४० दिन तक इसका सेवन करना चाहिये। विधि से प्रयुक्त हुआ यह दिव्य–योग ग्रहणीकला की विकृति के लिए अमोघास्त्र सिद्ध होगा।

शास्त्रीय योग—

नृपति वल्लभ, पीयूषवल्ली रस, महागंधक, स्वल्प ग्रहणी कपाट रस, वृ० ग्रहणी कपाट रस (भैषज्य-रत्नावल्युक्त) भी योग्य अनुपानों के साथ आवश्यकता पर प्रयुक्त किया जाता है।

पथ्य व्यवस्था—

संग्रहणी की दूसरी अवस्था के रोगी को पुरान का अधिक कष्ट नहीं होता। एतदर्थ इसे यूषादि पतले पदार्थ अल्प मात्रा में देने चाहिये। ऐसे रोगियों को हम एक विशेष प्रकार का पथ्य देते हैं। रोगी को जब भूख लगे, तब आध तोला उपर्युक्त विधि से प्राप्त मांडी के तण्डुल चावलों को मुख में डाल कर शनैः-शनैः चर्वण करके गले के नीचे उतारने चाहिये ताकि चर्वित तण्डुल, मुखस्थ लाला-ग्रंथियों के रस से तरल रूप में परिणत हों। इस प्रकार दिन में १ पल परिमित तण्डुल दिए जा सकते हैं। इस पथ्य से बड़ा लाभ होता है। अथवा केवल तक्र ही इच्छानुसार लवण या शर्करा मिलाकर थोड़ा २ अनेक बार भोजनार्थ दिया जाता है।

संग्रहणी के रोगियों के लिये सोमामृत—

आम्र कल्प—

संग्रहणी की दूसरी और तीसरी अवस्था में आम्र-कल्प निःसन्देह सोमामृत ही है। यह पथ्य और औषध दोनों का कार्य करता है। इस कल्प में पूर्ण परिपक्व आम्र व्यवहृत होते हैं। महाराजपुरी, लंगड़ा, बनारसी, सिन्दूरी अथवा दसहरी (लखनऊ का) आम्र प्रयुक्त करने चाहिये। अथवा वह देशी आम जो नाम मात्र के लिए भी अम्लता नहीं रखते प्रयुक्त हो सकते हैं। खट्टे आमों से लाभ के स्थान पर हानि होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। आधारम्भ में २ ऐसे परिपक्व आम लें जिनकी तौल आध सेर हो। इन्हें रात्री को अत्यन्त शीतल जल में भिगोदें। दूसरे दिन जब रोगी को भोजन की आवश्यकता का अनुभव हो तब आम को काट कर भली प्रकार चर्वण करके खावे और ऊपर से गुनगुना गो-दुग्ध १ पाव का पान करे। इसी तरह रात्रि के प्रथम प्रहर में भी करे। क्षुधा की वृद्धि के साथ २ आमों और दुग्ध की मात्रा भी बढ़ाते जाना चाहिये। इसके २० दिन के प्रयोग के पश्चात् आप स्वयं रोगी के मुख से इसके चमत्कारिक प्रभाव की गाथा

सुनेंगे। एक प्रयोग समाप्त करके दूसरा और तीसरा भी कराया जा सकता है। प्रयोगारम्भ से प्रथम रोगी को तोल लेना चाहिये और प्रयोग समाप्ति पर पुन. तोलने से तुला भी स्पष्ट कहेगी कि रोगी के भार में वृद्धि हुई है और यह वृद्धि स्वास्थ्य मूलक होगी।

संग्रहणी की तीसरी अवस्था-

संग्रहणी रोग होने पर उसकी प्रथम और द्वितीय अवस्था की उपेक्षा करने से यह तीसरी अवस्था प्राप्त होती है। रोगी का भाग्य और चिकित्सक की क्रिया कुशलता देखने और दिखाने की असली अवस्था यही है।

इस अवस्था में प्रधान लक्षण—मुहुर्बद्ध मुहुद्रवम्–गुदमार्ग से नि.सृत होने वाला मल कभी बन्धा हुआ और कभी पतला निकलता है।

मल परीक्षा से उसमें आंत्र की श्लेष्मिक कला के कण, श्लेष्मा, रक्ताभ अथवा रक्त मिश्रित मल पतित होता है। अन्न रस की अधिकता से मल पतला और आंत्ररसाल्पता के कारण मल कुछ गाढ़ा सा निकलता है।

साधारणतया इस अवस्था के रोगी को, यदि वह कुछ सबल हो तो प्रारम्भ में कभी-कभी ज्वर होता है, रोग पूर्ण वृद्धि पर हो और रोगी निर्बल हो तो, ज्वर नित्य का साथी बन जाता है। ज्वर का तापमान मन्द ही होता है, कारण कि इस अवस्था में पाचक रसोत्पादक यन्त्र, आन्तें और श्लेष्मिककला शोथ ग्रस्त होते हैं। शोथ के कारण श्लेष्मिक कला में क्षत हो जाते हैं. जिनके द्वारा रक्त-स्राव होता है। ऐसे लक्षणों की उपस्थिति में आन्त्र क्षय के निदान तक पहुँचना पड़ता है। कभी २ रोगी के शरीर में शोथ भी हो जाता है।

तीसरी अवस्था की चिकित्सा-

इस अवस्था के रोगी को जब तक ज्वरागमन नहीं होता तब तक स्वास्थ्य लाभ की बड़ी आशा होती है। ज्वरारम्भ होने के पश्चात

सुचिकित्सा और महाभाग्य से ५० प्रतिशत रोगी पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करते हैं। सशोथ अथवा शोथ रहित इस अवस्था के रोगी को 'दुग्ध-वटी' भैषज्यरत्नावली की देनी चाहिये।

मात्रा—आधी रत्ती से १ रत्ती तक। अनुपान—दुग्ध। पथ्य—दुग्ध।

शेष समस्त पदार्थ त्याज्य हैं। इसका २ सप्ताह सेवन करने पर यदि जीवन के दिन शेष हैं तो—विरेचन, ज्वर, शोथ, तीनों घट जाते हैं। इसके पश्चात् रोगी को स्वर्णपर्पटी अथवा पञ्चामृत पर्पटी का अनुष्ठान विधि से सेवन कराना चाहिये। पर्पटीसेवन के साथ रसेन्द्र-सारोक्त, महाराज नृपतिवल्लभरस, जिसमें स्वर्ण के साथ २ विडलवण भी है, उसकी दो-दो वा चार-चार गोलियां प्रतिदिन मुखमें रखकर चूसनी चाहिये। द्वितीया और तृतीयावस्था के लिये यह उत्तम रस है। इसकी उत्तरावस्था में संग्रहणीकपाट (भै० र०) एवं यक्ष्माधिकारोक्त चिकित्सा करके देख लेना चाहिये। जीवन शेष होने पर कोई न कोई औषध लाभ कर ही देती है।

संग्रहणी और अरलु

लेo—श्री० दलजीतसिंह जी, आयुर्वेदीय विश्वकोषकार, चुनार

अरलु शब्द से मेरा अभिप्राय उस वृक्ष से है जिसे देश में अड़ूशा, अर्रा, महारूख कहते हैं। यह वृक्ष संग्रहणी रोग निवारण के लिये एक ईश्वरीय देन है। संग्रहणी रोग में जब सभी उपाय व्यर्थ होजाते हैं, तब इसके यथा विधि उपयोग करने से अवश्य उपकार होता है। मेरे एक मित्र इसे पेटेण्ट करके काफी विक्रय कर रहे हैं और वे इसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। प्रयोग निम्न लिखित है—

उक्त वृक्ष की सूखी छाल को पीस छान कर बारीक चूर्ण करके थोड़े पानी से नम करके शहद मिलाकर १—१ तोले की टिकिया बना लेवें। इसमें से १-१ टिकिया प्रातः सायंकाल दूध के साथ सेवन करें। प्रारंभ में इससे दस्तादि कुछ बढ़ते हुये प्रतीत होंगे। इसके उपरांत वे स्वयं कम होने लगेंगे। इसी प्रकार १५-२० दिवस के सेवन से संग्रहणी रोग का समूल नाश होगा। संग्रहणी रोग मे जिस प्रकार के पथ्यादि का विधान है, उसे काम में लावें। यह देखनेमें तो एक मामूली सा प्रयोग है। परन्तु बड़े-बड़े खर्चीले योग इसके मुकाबिले में तुच्छ सिद्ध होंगे। विशेष प्रशंसा करना व्यर्थ है। हाथ कंगन को आरसी क्या? प्रयोग आपके सन्मुख है, उपयोग कर देखें और लाभ से वंचित न रहें।

संग्रहणी SPRUE

ले० श्री० अशोककुमारजी आयुर्वेदालंकार, अबोहरमंडी (पंजाब)

मानवीय व्याधिविज्ञान के निर्माण के प्रारम्भ में जिन्होंने भिन्न २ लक्षणों को देख कर इस महाव्याधि का नाम संग्रहणी रखा, वे सचमुच बहुत बुद्धिमान रहे होंगे यह संसार की उन भीषण बीमारियों में से है, जो प्रज्ञापराधवशात् जिसको ग्रहण (पकड़ना) कर लेती है, उसका दामन बहुत कठिनता से छोड़ती है या उसको मजबूती से संग्रहण (पकड़ना) किये रहती है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसका नामकरण क्यों न किसी स्थानविशेष की व्याधि के कारण किया गया हो, लेकिन इसके एक २ शब्द में जो विभीषिका एवं भीषणता या कठोरता भरी हुई है इसे वे ही अनुभव कर सकते हैं, जो या तो इस रोग के शिकार हुए हों, या जिन्हें ऐसे निराश रोगियों का इलाज करने का अवसर मिला हो।

वैज्ञानिक दृष्टि से आमाशय के निम्नभाग वा क्षुद्रांत्र के ऊर्ध्वभाग की श्लेष्मकला में चिरस्थाई शोथ हो जाने से पचन मंद हो जाता है। विशेषतया निशास्ता या शर्करा आदि का पचन अधिक मंद हो जाता है। इनमें विदाह होता रहता है और विदाहजन्य गैस के आंतों में एकत्रित हो जाने से कुछ भारीपन वा आध्मान रहता है। इस प्रकार पचन की मंदता के अतिरिक्त क्षुद्रांत्र में भोजन को विलीन करने की शक्ति भी मंद हो जाती है, जिससे शर्करा तथा वसा आदि

भोजन शरीर में आत्मीभूत नहीं हो पाते, अतः यह भोजन विदग्ध एवं अजीर्ण द्रव्य मल के रूप में नीचे खिसकता जाता है, जिससे बड़ी मात्रा मे गैस से युक्त व अपक्व वसा आदि से युक्त अधिक मल निकलता है। भोजन के जीर्ण न होने और भोजन रस के विलीन न होने से रोगी पांडुर, निर्बल व क्षीण हो जाता है। इस रोग को ग्रहणी या संग्रहणी कहते हैं।

क्षुद्रांत्र के आरम्भिक भाग में (ग्रहण्याशय) श्लेष्मकला मोटी वा सलवटदार होती है। इसमे पाचन ग्रंथियां, श्लेष्मग्रंथिया और रक्तवाहिनियां अधिक मात्रा में रहती हैं। इसमें रक्तवर्ण पैत्तिक शोथ हो जाय और उस कारण से छोटे २ उथले व्रण भी हो जावें तो उसे पैत्तिक ग्रहण्याशय शोथ कहते हैं। यदि इस श्लेष्मकला में लसीका अधिक भर जाए, इससे श्लेष्मस्राव अधिक होता हो, तो उसे श्लेष्मिकग्रहण्याशय शोथ कहते हैं। प्रायः कफ वा पित्त दोनों के प्रकोप से कफ पैत्तिक ग्रहण्याशय शोथ होता है, अर्थात् श्लेष्मिक शोथ विशेषतः और पाक के लक्षण अल्पता से होते है। यदि यह शोथ चिरकाल तक बनी रहे, तो श्लेष्मकला में क्षीणता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, अर्थात् वात प्रकोप के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। पाचनग्रथियां, श्लेष्मग्रंथियां सब क्षीण या नष्ट हो जाती है, मोटी श्लेष्मकला पतली पड़ जाती है, जिससे चिररोगी का ग्रहण्याशय मोटा न रह कर पतला पड़ जाता है। इनके साथ २ रोगी की जिव्हा में भी परिवर्तन होते हैं। पहिले जिव्हा-शोथ अर्थात् देखने में जिव्हा

मोटी वा लाल होती है और उस पर सूक्ष्म स्फोट भी हो जाते हैं। इनको देख कर ठीक ऐसा ही चित्र ग्रहण्याशय का समझ लेना चाहिये। गाल, ओष्ठ तथा जिव्हा की श्लेष्मग्रंथियां भी सूज जाती हैं। कभी २ पक भी जाती हैं। चिरकाल के बाद मुंह की श्लेष्मकला क्षीण होकर उसका सूक्ष्मतंतु झडने लगता है। मुंह में उस मृत सूक्ष्म तंतु पर फूई लग जाती है। जिव्हा के अङ्कुर मर जाते हैं। साधारणतया जिव्हा देखने में खुरदरी व सपाट नहीं होती है, पर रोगी की जिव्हा स्लेट की तरह सपाट रंग में भी पांडुर तथा आकार में पतली हो जाती है। जिव्हा जैसा ग्रहण्याशय भी होता है। आमाशय, अग्न्याशय व यकृत के रस भी यथावत् नहीं निकलते। इन स्थानिक परिवर्तनों के अतिरिक्त सारे शरीर में भी कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। शरीर में वसा कम हो जाती है। मांसपेशियां कृश, हृदय आकार में छोटा पड़ जाता है और जीभ, छोटी पतली हो जाती है। अन्यान्य अङ्ग भी पतले हो जाते हैं। घातक पांडु के समान इसके रक्ताणु (रक्तकण) कम हो जाते हैं। जिससे रक्तकण और रक्तरंजक द्रव्यका अनुपात ऊंचा होजाता है। रक्तमें कैल्शियम की मात्रा घट जातीहै। उदहरिकाम्ल अधिक बना रहता है।

कारण-

ग्रहणी रोग का कारण वही प्रतीत होता है- जो कि आमातिसार का है। चिरस्थायी आमातिसार हो जाय तो उसे ही ग्रहणी रोग मान सकते हैं अर्थात् भोजन जीर्ण नहीं होता और क्षुद्रांत्र शोथ

युक्त होने से भोजन-रस विलीन नहीं होता और आम-भोजन अधिक मात्रा तथा दुर्गन्धित मल के रूप में बाहर निकलता है, अतः चिरस्थायी अग्निमांद्य वा आन्त्र शोथ (अजीर्णांत) आदि के कारण ही इसके कारण बनते हैं। बार २ आमातिसार हो जाना, अग्नि का मन्द होना और निरन्तर अपथ्यकारी भोजन करना इसका कारण है। यदि शरीर में वायु का प्रकोप विशेष हो, अग्नि मन्द हो और रोगी रूक्ष, शीतगुण, वात प्रकोपक आहार करता रहे तो इसे वातिक ग्रहणी कहते हैं। पित्त-प्रकृति का शरीर हो, आंतों में पैत्तिक शोथ हो, तीक्ष्ण-उष्ण-गुण भोजन करता रहे तो इसे पैत्तिक ग्रहणी कह देते हैं। शरीर की प्रकृति श्लैष्मिक हो, रोगी अधिक गुरु, स्निग्ध आहार करता रहे जिसमें आंतों में कफ प्रकोप जन्य शोथ हो, आमातिसार बना रहे तो कफ प्रकोप जन्य शोथ कह सकते हैं। स्पष्ट है कि किसी रोगीको उष्ण, तीक्ष्ण आहार करने से, किसी को गुरु स्निग्ध खान-पान से और किसी को वात प्रकोपक आहार करने से यह रोग हो जाता है। संक्षेप में शरीर के अनुसार अपथ्य-भोजन का चिरकाल तक सेवन करना इसका कारण है।

यह रोग गर्म देशों में होता है अत. भारतवर्ष में बहुत अधिक है। २० वर्ष के नीचे कम होता है। जब ऋतु नमी से युक्त हो तब भी यह रोग अधिक होता है। सम्भवतः ऐसी ऋतु मे आंतों में विदाह विशेष होना है।

लक्षण-

यह रोग धीरे २ क्रमशः आरम्भ होता है। प्रारभ में अजीर्ण के

लक्षण हो जाते हैं और भोजन के विलीन न होने से शरीर में बलहीनता और कृशता के लक्षण प्रगट हो जाते हैं। भोजन के देर में पचने से कुछ हलका सा आध्मान, आलस्य और गुरुता प्रतीत होती है। कुछ काल बाद मल पतला हो जाता है और प्रातः काल १-२ बार अतिसार के वेग होते हैं। रोगी का विशेष लक्षण-उसे प्रातःकाल उठकर जल्दी से मल त्याग करने जाना पड़ता है। मल ढीला होता है और मात्रा में भोजन-द्रव्य से भी अधिक होता है। एकबार शौच जाने के दो-तीन घण्टे बाद दुबारा फिर जाना पड़ता है। सम्भवतः एक बार फिर जाना पड़ता हो, फिर दिन भर व रात भर आराम रहता है। इस प्रकार प्रति दिन ऐसा होता है। साधारण आदमी को जितना मल आता है इसकी अपेक्षा रोगी के मल की मात्रा कहीं अधिक होती है (दुगुनी या तिगुनी तक) इस मल में दुर्गन्ध विशेष होती है। प्रतिक्रिया अम्लीय होती है। यह अम्ल निशास्ते के विदग्ध होने से उत्पन्न होता है। झाग के बुलबुले होतेहैं, इसीसे यह फूला हुआ होता है। मल त्याग से रोगी को आराम रहता है। मल में चमकीलापन (स्निग्धता) अधिक होती है। रंग मटियाला या फीका होता है। कुछ स्निग्धतत्व घोलके कारण श्वेत होता है। रोगी की परीक्षा करने पर उसमें ७० या ८० प्रतिशत स्निग्ध तत्व मिलता है जबकि साधारणतः २० या २५ प्रतिशत से अधिक नहीं मिलता। गर्मी या वर्षा ऋतु में इसकी शिकायत बढ़ जाती है। साल भर रोगी पर्वाह नहीं करता जब कभी वह अधिक अपथ्य करता है तो कष्ट बढ़ जाता है अर्थात् मल के अधिक वेग आते हैं। अतिसार के अतिरिक्त इस रोगी

में जिह्वा शोथ के उपर्युक्त लक्षण होते हैं। रोगी देखने में कृश, दुर्बल व पाण्डुर होता है। त्वचा झुर्रीदार हो जाती है। नख भंगुर वा झुर्रीदार हो जाते हैं। रक्त के कम होने से रक्त भार घट जाता है। रोगी मुंह में छालों की शिकायत करता है। उसे गर्म भोजन अनुकूल नहीं पड़ते खांड के भोजन से अफारे की शिकायत रहती है। कोष्ठ की दीवार शिथिल दिखाई पड़ती है। रक्ताणुओं की संख्या घट जाती है। मूत्ररंजक द्रव्य के अधिक उत्पन्न होने से मूत्र गहरे रंग का होता है।

जब अजीर्ण का लक्षण विशेष हो, रोगी वा शरीर अभी कृश न हो। अतिसार विशेष न हो तो उसे श्लैष्मिक ग्रहणी रोग समझना चाहिये। यदि पिपासा, पित्ताजीर्ण, व पतले अतिसार की शिकायत हो और पाण्डुता के लक्षण हों तो उसे पैत्तिक ग्रहणी जाने। यदि सारे शरीर में वायु प्रकोप के लक्षण विशेष हों, रोगी दुर्बल, कृश हो, विशेष पतले अतिसार के वेग न हों, थोड़ा भोजन भी जीर्ण न हो और उसमें नाना प्रकार के अपथ्य, भोजनों की इच्छा विचित्र प्रबल सी हो जाए तो उसे वातिक-ग्रहणी समझना चाहिये।

इस रोग के बारे में एक विचित्र बात-सी हमारे देखने में आई है। बहुत से ऐसे व्यक्ति जिन्होंने स्वास्थ्यरक्षा सम्बन्धी किताबों का अध्ययन किया हुआ होता है और जो संग्रहणी के लक्षणों से थोड़ा-बहुत परिचित होते हैं, अपथ्य आहार-विहार से थोड़े दिन आमातिसार से ग्रस्त रहते हैं, अपने को संग्रहणी का शिकार समझने लगते हैं। ऐसे लोगों को उनकी वास्तविक स्थिति या बीमारी के बारे में विश्वास दिलाना बड़ा मुश्किल होता है।

भ्रम--

इस उपरोक्त भ्रम के अतिरिक्त जो ज्वर रोगी को उत्पन्न होता है, बहुत से नवीन चिकित्सक इसके निदान में गलती कर जाते हैं। इस रोग का भ्रम तीव्र घातक पाण्डु रोग, आमाशय का कैन्सर, क्षय रोग, क्षयातिसार तथा चिरस्थायी प्रवाहिका से सम्भव है। घातक पाण्डु का रक्त विशेष तरह का होता है, जिसमें इससे भेद किया जा सकता है। क्षय रोग में ज्वर होता है, इसमें नहीं होता इससे भेद कठिन नहीं है। चिरस्थायी प्रवाहिका रोग में आध्मान या अजीर्ण के लक्षण विशेष नहीं होने पर इसमें यही लक्षण विशेष होते हैं। आमाशय के दूषित कैंसर से भी सदा रहने वाली तीव्र वेदना, रक्त वमन आदि से भेद कर सकते हैं।

वैसे सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र तथा रक्त परीक्षा करने से क्रमश शर्करा तथा वसा का आधिक्य व रक्त में कैल्सियम आदि की कमी स्पष्ट प्रतीत होती है।

साध्यासाध्य--

नवीन एलोपैथी विज्ञान का यह विश्वास है कि यह सदा के लिये नहीं जाती है, लेकिन आयुर्वेदमतानुसार यदि रोगी ४० वर्ष से ऊपर की आयु का हो वायु प्रकोप के लक्षण विशेष हों, रोगी पथ्य से न रहता हो, उसी अवस्था में ही यह असाध्य होता है। पाण्डुरता वा निर्बलता के कारण या बीच में किसी अन्य व्याधि के उपद्रव से मृत्यु भी सम्भव है। परन्तु यदि रोगी युवावस्था में हो, वात-प्रकोप के लक्षण विशेष न हों, रोगी ५-६ मास पथ्य रख सकता हो और गर्म ऋतु वा गर्म प्रदेश को छोड़ कर रोगी ठण्डे प्रदेश में जाकर इलाज कराये तो आराम हो जाता है।

इसी रोग का एक और प्रकार है जो सब व्यक्तियों में नहीं पाया जाता। कुछ व्यक्तियों में ग्रहणी रोग की प्रवृत्ति तो होती है परन्तु जब तक वे ५,६००० फुट ऊंचे पर्वत पर न चले जाएं जहां कि वायु मण्डल की आर्द्रता विशेष

होती है तब तक उन्हें यह रोग नहीं होता, पर पर्वत पर जाते ही यह रोग शुरू होजाता है अर्थात् उन्हें प्रातः कालीन अतिसार होने लगते हैं। पर्वतों के ऊपर की वायु की आर्द्रता या विशेष तापमान का कोई ऐसा कारण होता है कि जिससे किसी-किसी वर्ष पर्वत पर गये हुए अनेक व्यक्तियों को यह रोग होजाता है। सर्दी की ऋतु में पर्वत पर जाने से यह रोग नहीं होता। जुलाई, अगस्त के महीनों में जब कि पहाड़ों का विशेष तापमान होता है, यह रोग अधिक होता है। सम्भवतः वहां की आर्द्रता व और कुछ शैत्य के कारण शरीर के पक्वाशय या पाचन सम्बन्धी अङ्गों में कोई निर्बलता या वात-प्रकोप उत्पन्न हो जाता है, जिससे पाचन ग्रंथियां पाचन-कार्य यथावत् नहीं कर पातीं और भोजन अजीर्ण रह कर विदग्ध हो जाता है। इस रोग में भी ग्रहणी के समान मटियाले श्वेत से रङ्ग के २-३ बार प्रातः कालीन अतिसार होजाते हैं। पर्वतों पर से नीचे आजाने पर रोग स्वतः शांत हो जाता है।

चिकित्सा—

यह रोग पथ्य साध्य है। बिना पथ्य के कभी अच्छा नहीं हो सकता। इसमें स्थिरकालीन लघु लंघन आवश्यक होता है। ऐसे लंघनों को 'कल्प' कहते हैं, इनके साथ कोई दीपक और आध्माननाशक व कृमि-नाशक औषधि देनी चाहिये। भोजनों में से दूध की चिकित्सा विशेष लाभदायक है। प्रत्येक दो घण्टे बाद थोड़ा २ दूध देना चाहिये जो कि दिनभरमें १॥ सेर से प्रारम्भकर ३-४ सेर तक पहुँचा देना चाहिये और इस प्रकार कम से कम १-२ मास तक करें। दुग्धकल्प के अतिरिक्त तक्र कल्प भी कराया जाता है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इसकी बड़ी प्रशंसा की गई है। लेकिन इसमें भी एक नियम का ख्याल रखना चाहिये। यदि आम कम हो तो दूध दें और आमाधिक्य मल में तक्र का प्रयोग

करना चाहिये। सामान्यतः यदि पाचन क्रम कुछ ठीक हो तो दुग्ध अन्यथा तक्र का प्रयोग कराया जाता है। पहिले बिना मलाई के तक्र में जीरा, काली मिर्च तथा सामान्य नमक डालकर और फिर मलाई समेत तक्र ?-२ घण्टे बाद दिया जाता है। इस तरह १।। सेर से २ सेर दही का मट्ठा बढ़ाकर कई सेर तक पहुँचा दिया जाता है। इसके अलावा फल कल्प भी कराया जाता है। जो फल विशेष खट्टे न हों, गूदेदार हों, जिनमें बीज या तन्तु न हों, दे सकते हैं। देशानुसार ऐसा जो भी फल मिले अर्थात् पतले मीठे गूद का आम (खट्टे आम हानिकारक होते हैं) पके हुये बिल्व का गूदा ये दिन में कई बार ले सकते हैं। केवल पपीते या खरबूजे पर भी रोगी को रखा जा सकता है।

औषध चिकित्सा के लिये रोगी की अवस्था तथा रोग की हालत देखकर चिकित्सा की जा सकती है। यदि सामान्य अवस्था है तब तो रोग शीघ्र साध्य हो जाता है, लेकिन यदि अवस्था बहुत बिगड़ी हुई हो तो रोगी को उपरोक्त तक्र, दुग्ध या फलकल्प के साथ २ पर्पटी का सेवन कराया जाता है। सामान्यतः दीपक और आन्त्र शोधक औषधियां प्रयुक्त करते हैं। चूर्णों में स लशुनाष्टक, कपित्थाष्टक, जातीफलादि, कर्पूरादि, शट्यादि, हिंग्वाष्टक, लवणभास्कर या लाई चूर्ण अवस्था के अनुसार दिये जा सकते हैं। श्लैष्मिक ग्रहणी में चूर्णों के साथ क्षार भी दें। भल्लातकादि क्षार, सुधाकाण्डादि क्षार, यवक्षार, सर्जक्षार, कुटज-क्षार, शंख, विस्मथ क्षार आदि का सेवन कराया जाता है। पित्त जन्य ग्रहणी रोग में शीत ग्राही औषधियों का प्रयोग रसांजनादि, पाठादि,

भूनिम्बादि चूर्ण का विशेष प्रयोग किया जाता है। तीव्र अवस्था में पर्पटी का कल्प बहुत फायदा करता है। इसके लिये रस पर्पटी, स्वर्ण-पर्पटी, पंचामृत पर्पटी, लोह पर्पटी या विजय पर्पटी आदि प्रयुक्त की जाती हैं। इनमें से रस पर्पटी पित्त प्रकोपक है अतः पैत्तिक प्रकोप में प्रयुक्त न करनी चाहिये। इन पर्पटियों को २ रत्तीकी मात्रा में लेते हैं। फिर एक-एक रत्ती की मात्रा में बढ़ाते हुए १० रत्ती तक पहुँच कर कुछ दिन इसी मात्रा में रह कर फिर घटाते जाते हैं। इस प्रकार ३०-४० दिन रखते हैं। कुछ चिकित्सक रोजाना १ रत्ती न बढ़ाकर २-३ दिन के अवकाश में बढ़ाते जाते हैं। जिसमें रोगी को सात्म्य होता जाता है। इसके साथ दूध या मट्ठे का प्रयोग करें तो गर्मी भी नहीं होती। पर्पटी सेवन में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये।

१—पर्पटी सेवन के २ घण्टे पश्चात् तक नमक का प्रयोग न करें, अन्यथा दृष्टिदौर्बल्य की शिकायत होने लगेगी।

२—इसके अधिक सेवन से (४ से ८ माशा) या अनियमित प्रयोग से पित्ताशय में पित्त अधिक बनने लगता है। आंतों की गति तीव्र हो जाती है। दस्त के वेग अधिक हो जाते हैं। इसके साथ शिरःशूल, दृष्टि दौर्बल्य, मन्दाग्नि आदि कष्ट भी होने लगते हैं। ऐसी अवस्था में रसोन-कल्प या मल्ल के योग प्रयुक्त करें।

३—कल्प की समाप्ति पर एक दम भोजन शुरू नहीं कर देना चाहिये, धीरे २ हलके भोजन से शुरू करके सामान्य हालत में आए।

४—सेवनकाल में रोगी सदा प्रसन्न, निश्चिन्त तथा कार्यशील रहे। चिकित्सक को इस बात का विशेष उपाय करना चाहिये।

रसगंधक वा कज्जली के बने अन्य योग भी पर्पटी के समान लाभदायक हैं। इनमें से महागंधक रसायन, अग्निकुमार रस, लोकनाथ रस, पीयूषवल्ली रस (रक्तातिसार युक्त ग्रहणी में) जातीफलादि, ग्रहणी-कपाट तथा ग्रहणी कपाट रस (आद्रक स्वरस या विल्वपत्र स्वरस) में प्रयुक्त कर सकते हैं। हिरण्यगर्भ पोटली, शम्बूकादि वटी का भी योग चिकित्सक अवस्था के अनुसार प्रयोग करते हैं।

पाण्डु हटाने के लिये लोह के योग दे सकते हैं। नहीं तो एलोपैथिक रीति के अनुसार Liver Extract का प्रयोग कर सकते हैं या ताजा यकृत ही खिला सकते हैं या सूचीवेध (Injection) के द्वारा Cam Ponne (6 C. C.) दे सकते हैं; प्रतिदिन २ सप्ताह तक। थोड़ी मात्रा में कैलशियमका प्रयोग भी इस रोग में वायुप्रकोप शांत करता है। इसके लिये कैलशियम लैकटेट दें परन्तु यह अधिक मात्रामें दिया हुआ आंतोंसे बाहिर निकल जाता है, परन्तु यदि स्निग्ध भोजन दें तो हजम हो जाता है। वैसे भी ग्रहणी की अवस्था में कभी अधिक स्निग्ध, गुरु तथा उष्ण पदार्थों का प्रयोग नहीं कराना चाहिये।

"क्षयज ग्रहणी"

TUBERCULOSIS OF INTESTNIES.

ले०-कवि. श्री सतीन्द्रनाथ जी भिषग्रत्न, आयु०शा०, L A M.S., प्रयाग।

संज्ञा -

आयुर्वेद में आन्त्रिकक्षय रोग का पृथक् रूप से वर्णन नहीं किया गया। राजयक्ष्मा या क्षयरोग, ग्रहणी रोग या उदररोग के वर्णन में भी इसका उल्लेख दिखाई नहीं पड़ता। क्षय रोग' ग्रहणी रोग और उदर रोग का नाम लेने का कारण यही है कि क्षयज ग्रहणी में उपरोक्त तीनों बीमारियों के लक्षण दिखाई देते हैं। कभी एक बीमारी का लक्षण प्राथमिक रूप से और दोनों के औपसर्गिक रूप से, नहीं तो दूसरी बीमारी का लक्षण प्राथमिक रूप से और बाकी दोनों का औपसर्गिक रूप से दिखाई पड़ता है। कभी-कभी ग्रहणी या उदर रोग का लक्षण प्रगट न होकर क्षयरोग व कोष्ठबद्धता का लक्षण प्रगट होता है। सुतरां आयुर्वेद के अनुसार इस रोग की विशेष संज्ञा सृष्टि होनी चाहिये।

साधारणत: यह बीमारी वातपित्तोल्बण त्रिदोषज व्याधि है। प्राथमिक क्षयरोग का औपसर्गिक रूप से और आन्त्रिकग्रंथि, अन्त्र:-च्छदा-कला और अन्त्र इन तीनों के संक्रमण विभेद से, क्षुद्रान्त्र बृहदन्त्र के विभेद से, इस बीमारी के लक्षणों में भी व्यतिक्रम होता है, आगे बढ़कर इसका विचार किया जायगा।

आयुर्वेद के अनुसार इस बीमारी को "क्षयज-ग्रहणी" संज्ञा देने से अशोभन नहीं होगा, क्योंकि न तो यह बीमारी साधारण ग्रहणी है, और न आयुर्वेदोक्त क्षयरोग ही है वस्तुतः यह बीमारी त्रिदोषज ग्रहणी से भी भयंकर और दुश्चिकित्स्य होती है।

पाश्चात्य मतानुसार अन्ननाली का सर्वांश यक्ष्मा के बीजाणुओं से आक्रान्त होता है या हो सकता है, मगर हमारा उद्देश्य यहां पर अन्यान्य अंशों को छोड़कर अन्त्र, आन्त्रिक ग्रन्थि और अन्त्रच्छदा कला में यक्ष्मा रोग के बीजाणुओं के आक्रमण पर विचार करना है। कारण कि पूर्वोक्त तीनों अंशों के परस्पर सम्बन्ध इतने अधिक हैं कि किसी एकको छोड़नेसे लेख असमाप्त रह जायगा, इन तीनों में से एकके भी आक्रान्त होने से शेष दोनों भी अधिकांश क्षेत्र में आक्रान्त हो जाते हैं। पृथक् २ रूप से वर्णन करने पर विचार करने में सुविधा रहेगी।

विभेद–

(१) प्राथमिक आन्त्रिक संक्रमण। (२) क्षयरोग का औपसर्गिक रूप से आन्त्रिक संक्रमण। (३) अन्त्रच्छदा कला से आन्त्रिक संक्रमण। (४) प्राथमिक आन्त्रिक-ग्रन्थियों का संक्रमण। (५) प्राथमिक अन्त्रच्छदा कला का संक्रमण।

(१) प्राथमिक आन्त्रिक संक्रमण—

साधारणतः यह बीमारी बच्चों के होती है। कभी २ आन्त्रिक ग्रन्थियों की वृद्धि तथा पचन क्रिया भी साथ २ दिखाई पड़ती है।

अन्त्रच्छदा कला का प्रदाह भी साथ रह सकता है। पूर्ण वयस्कों में यह बीमारी हो सकती है, लेकिन इसका निर्णय इतना अधिक दु:साध्य है कि ठीक प्राथमिक रूप से यह बीमारी पैदा हुई है कि नहीं, यह निर्देश नहीं किया जासकताहै। साधारणत कभीर उदरामय, मामूली हरारत, और पेट मे दर्द के सिवाय और कोई लक्षण नहीं मिलता, तभी रोगी चिकित्सक के पास पहुँचता है। कभी २ सहसा रक्तस्राव या रक्तातिसार दिखाई पड़ता है, जिसकी वजह निर्णय करना प्रथमत दुसाध्य होता है। जब तक रोगी का बल मांस-क्षय नहीं होता तब तक चिकित्सक को भी क्षय रोग का सन्देह नहीं होता। बहुत क्षेत्र में फुफ्फुस आक्रान्त होने पर चिकित्सक को संदेह होता है और वस्तुत रोग निर्णय भी तभी होता है।

प्रसूताओं को ग्रहणी रोग बहुत क्षेत्र मे होता है, पर बहुत दिन से ग्रहणी रोग में पड़ी हुए प्रसूताओं में क्षयज ग्रहणी का सदेह तब तक नहीं किया जाता, जब तक बल-मास क्षय नहीं होता या फुफ्फुस आक्रान्त होने का लक्षण नहीं मिलता। क्षुद्रान्त्र और वृहदन्त्र के संयोगस्थल में जब प्राथमिक संक्रमण होता है तब वहा रोग निर्णय करना भी कुछ साध्य होता है क्योंकि उस क्षेत्र में अन्त्रपुच्छ प्रदाह का लक्षण यथा—दक्षिण कुक्षि में दर्द, कोष्ठबद्धता या अतिसार और ज्वर ही प्रधान लक्षण रहता है। कई दिन की चिकित्सासे बीमारी अच्छी होजातीहै अर्थात् कोई लक्षणसे नहीं रहता, लेकिन कुछ रोज बाद पुनः उनके लक्षण प्रगट होते हैं। इसमें रोग

निर्णय की असुविधा और बढ़ती है क्योंकि अन्त्रपुच्छ के चिर-प्रदाह में उनके लक्षण प्रगट होते हैं। अतः प्राथमिक अन्त्र संक्रमण का निर्णय अत्यन्त दुःसाध्य है। कभी २ अन्त्रच्छदा-कलान्तराल में अन्त्र विदारण होकर स्फोटक भी पैदा हो सकता है।

(२) *औपसर्गिक आक्रमण—*

राजयक्ष्मा या क्षय रोग का औपसर्गिक रूप मे अन्त्र में यक्ष्मा के बीजाणु-संक्रमण अतिसाधारण होता है। क्षय रोगाक्रांत रोगी धीरे २ क्षुधामांद्य, वायुजनित अन्यान्य विष्टम्भादि लक्षण, अग्निमांद्य, अवसाद पेट में दर्द इत्यादि अनुभव करते हैं। क्षुद्रांत्र आक्रांत होने से कोष्ठबद्धता और बृहदंत्र आक्रांत होने से अतिसार साधारणतया दिखाई पड़ता है लेकिन रोगी कोष्ठबद्धता या अतिसार के कोई कारण निर्देश नहीं कर सकते हैं। धीरे २ अन्त्र के अन्दर क्षत पैदा होता है और क्रमशः बढ़ता चलता है। अन्त्र के अन्दर यक्ष्मा के बीजाणुओं से पैदा हुई क्षतों की आकृति में विशेषता रहती है। (क) यह दस्त असमान, अन्त्र के अन्दर साधारणतः चक्राकार में दिखाई पड़ता है। लम्बा या अण्डाकृति कभी २ दिखाई पड़ता है। (ख) क्षतों को किनारे और तल-देश सुनिर्दिष्ट तथा रक्ताभ और कभी २ पचन शील तन्तुओ से सीमाबद्ध रहते हैं। (ग) क्षत साधारणत गहरा होता है व अन्त्र की मांस पेशी तक आक्रात होता है। (घ) क्षतों के नीचे बहुत छोटे-छोटे अर्बुद या प्रदाह युक्त रस ग्रन्थियां दिखाई पड़ता हैं। साधारणतः क्षत क्षुद्रान्त्र के अन्तिमांश से बृहदन्त्र तक प्रसारित रहता है। क्रमशः

क्षत गम्भीर से गम्भीरतर होजाता है और बढ़ते हुये अन्त्र विदीर्ण होकर अन्त्रच्छदा कला का प्रदाह पैदा कर सकते हैं, नहीं तो क्षतों के सूख जाने पर अन्त्र नली का सकोच होजाता है।

कभी-कभी क्षुद्रान्त्र और बृहदन्त्र के संयोग स्थल के समीप एक स्थानिक क्षत क्रमशः अन्त्रपुच्छ की ओर प्रसारित होकर उसका प्रदाह पैदा करता है और उन सबों को इकट्ठा मिलाकर दक्षिण कुक्षि में एक सुनिर्दिष्ट स्फोटक का रूप लेलेता है। यह कभी २ सख्त और हिलता-डुलता है और कभी २ अति वेदना युक्त आवद्ध जैसा हो जाता है। प्रदाह के कारण अन्त्रनली का सकोचन हो जाता है और अत्यन्त वेदना व कभी-कभी अतिसार, कभी २ कोष्ठ-बद्धता वगैरह लक्षणों से रोगी परेशान हो जाता है।

अन्त्रपुच्छ के प्रदाह के सन्देह से शस्त्र-क्रिया हो जाने के बाद इस बीमारी का निर्णय होता है। कभी-कभी यह स्फोटक सीमाबद्ध न रह कर पूरी दक्षिण कुक्षि में एक सख्त अर्बुद जैसा मालूम होता है इसमें भी पुराने अन्त्रपुच्छ प्रदाह के रूप प्रगट होते हैं। मगर इन क्षेत्रों में रोग निर्णय करने का श्रेष्ठ उपाय अनुवीक्षण यन्त्र की सहायता से मल परीक्षा करना और यक्ष्मा के बीजाणुओं के लिये अनुसंधान करना चाहिये।

३—प्राथमिक अन्त्रच्छदा कला व यक्ष्मा रोग के बीजाणुओं से पैदा हुए प्रदाह से भी यह बीमारी अन्त्रों के अन्दर प्रसारित हो सकती है। इसमें अन्त्रापुच्छ इकट्ठा मिलकर आवद्ध हो जाता है और

भीतर का कोई च्चत विदीर्ण हो सकता है।

४—प्राथमिक आंत्रिक ग्रन्थियों के संक्रमण से यह बीमारी प्रभावित हो सकती है। आन्त्रिक संक्रमण से पृथक् रूप से भी यह बीमारी हो सकती है लेकिन वह बहुत ही कम होता है। अन्त्रावरणी कला भी आक्रांत हो सकती है। पहिले ही कहा गया है कि अन्त्र, अन्त्रावरणी कला और आंत्रिक ग्रंथियां इन तीनोंके बीचमें किसी भी एकके आक्रांत होनेसे बाकी दोनों का आक्रांत होना बहुत ही स्वाभाविक है और इसका पृथक् रूप से निर्णय करना भी दुःसाध्य है।

प्राथमिक आंत्रिक ग्रन्थि के संक्रमण में, ग्रंथियां स्फीत, प्रदाह युक्त होती हैं और उसमें पचन क्रिया भी शुरू हो जाती है। सुचिकित्सा से या काफी रोग प्रतिषेधिका शक्ति रहने से, यह बीमारी इन ग्रंथियों में ही सीमाबद्ध रह जाती है। बाद में उन ग्रन्थियों से चूना जातीय पदार्थ में परिणत हो जाती है। बच्चों को इसके साथ २ गले में भी प्रदाह युक्त ग्रंथियां दिखाई पड़ती हैं।

आन्त्रिक ग्रन्थि के संक्रमण से रोगी की पुष्टि में विशेष हानि पहुँचती है। किसी प्रकार के आहार्य पदार्थ से पौष्टिक रस ग्रहण करना असम्भव होता है। इसीसे रोगी के बल-मांस का क्षय होता है। रोगी रक्तशून्य होकर पाण्डुवर्ण होजाते हैं। पेट बढ़ जाता और वायु से भरा हुआ मालूम होता है। प्रायः सब क्षेत्र में अतिसार दिखाई पड़ता है जो कि लगातार रहता है। रोगी को बहुत पतला और दुर्गन्ध युक्त मलभेद होता है। बुखार मामूली रहते हुए भी रोगी में बलमांस-

क्षय विशेषता से परिलक्षित होता है। पेट बढ़ जाने की वजह से प्रदाह युक्त और स्फीत आन्त्रिक ग्रन्थियों का अनुभव करना बहुक्षेत्र में असम्भव होता है, मगर दर्द बराबर मालूम होता रहता है। अन्त्रच्छदा कला का प्रदाह वर्तमान रहने से पेट ज्यादा सख्त, वेदना युक्त और बीच-बीच में छोटा-छोटा, अर्बुद की तरह अनुभूत होता है।

अन्त्रच्छदाकला का आक्रमण प्राथमिक भी होता है और वहा से अन्त्र या आन्त्रिक ग्रन्थि मे सक्रमण होता है। यक्ष्मा रोग या आन्त्रिक क्षय रोग में अन्त्रच्छदा कला का प्रदाह बहुक्षेत्र में दिखाई पड़ता है। वहा कला का आभ्यंतर अंश कुछ क्षुद्र धूसर रंग का और अर्बुदोंस परिव्याप्त दिखाइ पड़ताहै। ऐसे अन्त्रच्छदाकलापर आक्रमण प्राथमिक भी होता है। प्राथमिक क्षेत्र में प्रदाह जनित स्राव होता है। कभी-कभी वह स्राव लसीकावत् रक्ताभ-लसीकावत् या पूय संयुक्त लसीकावत् होता है।

कई क्षेत्रमें वह स्राव एक जगह में सीमाबद्ध रह गया-सा दिखाई पड़ा। कभी-कभी मुक्त जगह में स्राव हाकर सार्वांगिक प्रदाह पैदा करता है। शोथ रोग के समान अन्त्रच्छदा कला का एक प्रकार का दीर्घ दिन-व्यापी प्रदाह होता है, जिसमें कोई स्राव नहीं होता है। इसकी जगह में कई पर्दे इकट्ठे मिल जाते हैं। अन्त्रच्छदाकला का, आन्त्रिक-ग्रन्थि का या अन्त्र का सक्रमण स्त्रियों की डिम्ब नाली से प्रसारित हो सकता है।

स्त्रियों की अन्त्रच्छदाकला का प्राथमिक सक्रमण डिम्ब नाली से

ही होता है। पुरुषों की पौरुष ग्रन्थि, शुक्रनाली वगैरः से संक्रमण हो सकता है। कभी-कभी फुफ्फुसधरा कला या हृत्पिण्डधराकला से भी संक्रमण होता है। इन सबों को छोड़कर यकृत का, चिरप्रदाह युक्त रोगियों में, अन्त्रवृद्धि रोगियों की अन्त्रच्छदा कला में यक्ष्मा बीजाणुओं का संक्रमण होना देखा गया है।

पेट में आघात लगने के परिणाम से भी यह बीमारी पैदा होते देखी गई है। अन्त्रच्छदाकला का प्रदाह स्त्री-पुरुष दोनों में होता है और सब उम्र में होते हुये भी २०-से४० वर्ष तक की उम्र में सबसे ज्यादा देखा गया है। बच्चों को यह बीमारी साधारणत: आन्त्रिक संक्रमण और आन्त्रिक ग्रन्थियों के संक्रमण के साथ दिखाई पड़ती है।

रूप–

पहिले ही कहा गया है कि यक्ष्मा के बीजाणुओं से आन्त्रिक संक्रमण, आन्त्रिक ग्रन्थियों का संक्रमण या अन्त्रच्छदा कला का संक्रमण पृथक् रूप से विचार करते हुये, अधिकांश रोगों में लगभग करीब-करीब बराबर ही दिखाई पड़ता है। अन्त्रच्छदा कला प्रदाह में कई विशेष लक्षण रहते हैं, जिनका विचार आगे यह कर दिया जायगा मगर तीनों अंगों का बहुत ही सान्निध्य रहने के कारण अधिकांश रोग में दोनों या तीनों आक्रान्त हो जाते हैं, जिससे लक्षणों का पृथक् करना सम्भव नहीं रह जाता है।

"उदर यक्ष्मा"—जिसको इन तीनों की समष्टि रूप से कहा गया है—इसमें अति साधारण और असाधारण रूप कायम कई हैं। फुफ्फुस के यक्ष्मा के साथ-साथ रहने से रोग निर्णय करना बिलकुल मुश्किल नहीं है, लेकिन न रहने से लक्षण निम्न-लिखित रूप होते हैं, रोगी बहुत दिन से पेट दर्द या अतिसार (अधिकांश केस में अतिसार) से परेशान

क्षतोदर
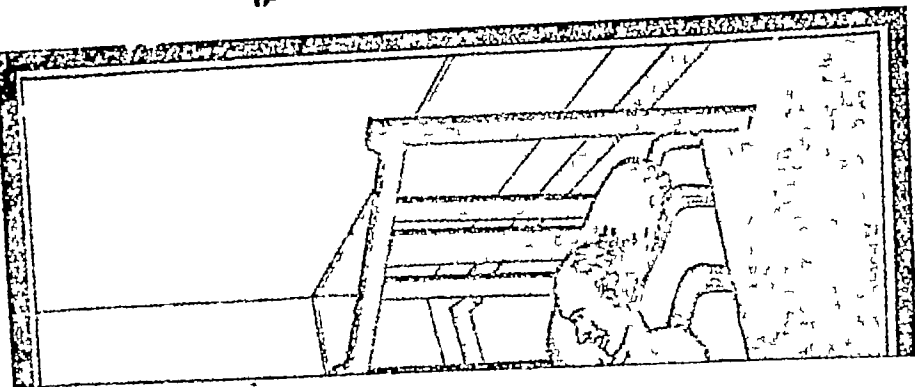
शल्यं तथान्नोपहितं यदन्त्रं, भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा ।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः, स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ।
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं, निस्तुद्यतेऽतीव विदाह्यते च ॥

कांटे, हड्डी आदि किसी तीखी चीज के आहार के साथ पेट में पहुँच जाने से, आंतें फट जाती हैं और उनसे पानी जैसा स्राव गुदा द्वारा बार-बार बहता रहता है ।

देखिए, इस रोगी का पेट नाभि से नीचे की ओर बढ़ा हुआ है, उसमें अत्यन्त पीड़ा है और फटता-सा जान पड़ता है ।
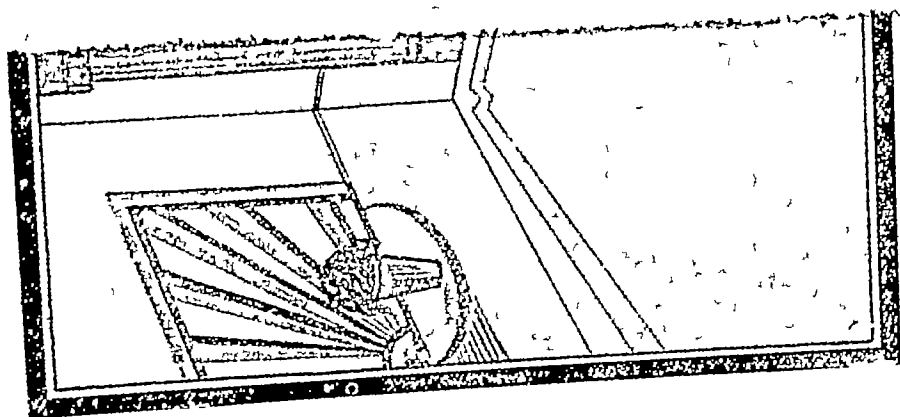
ही होता है। पुरुषों की पौरुष ग्रन्थि, शुक्रनाली वगैरः से संक्रमण हो सकता है। कभी-कभी फुफ्फुसधरा कला या हृत्पिण्डधराकला से भी संक्रमण होता है। इन सबों को छोड़कर यकृत का, चिरप्रदाह युक्त रोगियों में, अन्त्रवृद्धि रोगियों की अन्त्रच्छदा कला में यक्ष्मा बीजाणुओं का संक्रमण होना देखा गया है।

ऊ द्द व रो गां क
ता तो द र
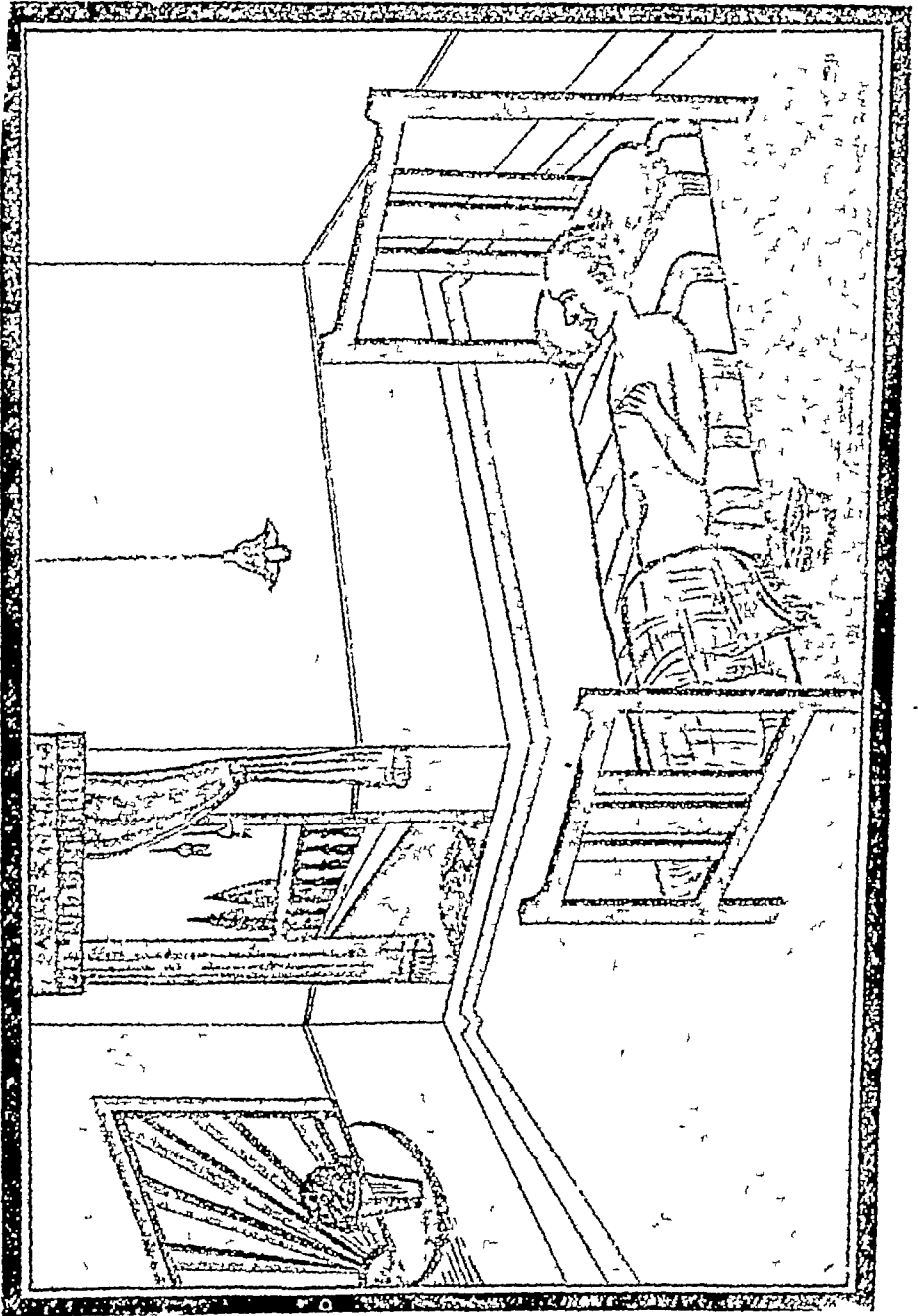
हो रहता है। यहकोष्ठ रोगी धीरे-धीरे जीर्ण-शीर्ण व दुर्बल होते जाते हैं, जिसका कोई कारण सूचित करना असम्भव होता है।

अतिसार के रोगी बहुत जल्दी व सहज ही शय्याशायी हो जाते हैं। पहिले-पहल पेट में सामयिक मामूली दर्द और बाद में लगातार दर्द होता है। माना रक्त का अति दुर्गन्ध युक्त पखाना होता है। हर वक्त मामूली हरारत बनी ही रहती है और कभी-कभी ज्वर बढ़ कर १०२ या १०३ तक पहुँच जाता है। कभी-कभी बुखार इतना मामूली रहता है जिसे न रोगी और न परिचारक ही समझ सकते हैं। दिन में तीन चार दफा ज्वर माप लेने से और उसका अन्तर देखने से पता चलता है। पेट का आयतन बढ़ जाता है और वह अन्दर वायु से भरा हुआ मालूम होता है। पतला दस्त बराबर होता रहता है और रोगी का मांस क्षय तथा दुर्बलता शोचने का कारण होते हैं। रोगी क्रमशः रक्त शून्य होकर पाण्डु वर्ण होजाते हैं।

दक्षिण कुक्षि में दर्द रहता है, पेट में गुल्म-पिण्डवत् सख्त पदार्थ अनुभूत होता है। कभी वह स्थिर तथा दृढ़ कभी-कभी मामूली हिलता-जुलता और कुछ नरम सा मालूम होता है। जिस क्षेत्र में पेट वायु से भरा रहता है या अन्त्रच्छदा कला आक्रान्त होने की वजह से प्रदाह पैदा होता है या पेट में स्राव जम जाता है, उस जगह में सम्मिलित आन्त्रिक ग्रंथियों या अन्त्रों से पैदा हुआ वह कठिन पदार्थ अनुभव करना मुश्किल होता है। अन्त्रच्छदाकलाके आक्रमण में उसके प्रदाह से पैदा हुआ जो स्राव होता है वह जलीय या रक्त हो सकता है, जो पेट में जम जाने से उदर रोग पैदा करता है। धीरे-धीरे रोगी का हृत्-पिण्ड भी दुर्बल हो जाता है जिस वजह से और पेट में जल रहने की वजह से, रोगी को श्वास-कष्ट का अनुभव होता है।

अन्त्रच्छदा कला प्रदाह का (यक्ष्मा बीजाणु जनित) कोई कार्य-कारी लक्षण प्रकाशित न होकर गुप्त रूप से, यह बीमारी शुरू हो

अरुचि शुरू से ही लक्षणीय है। रंजन-रश्मि की सहायता से रोग निर्णय सहज साध्य होता है।

आन्त्रिक ग्रन्थियों के संक्रमण में इन लक्षणों को छोड़ कर पेट में कभी २ दर्द, पतला और अति दुर्गन्ध युक्त मल-भेद, रक्ताल्पता वगैरह लक्षण मिलते हैं। पेट में स्फीत प्रदाह युक्त ग्रन्थियों का भी अनुभव किया जाता है।

अन्त्रच्छदा कला का प्रदाह में साधारणतः बुखार तेज रहता है और स्पर्शासहत्व, उदर प्राचीर की दृढ़ता, आयतनवृद्धि और पेट में स्राव का संचय होना आदि विशेष लक्षण होते हैं। पहिले ही कहा गया है कि यक्ष्मा बीजाणु जब अन्त्र, आन्त्रिक ग्रन्थि या अन्त्रच्छदा कला, इन तीनों में से किसी भी अंश पर आक्रमण करते हैं तब बहुत ही जल्दी बाकी दोनों भी आक्रान्त हो जाते हैं और रोगी शुरू से ही चिकित्सक के पास नहीं आते, इसीसे जिस समय रोग निर्णय हो जाता है, तब तीनों अंशों को आक्रान्त हुआ देखा जाता है।

बहुत दिन तक अतिसार या कोष्ठबद्धता रहना, साथ ही साथ रोजाना थोड़ा बहुत ज्वर होना, पुष्टि का अभाव और बल-मांस क्षय आदि देखने से ही यक्ष्मा बीजाणुओं के संक्रमण का सन्देह होना चाहिये। विशेषतः फुफ्फुस में यक्ष्मा का आक्रमण रहने से या गले में गिलटियां देखने से रोग निर्णय मे असुविधा नहीं होती है। अनुवीक्षण यन्त्र की सहायता से मल परीक्षा करने से यक्ष्मा बीजाणुओं का पता लग सकता है। रंजन रश्मि की सहायता के बारे में पहिले ही कहा गया है। शुरू से ही उसकी सहायता लेने से पहिली हालत में ही रोग निर्णय सम्भव होता है।

साध्यासाध्यत्व विचार—

क्षयज ग्रहणी का साध्यसाध्यत्व विचार करते हुये पहिले ही देखना चाहिये कि आक्रमण अन्त्र या आंत्रिक-ग्रंथि या अन्त्रच्छदाकला

में सीमाबद्ध है कि नहीं ? यदि उनके साथ फुप्फुस में आक्रमण भी रहे वह चाहे प्राथमिक हो चाहे पेट से सक्रमित हुआ हो—तब रोगी के जीवन की आशा बहुत ही कम रहती है क्योंकि खाद्य वस्तुओं से पोषण-रस ग्रहण करने की शक्ति रोगी में नहीं रहती है और फुप्फुस आक्रान्त होने की वजह से कई दिन तक रोग के साथ लड़ने की ताकत भी नहीं रहती है।

जहां केवल कोष्ठ—बद्धता ही रहती है अर्थात् केवल क्षुद्रान्त्र ही आक्रान्त रहता है वहां रोगी के जीवन का खतरा कम होता है क्योंकि इन क्षेत्रों में अतिसार न रहने की वजह से बल-मांस क्षय इतना जल्दी नहीं होता और चिकित्सा की भी सुविधा रहती है।

वृहदन्त्र आक्रान्त होने से या क्षुद्र-वृहत् दोनों अन्त्र आक्रांत होनेसे रोगी का बल-मांस क्षय जल्दी होता है, मगर साथ ही साथ अन्त्रच्छदा कला का प्रदाह न रहने से रोगी की जीवनाशंका इतनी बलवती नहीं होती और साथ ही साथ अन्त्रच्छदाकला का प्रदाह भी मौजूद रहनेसे खतरा ज्यादा होता है। रोग के आक्रमण और अवस्था का विभेद विचार करके साध्यासाध्यत्व निर्णय करना चाहिये। मृदु आक्रमण और पहली हालतमें रोगनिर्णय के बाद सुचिकित्सा का आश्रय लेने से बहुत रोगी बच सकते हैं। तीव्र ज्वर, ज्यादा बल मांस क्षय, बहुत पतला दुर्गन्ध युक्त अतिसार आदि क्षयज ग्रहणी का दुर्लक्षण कहा जाता है।

साधारण चिकित्सा—

साधारण यक्ष्मा व्याधि का दूसरा नाम क्षय है, जिससे समझ लेना चाहिये कि इसकी चिकित्सा का मूल सूत्र है क्षय पूर्णता तथा क्षय का बन्द करना। शरीर की क्षय पूर्ति आहार से ही हो सकती है, सुतरां चिकित्सा के पूर्व पाचन शक्ति तथा विशाचन अर्थात् शरीर की ग्रहण शक्ति के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

क्षयज ग्रहणी में प्रधान शरीर विकार आन्त्रिक-ग्रन्थियों का होता है, सुतरां रोगी की ग्रहण शक्ति सोच समझ कर खाद्यों का प्रबन्ध करना चाहिये।

यक्ष्मा रोगी की चिकित्सा के लिये पहिला सूत्र यही होगा कि ऐसे रोगी को ऐसी जगह में रखना, ऐसा आहार देना, ऐसी तरह से दिल बहलाना, जिससे पूरी तरह से उसकी तन्दुरुस्ती बढ़ने में सहायता मिले। इसके बाद रोग के आक्रमण को पीछे हटाना, वह आगे न बढ़ने पावे इसके लिये भी प्रयत्न करना और साथ २ जितने लक्षणों से रोगी परेशान होते चलते हैं, उन सबों से बचाने के लिये मदद दें।

यक्ष्मा की चिकित्सा के समय रोगी के शारीरिक तथा मानसिक विश्राम का ध्यान हर समय रखना चाहिये। आक्रमण की गुरुता तथा विस्तार के अनुसार रोगी के लिये व्यायामादि का निर्देश करना चिकित्सक का प्रथम कर्तव्य है।

यक्ष्मा रोगी का खुली हुई जगह में रहना और मुक्त-वायु का सेवन करना बहुत ही अच्छा है। आबद्ध घर में, या जन बहुल शहर में, बहुत छोटे तंग मकान में, जहा घाम नहीं पहुँचती हो, ऐसे मकानों में रहने से रोगको सहायता मिलती है। शहर से दूर किसी खुलीहुई जगह में या नदी के किनारे ऊंचे मकान पर, अत्यन्त हवादार कमरे में, जिसके चारों तरफ अन्दर तक भी दिन भर घाम पहुँचती हो, ऐसे दिल बहलाने वाले मकान मे दो-एक सेवकों के साथ रखना ही, यक्ष्मा रोगी के लिए उत्तम प्रबन्ध है। ऐसी पारिपार्श्विक (चारों तरफ से) अवस्था से रोग को

हटाने में मदद मिलती है। साधारणतः स्वास्थ्य-निवास में इस प्रकार से प्रबन्ध हो सकता है, परन्तु कोशिश करने से आवास स्थान का परिवर्तन करके अन्य जगह पर रोगी रह सकते हैं।

घर में भी इस बीमारी से आक्रांत रोगियों के लिये अधिकांश क्षेत्र में प्रबन्ध करना पड़ता है। विशेषतः शहर में रहने वालों को बहुत ही असुविधा के साथ काम करना पड़ता है। शहर में भी रोगी छत पर या दूसरी किसी खुली हुई जगह में रह सकते हैं। ज्वर रहने से रोगी को पूरा विश्राम लेना चाहिये और कमरे के अन्दर रहना पड़े तो दिन-रात खिड़की और दरवाजे खुले हुए रखने चाहिये। सुविधा होने से आंगन के बीच में भी रह सकते हैं। ज्वर, खांसी वगैरह रहने पर भी खुली हुई जगह में रहना मना नहीं है, सिर्फ उपयुक्त वस्त्रादि पहन कर या ओढ़कर रहना चाहिये। गांव में तो बाहर रहनेका उत्तम प्रबन्ध हो-सकता है। गर्मी के दिनों में १०-१२ घण्टे और जाड़े के दिनों में ७-८ घण्टे बाहर रहना चाहिये।

प्रभात सूर्य-किरण यक्ष्मा रोगी के लिये अत्यन्त लाभकारी है। हर अवस्था में प्रभात सूर्य-किरण का यक्ष्मा रोगी के लिये सेवन करने का प्रबन्ध करा देने से लाभ पहुंचता है।

इसी तरह से खुली हुई जगह में कई महीने तक बराबर रहने से यक्ष्मा रोगी को लाभ पहुंचता है। हवा बदलने से भी इस बीमारी में कुछ लाभ हो सकता है परन्तु यह भी पूर्वोक्त खुली हुई जगह में रखने का दूसरा ही तरीका है। रोगी की हालत खराब रहने से, अर्थात् पतले

दस्त ज्यादा होते रहें, तेज ज्वर रहे, तंग करने वाली खांसी और बल मांस-क्षय ज्यादा हों तो रोगी को बाहर नहीं निकलना चाहिये।

दूसरी बात—

स्थान निर्देश कार्य भी विचार से होना चाहिये। समुद्र के किनारे या पहाड़ के ऊपर रोगी को साधारणतः भेजा जाता है। इसके अन्दर भी यह विचार रखना चाहिये कि कहां का जलवायु किस प्रकृति के अनुकूल होगा? साधारणतः जहां का जलवायु शुष्क है, जहां न गर्मी न जाड़ा अधिक होता है, जहां पानी काफी बरसने से भी बह जाता है और बराबर सूर्य-किरण मिलती हैं तथा कभी खुली हवा का अभाव नहीं रहता, ऐसी जगह में यक्ष्मा रोगी को भेजना चाहिये। साथ२ यह भी विचार करना चाहिये कि आवास स्थान अच्छा मिले, जहां खाने की चीजें अच्छी मिलें और सब से पहिले सुचिकित्सक की सहायता मिल सके; वहां ही भेजें।

व्यायाम-—

यक्ष्मा रोगी को ज्वर रहने पर किसी प्रकार का परिश्रम करना मना है। बिल्कुल बिस्तरे पर लेटे रहना चाहिये। यह साबित हुआ है कि यक्ष्मा रोगी को मामूली परिश्रम से ज्वर बढ़ जाता है। ज्वर छूटने पर धीरे २ व्यायाम शुरू करने से परिश्रम बरदास्त कर सकता है। पहले पहल दूसरे से हाथ-पैर की मालिश करवाना शुरू करके, धीरे २ कमरे के अन्दर या बरामदे में पैदल चलना और बरदास्त हो जाने पर धीरे २ टहलना, यक्ष्मा रोगी के लिये काफी

व्यायाम है। इस तरह से व्यायाम करते समय श्रांति या क्लांति न आ जाय इस पर ध्यान देना चाहिये।

स्नान या बदन पुछवाना-

रोगी का ज्वर-ताप समझ कर कुनकुने पानी से बन्द कमरे के अन्दर रोजाना नहीं तो दूसरे-तीसरे दिन बदन पोंछवाना चाहिये। चढ़े हुए बुखार के सिवाय रोजाना एक बार सिर धुलवा कर पोंछवा देना चाहिये। ज्वर-ताप ज्यादा होने से श्वसनक सन्निपात में लिखे हुए तरीके से, सर पर जलाभिषेक या बर्फ की थैली को रखना पड़ता है। रोगी को ज्वर-ताप सुबह ६८॥ और शाम को ६६॥ या १०० तक रहने से रोगी की अवस्था समझकर ग्रहणीमिहिर तेल महालाक्षादि या चन्दनादि तैल मल सकते हैं। फिर दो एक घंटे बाद (तैल सूख जाने पर) कुनकुने पानी से बदन पोंछवा सकते हैं। इससे शारीरिक पुष्टि की वृद्धि होती है। सर हमेशा ठंडे पानी से धुलाना चाहिये। ज्वर कम हो जाने पर कुनकुने पानी से नहला सकते हैं। अच्छे होते समय सहन होने पर ठंडे पानी से नहला सकते हैं। फिर चिकित्सा करें। "काडलिवर आयल" (CODLIVER OIL) की मालिश करवाते है, इससे तन्दुरुस्ती बढ़ती है।

पथ्य—

क्षयज ग्रहणी रोग में पथ्यापथ्य का विचार करना बड़ा ही कठिन है। पहिले ही कहा गया है कि यह बीमारी क्षयज है और क्षयज व्याधि की चिकित्साके मूल-सूत्र स्वरूप क्षयका बन्द करना तथा क्षयका पूर्ण करना इसका

मुख्य उद्देश है। क्षय पूर्ति खाद्य वस्तुओं से ही हो सकती है, अगर रोगी में उन वस्तुओं के पोषण-रस ग्रहण करने की शक्ति रहे।

यदि शक्ति न रहे तो बलाधान के लिये जो कोई वस्तु भी दी जायगी उसमें उपकार के सिवाय अपकार ही होगा, क्योंकि भुक्त पदार्थ पच जाने से ही पोषणरस पैदा होता है, मगर पचन न होने से वे चीजें अजीर्ण की हालत में निकल आती हैं और रोगी को पतला दस्त होने के कारण बल-क्षय होजाता है। क्षयज ग्रहणी में पथ्य निर्वाचन की यही कठिनाई है। रोगी की क्षय-पूर्ति करने की काफी आवश्यकता है। इस क्षेत्र में रोगी को बलाधान किस तरह से हो सकता है, जिससे रोगी को अजीर्ण न हो या न अतिसार बढ़ने पावे, उस तरफ अधिक ध्यान देना चाहिये। तब रोगी की अवस्था और लक्षणादि पर, रोगी की ग्रहण शक्ति की विशेषता से विचार करके पथ्य का प्रबन्ध करना चाहिये।

इस लेख में केवल संक्षेप से पथ्यों की आलोचना तथा सलाह साधारण रूप से ही दी गई है, परन्तु चिकित्सक अपनी विचारबुद्धि के अनुसार हर क्षेत्र में विशेष व्यवस्था देने का प्रयत्न करें।

क्षयज ग्रहणी में फुस्फुस पर आक्रमण रहने से पथ्य निर्वाचन करते समय उस विषय पर भी ध्यान देना चाहिये।

क्षयज ग्रहणी में जहां कोष्ठबद्धता रहती हो, वहां उपरोक्त लेख में वर्णन किया हुआ पथ्य देना ही उचित होगा। यहां अतिसार रोगियों के लिये ही विचार किया जायगा।

चिकित्सक को खाद्य-तालिका इस तरह से बना देनी चाहिये जिससे पेट में भारीपन न हो, खाना जल्दी पच जाय, पतला दस्त बन्द हो जाय और साथ ही साथ रोगी में बलाधान होता चले। क्षयज ग्रहणी में अग्निमांद्य रहता है इसीलिये इकट्ठा ज्यादा खाना देना मना है। उसकी जगह में कई

दफा थोड़ा-थोड़ा करके पथ्य देना ही अच्छा है और बीच में इतना वक्त रखना चाहिये जिससे खाना पच जाय और पेट भारी न हो सके। ज्वर ज्यादा रहने या पतला दस्त ज्यादा होने पर तरल चीजों के सिवाय कोई चीज देना ठीक नहीं है।

बार्ली, अरारोट, दूध का फाड़ा हुआ पानी, ताजा तरकारी का शोरुआ बना कर देना चाहिये और जल्दी ही दस्त बन्द करने की कोशिश करनी चाहिये। अतिसार कम रहने से अर्थात् दिन में तीन-चार बार तक मामूली पतला दस्त आने से थोड़ा सा बकरीका दूध, बराबर पानी, बेल और सोंठ के साथ पकवाकर बराबर बार्ली के साथ दे सकते हैं।

बहुत से रोगियों को दूध हज़म नहीं होता है और विलायती पेटेन्ट दूध यथा 'हार्लिक्स मालटेड मिल्क' हजम होता है, ऐसा भी देखा गया है। उन रोगियों को हार्लिक्स देना चाहिये।

चूड़ा का मण्ड इन रोगियों के लिये हितकर है। दिन में दो-एक दफा देना ही काफी है। गर्म पानी में पतला चूड़ा भिगवा कर बादमें मल-छान कर मण्ड बनाया जाता है। आवश्यकता के अनुसार दूध या चीनी के साथ दे सकते हैं। भात का मण्ड, ज्वर कम रहने पर इस तरह से बना कर दे सकते हैं।

ताजा तरकारी का शोरुआ, पपीता, कच्चा केला, गूलर, भिण्डी, पर-वल, टमाटर और पालक का साग वगैरह बन्द हाँडी में या "इकमिक-कूकर" में बना कर रोगी को देने से फायदा पहुँचता है।

फल का रस भी देना जरूरी है और फल के अन्दर मीठे सन्तरे का रस, अनार का रस, अनन्नास का रस, मुसम्बी या शरबती नींबू का रस दिया जाता है। ज्यादा परिमाण में या दूसरे फलों का रस देने से अतिसार बढ़ सकता है अतः अधिक रस न दें।

रोगी के लिये जो दूध या बार्ली बनाया जाय, उसे किसी भी चीज़ बेल (बेल गिरी) सोंठ के साथ पका कर बनवाना चाहिये। इससे अग्नि-वृद्धि होती है और दस्त भी कम हो जाता है। छिलकेदार खड़ी मसूर का शोरुआ धारक तथा ताकतवर होता है उसे अतिसार रहने पर भी, दे सकते हैं।

बुखार व अतिसार कम रहने पर रोगी को एक वक्र पुराने चावल का भात, कपड़ों में पका कर दे सकते हैं। चावल जितना ही पुराना हो उतना ही अच्छा है। भात काफी गला हुआ होना चाहिये। मूङ्ग या मसूर की दाल का शोरुआ, छोटी मछली का शोरुआ दूध के साथ दिया जा सकता है।

कभी २ क्षयज ग्रहणीके रोगी खालिस घी की बनी हुई, बहुत पतली पतली पूरी (लूची) ताजा व गर्म २ हजम कर लेते हैं, सुतरां इसकी भी परीक्षा करनी चाहिये। पूरी नमक या चीनी के साथ ही दी जाती है। तर-कारी या स्थूल पदार्थ जितना भी कम हो सके, पथ्य में देना चाहिये।

जहां फुफ्फुस में आक्रमण नहीं रहता हो, ज्वर भी मामूली हो और अतिसार भी कम रहे, वहां ग्रहणी रोग का एक श्रेष्ठ पथ्य मट्ठा इस्तेमाल कर सकते हैं। मट्ठा मक्खन निकाला हुआ और घर का ताज़ा बना हुआ होना चाहिये। खट्टापन उसमें ज़रा भी न हो, यह भी देख लेना चाहिये। ऐसा मट्ठा देने से नुकसान होने का डर नहीं रहता, बल्कि फायदा ही होता है और फिर थोड़ा बहुत मक्खनदार मट्ठा भी धीरे २ इस्तेमाल करवा सकते हैं।

रोगी की अवस्था की उन्नति के साथ-साथ पथ्य भी धीरे २ बढ़ाना चाहिये। रोगी को स्निग्ध तथा घृताक्त पदार्थ देने चाहिये। साधारणतया प्रधान खाद्य देने के चार-पांच घण्टे के अन्दर कोई भी पथ्य नहीं देना चाहिये और पतला पथ्य देने पर तीन घण्टे के पहिले दूसरा पथ्य न देना ही अच्छा है।

रोगी को रातके १० बजे से सुबह ५ बजे तक कोई भी खाना नहीं देना चाहिये। खास जरूरत होने पर ताल-मिश्री का पानी या बार्ली का पानी गर्म करके दे सकते हैं। "क्वेकर-ओट्स" "ओवलटीन" "हार्लिक्स माल्टेड मिल्क" वगैरह पथ्य पाश्चात्य चिकित्सा में, ऐसे रोगियों को दिया जाता है।

पीने का पानी ठीक तरह से उबाला हुआ और साफ होना चाहिये। कोई भी पतला पथ्य साफ कपड़े से छान कर ही देना चाहिये। पथ्यादि सर्वदा सफाई से बना हुआ तथा साफ जगह में रखना चाहिये, नहीं तो नई बीमारी के संक्रमण की सम्भावना होगी।

क्षयज ग्रहणी रोग में हालत अच्छी होते समय मिठाइयों में ताजे रसगुल्ले के सिवाय और कोई चीज नहीं देनी चाहिये।

अन्त्रच्छदा कला में तरुण प्रदाह रहने से हलकी तथा पतली चीजों के सिवाय कोई चीज नहीं देनी चाहिये। बार्ली, दूध, अरारोट, दूध का फाड़ा हुआ पानी, तरकारी का शोरुआ, फल का रस वगैरह भी दिया जाता है।

पेट में स्राव संचित होने से तथा अन्त्रच्छदा कला का चिर प्रदाह रहने से पूर्वोक्त स्थूल पदार्थ भी दे सकते हैं, मगर सर्वदा ज्वर-ताप का विचार करना अति आवश्यक है। ज्वर-ताप ज्यादा रहने पर स्थूल पदार्थ देना ठीक नहीं है। ज्वर ताप वृद्धि के दो—तीन घण्टे पहिले स्थूल-खाद्य देना ही अच्छा है, क्योंकि ज्वर—ताप बढ़ जाने से, पाचन शक्ति कम हो जाती है।

औषध चिकित्सा -

क्षयज ग्रहणी की चिकित्सा में साधारणतः ग्रहणी रोग की चिकित्सा ही की जाती है। यदि प्रथमावस्था में रोगनिर्णय हो जाय तो शुरू से ही रोगी का क्षय-नाश तथा क्षय पूर्ति करने के लिये और मलाधान के लिये चिकित्सा करनी चाहिये।

फुफ्फुस में आक्रमण रहने से उसकी चिकित्सा यक्ष्मा के अनु-रूप ही होनी चाहिये।

क्षयज ग्रहणी के तीन प्रधान लक्षण—ज्वर, अतिसार और बलहीनता हैं, समय पर तीनों के लिये चिकित्सकको सोचना पड़ता है। अतिसार ज्यादा रहने पर पहले ही उस तरफ ध्यान देना चाहिये, क्योंकि उससे रोगी की दुर्बलता बढ़ती जायगी और क्षय-पूर्ति तथा बलाधान की चेष्टा व्यर्थ हो जायगी, अत शीघ्र अतिसार बन्द करने के लिये व्यवस्था करनी चाहिये। जैसा कि आयुर्वेद में कहा गया है—

> "शुक्रायत्तं बलपुंसां मलायत्तं हि जीवन।
> तस्माद् यत्नेन मरक्षेत्, यक्ष्मिणो मलरेतसी॥"

पहिले पहल सिद्ध प्राणेश्वर, रामबाण, महागन्धक, सर्वाङ्गसुन्दर, ग्रहणीकपाट, ग्रहणीशार्दूल वगैरह दवाइयां यथोपयुक्त अनुपानके साथ प्रयुक्त की जाती हैं। इसमें काफी फायदा न मिलने से कर्पूर रस, अहिफेन वटी या दुग्धवटी जैसी अफीम घटित दवाइयों की दो-एक खुराक प्रयोग करके दस्त को रोकना पड़ता है। लेकिन जरूरत के अति-रिक्त या दो-तीन खुराक से ज्यादा प्रयोग नहीं करना चाहिये। वह भी रोगी की अवस्था को सोच समझ कर करना चाहिये, नहीं तो रोगी के जीवन का भय रहता है। रोगी का अतिसार मन्द हो जानेके बाद क्षयज ग्रहणी की प्रकृत चिकित्सा शुरू करनी पड़ती है।

कभी २ क्षयज-ग्रहणी रोगी का सहसा दो-चार दफा पतला दस्त हो सकता है, उससमय उस लक्षण के ऊपर विशेष ध्यान देना पड़ता है।

पहिले ही कहा गया है कि क्षयज ग्रहणी की चिकित्सा ग्रहणी रोग के अनुसार ही है। साथ २ रोगी के बलाधान करने पर विशेष चेष्टा होनी चाहिये।

ग्रहणी रोग की साधारण औषधियों की व्यवस्था न करके धातु घटित दवाइया, विशेषत: स्वर्ण घटित दवाइया प्रयुक्त करनी चाहिये। फिर भी विचार करना चाहिये कि क्षयज ग्रहणी की चिकित्सा में क्षय बन्द करना तथा क्षय पूर्ति करना ही प्रधान उद्देश्य है।

क्षय नाश तथा पूर्ति के लिये चूना युक्त पदार्थों यथा शुक्ति, मुक्ता, प्रवाल, वराटिका, शंख इत्यादि की भस्म अत्यन्त लाभदायक है।

कोई २ चिकित्सक पूर्वोक्त भस्मों को इकट्ठा सम्मिलित करके अम्ल दही की भावना देकर प्रयोग में लाते हैं, जिससे काफी फायदा पहुँचता है। यह दवा पाश्चात्य शास्त्रोक्त 'कैलशियम लैक्टेट' दवा के अनुकल्प है, मगर उससे ज्यादा लाभप्रद है। वस्तुत: यक्ष्मा रोग के किसी किस्म के आक्रमण में आयुर्वेदोक्त चूना-जातीय पदार्थ अपरिहार्य हैं। दूसरी दवाइयों के साथ मिलाकर दिन में दो-तीन बार काफी परिमाण में चूना जातीय भस्में देना बहुत ही जरूरी है।

क्षयज ग्रहणी में ज्वर के लिये पुटपाक विषम ज्वरांतक लोह श्रेष्ठ औषधि है। यह दवा मलरोधक, अग्निदीपक, क्षय-पूरक तथा ज्वर-नाशक है। साधारणत: भूने हुए जीरे की बुकनी शहद के साथ देने से फायदा दिखाई देता है। क्षयज-ग्रहणी की चिकित्सा में पुटपक्व विषमज्वरांतक लोह अपरिहार्य दवा है। अन्यान्य ज्वरनाशक दवाइयों

के अन्दर वृहद् कस्तूरीभैरव, जयमंगल रस, वसन्तमालती वगैरह का प्रयोग किया जाता है। लेकिन साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि क्षयज ग्रहणी का ज्वर यक्ष्मा के बीजाणुओं से पैदा हुआ होता है अत. अन्त्रों की हालत के ऊपर ही ज्वर की ह्रास-वृद्धि हुआ करती है। अत: केवल ज्वरनाशक दवा के ऊपर ही भरोसा करने से हताश होना पड़ेगा। साथ ही साथ आंत्रिक क्षत या आंत्रिक ग्रन्थि की स्फीति की चिकित्सा भी होनी चाहिये।

रोगी के अजीर्ण तथा ग्रहणी की भी चिकित्सा करनी पड़ती है। अजीर्ण-दस्त के लिये महाराज नृपतिवल्लभ, पीयूष वल्ली, ग्रहणी कपाट, ग्रहणी शार्दूल. जीरकादि मोदक, वगैरह का प्रयोग करने से अच्छा फल मिलता है। इन सबों के बीच में महाराज नृपति वल्लभ सर्वोत्तम और सबसे अधिक लाभप्रद है। इसमें स्वर्ण भस्म वगैरह रहने के कारण खासतौर से क्षय-पूरण होता है। साथ ही साथ पाचक, अग्नि की दीपक दवाइयों का भी प्रयोग करना जरूरी है, क्योंकि भुक्त द्रव्य परिपाक होने से ही रोगी को लाभ पहुँचता है। इसके लिये लवणभास्कर, अग्निकुमार वगैरह का प्रयोग किया जाता है। शुभ्र पर्पटी, लवण-भास्कर के साथ मिलाकर देने से फायदा पहुँचता है।

हींग छोड़कर शंखवटी या महाशंख-वटी देने से भी फायदा होता है। हींग मिश्रित दवाइयां यहां प्रयोग में नहीं लानी चाहिये, क्योंकि इससे अन्त्र से रक्त-स्राव तथा अन्त्र-विदारण होने की आशंका रहती है, इसीलिये हींग इस्तेमाल करना मना है।

क्षयज ग्रहणी में कब्ज होने पर मामूली मात्रा में द्राक्षारिष्ट, मृतसंजीवनी के साथ मिलाकर दे सकते हैं। जीरकाद्यरिष्ट के साथ मृतसंजीवनी प्रयुक्त की जाती है। द्राक्षारिष्ट की जगह में ग्रहणी रोगाधिकारोक्त-पिप्पल्याद्यासव का भी प्रयोग करने से लाभ होता है। दोनों में ही द्राक्षा रहने की वजह से मल-भेद हो सकता है इसीलिये अवस्था के अनुसार मामूली मात्रा में ही शुरू करना चाहिये। यह सब आसव, अरिष्ट, मृतसंजीवनी इत्यादि पाचकाग्नि के दीपक तथा बल-वर्धक हैं। सुतरां उन चीजों को प्रयुक्त करवा कर अगर लाभ उठा सकें तो बहुत ही उपकार होता है।

क्षयज ग्रहणी रोग में पर्पटी का प्रयोग किया जाता है। जिस क्षेत्र में पतला दस्त किसी प्रकार से बन्द नहीं होता है, वहां रस पर्पटी या स्वर्ण पर्पटी का प्रयोग करने से लाभ होता है। कभी २ पर्पटी का क्रम-वृद्धि मात्रा में भी प्रयोग किया जाता है, विशेषतः पेटमें स्रावसंचित होने से इसके प्रयोग से बहुत ही लाभ होता है। पर्पटी के साथ प्रवाल भस्म, वराटिका भस्म या शंख भस्म मिलाकर भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

बहुत से वैद्य साधारण उदर रोग के अनुसार पर्पटी और दुग्ध-वटी की सम्मिलित चिकित्सा किया करते हैं और उस वक्त सिर्फ दूध ही पथ्य देते हैं। अस्तु, क्षयज ग्रहणी की चिकित्सा करते हुए साधारण ग्रहणी की चिकित्सा के मूल-सूत्र के साथ क्षयपूरक स्वर्ण, लोह वगैरह धातु-घटित दवाइयों का प्रयोग किया जाता है और उससे काफी फायदा मिलता है।

यक्ष्मा रोग की तरह क्षयज ग्रहणी में भी ज्वर वेग कम हो जाने के बाद महालाक्षादि या ग्रहणी मिहिर तैल मलने से लाभ होता है। इससे रोगी में स्निग्धता पहुँचती है, ज्वर वेग कम हो जाता है और साथ ही साथ रोगी बहुत ही स्वस्थ मालूम होता है। अन्त्रच्छदा कला का प्रदाह रहने से चिकित्सा का रूप कुछ परिवर्तित होता है। तरुणावस्था में जहां ज्वर वेग तीव्र रहता है वहां वृहत् कस्तूरी-भैरव देना पड़ता है। प्रदाह रहने की वजह से स्वल्प कस्तूरी भैरव भी दे सकते हैं। प्रवालभस्म के साथ मिलाकर नारदीय लक्ष्मीविलास एक बार देने से फायदा होता है।

इनके साथ २ वायुनाशक दवाइयां यथा वातचिंतामणि, कृष्ण-चतुर्मुख, रसराज रस इत्यादि दवाइयों में से एक न एक वायु-नाशक अनुपान के साथ देना जरूरी है। चावल का पानी और बड़ी इलायची का चूर्ण आलछड़ के पानी के साथ दिया जाता है। दशमूल का काढ़ा भी इस क्षेत्र में बहुत ही अच्छा है।

पेट के लिये लेप-

देवदारु, सोया के बीज, कूट, वच, सेंधानमक बराबर कांजी के साथ पीसकर लगाना अच्छा है।

रोहितक (रोहिड़ा) का बकला पानी के साथ पीसकर या चन्दन की तरह घिसकर लगाने से भी फायदा पहुँचता है। अन्यान्य चिकित्सा लाक्षणिक होनी चाहिये अर्थात् अतिसार और विष्टम्भ के लिये पूर्वोक्त दवाइयां सोच समझकर प्रयोग में लाना चाहिये।

क्षयजग्रहणी रोगी के लिए सूर्य्यताप-सेवन इस बीमारी की चिकित्सा में एक प्रधान-अङ्ग है। महाला...दि या ग्रहणीमिहिर तैल मलने के पश्चात रोगी को उदर खोलकर रोजाना थोड़ी देर तक सूर्य्यताप में रखने से काफी लाभ होता है।

पाश्चात्य-शास्त्र में इस बीमारी की चिकित्सा के लिये रंजन रश्मि (Ultra Violet Rays) की सहायता लेते हैं, उससे भी लाभ होता है। क्षयजग्रहणी में यदि आक्रमण स्थानिक हो या आंत्रिक ग्रन्थि का स्थानिक आक्रमण हुआ हो, तब पाश्चात्य-मत के अनुसार शस्त्र-कर्म की सहायता लेने से लाभ होता है। इसमें आक्रांत अंशों को निकाल दिया जाता है। इससे बहुक्षेत्र में सफलता भी मिली है।

अगर स्त्रियों के डिम्ब-कोश या डिम्ब-नाली तथा पुरुषों की पौरुषग्रन्थि से ही संक्रमण हुआ हो, यह निर्णय हो जाय तो भी पाश्चात्य-शास्त्र में सूत्रानुसार, उन अंगों को भी शस्त्र-सहायता से निकाल देने का परामर्श दिया गया है।

ग्रहणी रोग पर तक्र कल्प

ले० वैद्यरत्न श्री पं० रमाकान्त जी झा शास्त्री, सह-सम्पादक "माखा"

यह बड़ा शैतान रोग है, जिसे एकबार यह ग्रसित कर लेता है फिर मुश्किल से उसका पीछा छोड़ता है। रोगी को ऐसा तंग कर देता है कि जब देखो तब लोटा ही हाथों में लिये रहता है।

आज इसी रोग का संक्षिप्त निदान तथा तक्र-कल्प चिकित्सा लिख कर पाठकों के सामने रखता हूँ, आशा है पाठक इससे अवश्य लाभ उठायेंगे। पहले हमको इसके कारणों पर ध्यान देना चाहिये।

वैसे तो हरएक संग्रहणी के अपने २ पृथक् २ कारण तथा लक्षणादि हैं, किन्तु सामान्यतया जो कारण होते हैं उनका उल्लेख यहां कर रहे हैं।

कारण-

जिस मनुष्य को अतिसार होकर आराम होजाता है और वह मनुष्य कुछ कुपथ्य कर लेता या भारी पदार्थ खा लेता है, तब एक तो उसकी जठराग्नि पहले से ही खराब रहती है फिर तो और खराब हो जाने से भुक्ताहारादि भी सम्यक् परिपक्व नहीं होता है; तब यह रोग होजाता है। जठराग्नि विषम होने से अन्न का परिपाक भी विषम ही होता है, जिससे धातुओं में भी विषमता प्रगट होजाती है। यदि तीक्ष्णाग्नि है तो धातुओं का शोषन करती है, साम्य है तो धातुओं

में साम्यता पैदा करती है और यदि जठराग्नि दुर्बल है तो यह विदग्ध पाक करती है। वह विदग्ध पाक (अधपका) अन्न; वमन अथवा विरेचन द्वारा निकल जाता है। इसी को चरकाचार्य ने कहा है।

दुर्बलो विदहत्यन्नं, तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।

फिर उनमें जो पक्व अथवा अपक्व अधोमार्ग से निकले उसको 'ग्रहणी रोग' कहते हैं, इस रोग में प्रायः सब प्रकार के अन्न विदाही होजाते हैं। वही अन्न विबद्ध अथवा अत्यन्त पतले होकर निकलने लगते हैं।

ग्रहणी का स्थान तथा कार्य—

षष्ठी पित्तधरा नाम, या कला परिकीर्तिता।
आमपक्वाशयोर्मध्ये, ग्रहणीत्यभिधीयते॥

इसका भाव यह है कि ठीक आमाशय और पक्वाशय के बीच में ग्रहणी नाम की एक कला है, वही अन्न को ग्रहण करती है और पाचन क्रिया करती है। भगवान् चरक कहते हैं—

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य, ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
नाभेरुपरि साह्यग्निबलोपस्तम्भ बृंहिता॥
अपक्वं धारयत्यन्नं, पक्वं सृजति पार्श्वतः।
दुर्बलाग्निबलाद् दुष्टादाममेव विमुञ्चति॥

अर्थात् जठराग्नि का अधिष्ठान ग्रहणी है। अन्न को ग्रहण करने से उसको ग्रहणी कहते हैं। नाभि के ऊपर इसका स्थल है। अग्नि बल ही इसका उपस्तम्भ और पोषण करता है। यह कच्चे अन्न

को धारण करती है और पके हुए अन्न का पार्श्व की ओर त्याग करती है। यदि जठराग्नि दुर्बल हो तो ग्रहणी भी दुर्बल हो जाती है। जठराग्नि के दुर्बल अथवा दूषित होने से ग्रहणी भी बिना पके ही अन्न को त्यागने लगती है।

वाग्भट्ट अपना मत यूं प्रकट करते हैं—

स्थिता पक्वाशयद्वारि, भुक्तमार्गार्गलेव सा ।
भुक्तमामाशये रुद्ध्वा सा विपाच्य नयत्यधः ॥
बलवत्यबलात्त्वन्नमाममेव विमुंचति ।

यह पक्वाशय के द्वार पर इस तरह बनी हुई है जैसे कि द्वारस्थ मार्गावरोध के लिये लोग किवाड़ादि लगाते हैं। ऐसे ही यह भी पक्वाशय के द्वार पर खाये हुए अन्न को आमाशय में रोक कर जठराग्नि द्वारा शनैः २ पचा कर नीचे छोड़ती रहती है। यह जब बलवती रहती है तो अन्न को परिपक्व करके छोड़ती है और निर्बल होजाने पर आम (कच्चा) ही छोड़ती है।

पूर्वरूप—

ग्रहणी रोग होने से पहले प्यास लगने लगती है। आलस्य लगने लगता है, बल का नाश होने से शरीर में कमजोरी आ जाती है, मन्दाग्नि होने से अन्न विदग्ध होने लगता है, भीतर आग सी जलने लगती है, पाचन क्रिया बहुत धीरे २ होती है, और शरीर में भारीपन आ जाता है।

लक्षण—

यह रोग मनुष्य को धीरे-धीरे मारता है। अन्न खाते ही पेट फूलने लगता है और कच्चे ही दस्त होने लगते हैं। कभी कुछ दिनों तक

ऋतु में भी सम्हाल कर करें। इसमें रोगीको हवा और सरदी से बचाने का पूर्ण प्रबन्ध रखें। हेमन्त, वसन्त और शिशिर ऋतुओं में सरलता-पूर्वक यह कल्प हो सकता है।

तक्र-कल्प करने के अधिकारी—

जिनके मूत्र में प्रतिक्रिया क्षारीय होती हो, ज्वर, उर:क्षत, मूर्छा-रोग, पित्त प्रकोप, अम्लपित्त, शोथ या रक्तपित्त न हो; सुजाक या उपदंश रोगभी पूर्वकालमें न हुआ हो, उन रोगियों को तक्र-कल्प कराना चाहिये। लिखाभी है—

> आमातिसारे च विशूचिकायां, वातज्वरे पांडुषु कामलेषु।
> प्रमेह-गुल्मोदर वातशूले, नित्यं विवेत्तक्रमरोचके च ॥

चक्रसेन भी इसके लिये कहते हैं—

> ग्रहणी रोगिणां तक्रं, संग्राही लघु-दीपनम्।
> सेवनीयं सदा गव्यं, त्रिदोषशमन हितम् ॥
> दु:साध्यो ग्रहणी दोषो, भैषज्यैर्न विशाम्यति।
> सहस्रशोऽपि विहितैः, विना तक्रस्य सेवनात् ॥
> यथा तृणचयं वह्निस्तमांसि सविता यथा।
> निहन्ति ग्रहणी रोगं, तथा तक्रस्य सेवनात् ॥

अर्थात्-ग्रहणी रोग के लिये तक्र मल को बांधने वाला, लघु और दीपन है। तक्र में भी गाय का तक्र त्रिदोष-शामक होने से सदा सेवनीय है। जिस तरह घास के समूह को अग्नि और अन्धकार को सूर्य नष्ट कर देता है, इसी तरह तक्रसेवन से ग्रहणी रोग नष्ट हो जाता है।

तक्र के भेद -

दही में बिना जल डाले मथन किया जाय उसे "घोल" कहते हैं। दही की मलाई निकाल कर बिना जल डाले मथन किया जाय उसे "मथित" कहते हैं, दही में चौथाई हिस्सा जल डाल कर मथन किया जाय उसे "तक्र" कहते हैं। आधा जल डाल कर यदि उसे मथा जाय तो उसे "उदश्वित्" कहते हैं। यदि अधिक जल डाला हो और उसमें से मक्खनभी निकाल लिया हो तो उसे "छाछ" कहते हैं ये सब उत्तरोत्तर हलके होते हैं।

तक्र के गुण-

तक्रं त्रिदोष-शमनं रुचि दीपनीयं,
रूच्यं घमिश्रमहर क्लमहारि मस्तु ।
घज्यपदं पवन-नाशमुदश्विदाख्यं,
शस्तं कफ-श्रम-महद्धवनेषु घोलम् ॥

इसके अतिरिक्त तक्र, मधु, कषैली, खट्टी, मीठी, उष्णवीर्य, रूक्ष, अग्निप्रदीपक तथा वात और कफ को जीतने वाली है। शोथ, उदर रोग, ग्रहणी रोग, अर्श, वस्तिशूल, मूत्रावरोध, अरुचि, प्लीहा, गुल्म, अधिक घृत से होने वाला विकार, कृत्रिम विष विकार, सेन्द्रिय विष प्रकोप, तृष्णा, वमन, शूल, मेदवृद्धि, कफ और वात रोग को दूर करती है। तक्र का विपाक मधुर होता है और हृदय को हितकारक होता है।

चरक में इसके लिए लिखा है—

> तक्रं तु ग्रहणीदोषे, दीपनं ग्राहि लाघवात् ।
> श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत् ॥
> कषायोष्ण विकासित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे मतम् ।
> वाते स्वाद्वम्ल-सान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ॥

तक्र के सेवन से आमाशय और अन्नादि पाचन-संस्थान सशक्त होकर भोजन का परिपाक सत्वर और नियमित रूप से होता रहता है। लघुअन्त्र में रहे हुए रसाकुरिकाओंकी शोपणक्रिया सम्यक्रूपसे होती रहती है। यकृत और मूत्रपिण्ड की क्रिया उत्तेजित होजाती है। रक्ताभिसरण क्रिया बलवती होजाती है तथा रक्त में रक्ताणु की मात्रा विशेष होकर रक्त परिशुद्ध लालवर्ण का होजाता है। आंत्र में रहे हुए सेन्द्रियविष, सूक्ष्म कीटाणु तथा मल में उत्पन्न दुर्गन्धि नष्ट हो जाती है।

बालक, जवान, स्त्री-पुरुष किसी के यदि ग्रहणी या अन्त्र सम्बन्धी विकार हो जाने पर अतिसार, ग्रहणी रोग या अर्श की प्राप्ति हो गई हो तो उसके लिये तक्र अमृत सदृश कार्य करता है।

पाचकपित्त की उत्पत्ति योग्य परिमाण में न होने से अजीर्ण या ग्रहणी (स्प्रू) हो गये हों तो उनके लिये भी तक्र हितकर है। जिन ज्वरार्दित रोगियों को दूध हितकर नहीं होता उनको भी तक्र सेवन से लाभ होता है। परन्तु ध्यान रहे कि ज्वरी के लिये दही में गर्म जल डाल कर तक्र बनाना चाहिये और मक्खन निकाल लेना चाहिये, क्योंकि ज्वरार्दित को मक्खन नहीं पचता है।

तक्र में लैक्टिक एसिड, म्यूरियाट्रिक एसिड और साइट्रिक एसिड होते हैं, इनमें लैक्टिक एसिड के योग से अन्त्रस्थ रसांकुरिकाओं को उत्तेजना मिलती है और सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होते हैं। म्यूरियाट्रिक एसिड से पित्तस्राव नियमित रूप से होता है। यकृत और बृहदन्त्र सबल बनते हैं और इन्द्रियां अपनी क्रिया भली-भांति करने लगती हैं। साइट्रिक एसिड रक्त-शुद्धि और रक्ताभिसरण क्रिया में उत्तेजना, कीटाणु नाश तथा आमाशय और ग्रहणी आदि की वृद्धि करता है।

पाश्चात्य चिकित्सा में भी तक्र का सेवनकाल शीत-काल ही माना है। मन्दाग्नि, अपचन, अन्त्र दाह, अर्श, आम वृद्धि से नाड़ियों का अवरोध आदि में भी तक्र हितकर माना गया है।

जो तक्र मधुर हो (खट्टा न हुई हो) वह श्लेष्म-प्रकोपक और पित्त-शामक होता है। खट्टा होने पर वातनाशक और पित्तकर है, यही बात सुश्रुतकार ने भी लिखी है—

"तत्पुनर्मधुरं श्लेष्म-प्रकोपनं पित्तप्रशमन च, अम्लं वातघ्न पित्तकरं चेति।"

वायुशमनार्थ सैंधेनमक और सोंठ के साथ, पित्त शमनार्थ शक्कर के साथ और कफनाशार्थ त्रिकटु और यवक्षार के साथ पिलाना चाहिये। सुश्रुतकार का भी यही मत है। यथा—

वातेऽम्लं सैंधवे पित्ते, स्वादुपित्ते सशर्करम्।
पिबेत्तक्र कफे चापि, व्योषक्षार-समायुतम्॥

इस श्लोक में वायु-शमनार्थ सिर्फ सैंधा नमक ही लिखा है।

किन्तु राजनिघण्टुकार का मत है—

> वातोदरी पिबेत्तक्रं, पिप्पली लवणान्वितम् ।
> शर्करा मरिचोपेत, स्वादु पित्तोदरी पिबेद् ॥
> यवानी सैंधवाजाजी, व्योषयुक्तं कोफदरे ।
> सन्निपातोदरे तक्र, त्रिकटु–क्षार – सैंधवम् ॥

इनके सिवाय अर्श, अतिसार और ग्रहणी विकार में भुनी हींग, भुना जीरा और सेंधानमक मिलाकर सेवन कराना चाहिये। मूत्र–कृच्छ्र में गुड़ और जवाखार या केवल गुड़ मिला कर और पाण्डु रोग मे चित्रकमूल चूर्ण मिला कर उपयोग में लाना चाहिये।

ध्यान रखें—

१—दही जमने से पूर्व ही बनाया हुआ तक्र वात–प्रकोपक, रूक्ष, अभिष्यन्दी और दुर्जर होने से उपयोग में नहीं लेना चाहिये।

२—खट्टे दही से बनाया हुआ या अधिक समय तक पड़ा रहने से जो तक्र खट्टा हो गया हो वह अम्ल, विपाकी, उष्ण, तीक्ष्ण और पित्तकर होने से ग्रहणी रोग में लाभकर नहीं है।

३—यदि पीनस, कास, श्वासादि रोगियों को तक्र देना हो तो दही में गर्म जल डालकर तक्र बनाकर सेवन कराना चाहिये, क्योंकि शीतल जल मिलाकर सेवन करने से तक्र कण्ठ और श्वास-वाहिनियों में कफ उत्पन्न कर देता है।

४—दही जमाने के लिये मिट्टी या कांच का ही बर्त्तन लेना चाहिये। दूध डालने पहले चित्रक-मूल चूर्ण का लेप कर दही जमावें, इसके

लिये छोटे २ वर्त्तन लेवें।

५—यदि एक ही पात्र में दूध जमाया जायगा और उसमें से तीन-चार बार दही निकाला जायगा तो उसमें जल की उत्पत्ति हो जायगी, जिससे गुण में न्यूनता हो जायगी।

६—यदि दही के ऊपर से मलाई न हटाई जाय तो दही अधिक समय तक गुणयुक्त रह सकता है, अतएव थोड़ा २ कई वर्त्तनों में दही जमावें। एक वर्त्तन में जमाया हुआ दही एक ही बार काम में लावें। शेष बचे हुये दहीका सेवन रोगी को नहीं करना चाहिये।

७—शीतकाल में जमाये हुये दही को शीत से बचाना चाहिये और उष्णकाल में जमाये हुये दही को उष्णता से बचाना चाहिये।

तक्रसेवन-विधि—

तक्रसेवन के लिये यथोचित वर्णवाली गायें पालनी चाहिये, क्योंकि तक्र में रङ्ग के अनुसार पृथक् २ गुण होते हैं। यथा—

पीतायाः मारुतं हन्ति, श्वेतायाः पित्तजान् गदान्।
रक्तायाः गोः कफ हन्ति, कृष्णायाः गोस्त्रिदोषजित्॥

बकरी के दही से बनाए हुए तक्र की अपेक्षा गाय के दही का बना हुआ तक्र विशेष लाभदायक है, परन्तु यदि प्रवाहिका जन्य ग्रहणी या क्षय-कीटाणु जन्य संग्रहणी हो अथवा रोगी बालक हो तो बकरी का तक्र विशेष हितावह है। कफ या पित्तप्रकोप हो तो बकरी का तक्र विशेष अनुकूल रहता है।

तक्र बनाने के लिए प्रारम्भ में तीन गुना जल मिलाकर लेना चाहिए और मक्खन निकाल लेना चाहिए। दूसरे सप्ताह में प्रकृति पर तक्र का प्रभाव पहुँच कर बल आने पर आधा ही मक्खन निकाले। तीसरे सप्ताह में सब मक्खन तक्र में ही रहने देना चाहिए। वातज-ग्रहणी वाले के लिये चौथाई मक्खन, पित्तज ग्रहणी वालेके लिए आधा मक्खन, कफाधिक्यता में पौन भाग मक्खन, दुर्गन्ध और आम-सहित मल वालों के लिये सब मक्खन निकाल लेना चाहिये। इसका सारांश यही है कि जैसे २ मल बंधता जाय वैसे २ मक्खन का भाग भी बढ़ाता जाय; क्योंकि पतले दस्त वालोंको मक्खन पच नहीं सकता है।

तक्र बनाने के समय प्रकुपित पित्त वालों के लिये शीतल जल, तथा वात और कफ प्राधान्य होने पर गरम जल मिलावें। तक्र उष्ण नहीं पिलावें और रोगी घूंट २ भरकर मुंह में खूब चलाकर तक्र पीवे। तक्र में मिलने वाली चीज उतनी ही मात्रा में मिलावे, जिस से पीने में सुस्वादु लगे।

"तक्र-कल्प"

जिस रोगी का तक्रकल्प करना हो, उसका अन्न जल बिल्कुल बंद कर देना चाहिये। क्षुधा-तृषा दोनों की निवृत्ति जल-तक्र से ही करानी चाहिये। जहां तक हो मट्ठा ताजा ही उपयोग में लावे, किसी २ का तो यहां तक कहना है कि शौच क्रिया के लिये भी पानी की जगह पर तक्र से ही काम लें, पानी सिर्फ हस्तपादादि प्रक्षालन के लिये, वह भी बहुत कम काम में लाना चाहिये।

प्रथमदिन रोगी को चार चार आध २ सेर तक्र देवें। प्यास लगने पर दो या तीन बार जल भी देवें। जबतक आंतों में पूर्व-भुक्त अन्न का असर रहे तबतक (३ दिन तक) जल पिलाना चाहिये, फिर जल कम करके बन्द करदे और मट्ठे पर ही रख कर, तक्र अग्नि-बलानुसार क्रमश: बढ़ाता भी जाय। इस तरह केवल मट्ठे पर ही रहने से ४०-५० दिन में ग्रहणी रोग निर्मूल हो जाता है। आंतें बल-वान हो जाती हैं, मल बंधकर दुर्गन्ध रहित तथा नियमित समय पर आने लगता है। निद्रा मर्यादित हो जाती है। शरीर सबल तथा तेजस्वी बन जाता है और मन में स्फूर्ति तथा आनन्द छा जाता है। जब पूर्ण स्वस्थ प्रतीत होने लगे तब भोजनादि का प्रबन्ध करना चाहिये। किसी को एक सप्ताह पीछे या आगे तक्र पर रहना होता है; परन्तु इसकी न्यूनाधिकता रोगी के बल, देश कालादि के अनुसार होती है।

कल्प प्रारम्भ के समय बहुत से रोगी कमजोरी बढ़ जाने के भय से अन्न नहीं छोड़ना चाहते, ऐसी दशा में वैद्य को चाहिये कि रोगी को पूर्ण विश्वास दिलावे कि कमजोरी न होकर शारीरिक शक्ति बढ़ेगी।

बहुत से मनुष्य प्रकृति को बिलकुल पराधीन बना देते हैं। यानी अनेक तरह के व्यसनों में फंसे रहते हैं, जैसे चाय, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, भांग आदि। ऐसे रोगियोंके लिये भोजन और व्यसन धीरे धीरे छुड़ाना चाहिये। थोड़ा २ भोजन करावे और प्रात: सायं थोड़ा २ मट्ठा पिलाते रहें। शनै शनै: मट्ठा की मात्रा बढ़ाते जांय और भोजनकी मात्रा कम करते जांय। इस तरह भोजन छुड़ाकर केवल मट्ठे पर ही रखना

चाहिये, यही उपाय सर्वोत्तम है।

कल्प-काल में औषधि प्रयोग-

कल्पकाल में दिन में चार बार "पंचामृत पर्पटी" देते रहें, पर प्रकृति भेद से 'सुवर्ण पर्पटी' दें या इसके अतिरिक्त 'हेमगर्भ पोटली रस' या अफीम वाली औषधि ग्रहणी-कपाटादि भी दे सकते हैं। परन्तु इस रोग के रोगियों के लिए और औषधों की अपेक्षा पर्पटी का स्थान ऊंचा है। फिर भी प्रकृत्यनुसार औषधि की योजना करे। अफीमवाली औषधि जहांतक बन सके नहीं दे। शक्ति वृद्धि के लिए 'लोह भस्म' अभ्रक भस्म और यशद भस्म इन सबको एकत्र मिलाकर एक रत्ती की मात्रा में प्रात: सायं शहद से दें।

मन्दाग्नि हो तो लवणभास्कर चूर्ण मट्ठे में मिलाकर दे सकते हैं। आम-नाश करने के लिए लाई चूर्ण लघु या बृहत् कोई भी हो, सेवनीय औषधियों में मिला कर दे सकते हैं। दस्त की संख्या कम करने के लिए 'दाड़िमाष्टक' या 'कपित्थाष्टक' चूर्ण दे सकते हैं। उक्त दोनों चूर्णों में दीपन या पाचन और कुछ ग्राही गुण हैं। यदि आध्मान भी साथ हो तो 'हिंग्वष्टक चूर्ण' १-१ माशा, मट्ठे के साथ दें।

यदि मूत्र में पीलापन, थोड़ा २ बार २ पेशाब हो, पेशाब साफ न हो तो सौंफ, छोटी इलायची, धनियां इनका जौकुट चूर्ण करके मट्ठा पिलाने के बाद दिन में ३-४ बार देना चाहिए; अथवा जायफल, कत्था, छोटी इलायची के दाने सौंफ और काली अनन्तमूल का चूर्ण १ १ माशे

दिन भर में ३ बार देने से पेशाब साफ हो जाता है, रात्रि को मूत्रल औषधि नहीं देनी चाहिए।

कल्पकालिक पथ्य व भोजन—

जब तक्र-कल्प समाप्त हो जाय तो तक्र की मात्रा धीरे २ कम करते जाय और अन्नकी मात्रा बढ़ाते जाय। प्रथमदिन लाजमण्ड जिसमें ६ माशा लाजा चूर्ण आजाय वह दें पर सिर्फ एकबार ही। दूसरे दिन २ बार दें। तीसरे दिन से यह लाजा चूर्ण १-१ माशा बढ़ाते जांय, फिर तीन दिन बाद मसूर की दाल का 'यूष' या मूंग का 'यूष' पुराने चावल की खिचड़ी आदि शनैः २ बढ़ाते जाय। जौ और गेहूं देना हो तो १५ दिन के पश्चात् दें, पथ्य के समय शीघ्रता नहीं करना चाहिए। इससे पुनः पाचन-संस्थान दूषित होकर व्याध्युत्पत्ति की शङ्का हो जाती है।

तक्रकल्प के पश्चात एक वर्ष तक या कम से कम ६ मास तक दुग्ध, गुरु, अभिष्यन्दी, मिष्टान्न और मांसादि का सेवन नहीं करना चाहिए। विशेषकर मुर्गे का मांस तो २ ३ वर्ष तक नहीं खाना चाहिए।

'संग्रहणी पर सफल-प्रयोग'

लेखक-श्री० पं० बालकराम जी शुक्ल, आयुर्वेदाचार्य,
प्रोफे० आयुर्वेद विद्यालय, ऋषीकेश।

यह प्रयोग संग्रहणी के लिये सुपरीक्षित-प्रयोग है। मैंने अनेक व्यक्ति जो इस भयङ्कर रोग के शिकार थे, इस प्रयोग द्वारा छुड़ाए हैं। परीक्षित होने के कारण ही पाठकों की सेवा मे उपस्थित कर रहा हूँ।

संग्रहणी नाशक वटी-

१४६-रूमी मस्तगी | काली मिर्च | अनार के फूल
आम की गुठली | वंशलोचन | माजू
जायफल | लौंग | माई
धाई के फूल | मोचरस | कुटज की छाल
बिल्वगिरी | कीकर के फूल | कूष्माण्ड बीज

—प्रत्येक १-१ तोला

शुद्ध अहिफेन — ३ तोला

विधि-इन सब दवाइयों को कूट छानकर पोस्त के छिलके के जल से तीन दिन घोंटकर १-१ रत्ती की गोली बनावें।

मात्रा-१ से ३ गोली तक। अनुपान-चावल का धोवन।

समय-प्रातः, मध्याह्न और साय-काल।

पथ्य-में दूध-भात, खाने को देवे।

गुण-इससे पुराने दस्त बन्द हो जाते हैं। संग्रहणी के लिए तो अमृत है ही।

वातज ग्रहणी
और उसके विशेषानुभव

ले० श्रीमान् पं० रामचन्द्र जी शर्मा, आयु० शास्त्री, अलीगढ़ ।

मनुष्य का जीवन भोजन पर निर्भर है। यदि मनुष्य को भोजन न मिले तो वह जीवित नहीं रह सकता। वह भोजन भी मनुष्य मात्र को तभी जीवित और स्वस्थ रख सकता है जब कि उदर में कोई विकार न हो। तात्पर्य यह है कि उत्साह, बल, वर्ण, प्रभा जो कुछ भी है सब जाठराग्नि के आधीन है और वह उदरगत है।

इन उदररोगों के अन्तर्गत संग्रहणी अपना एक विशेष स्थान रखती है। उसकी चिकित्सा ने आयुर्वेद पद्धति की वैज्ञानिकता तथा सूक्ष्मदर्शिता को चार चांद लगा दिये हैं।

प्रत्येक चिकित्सा पद्धति इसको निर्विवाद मान चुकी है कि उदर-रोग, उसमें भी ग्रहणी का यदि कहीं ठीक इलाज हो सकता है, तो वह आयुर्वेद पद्धति से ही हो सकता है।

अस्तु, इस ग्रहणी रोग के अवान्तर भेदों में भी वातज ग्रहणी अपना अपूर्व प्रभाव रखती है क्योंकि बड़े २ चिकित्सक भी उसके निर्णय में धोखा खा जाते हैं। वातज ग्रहणी का रूप महर्षि आत्रेय ने शास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है उस पर ध्यान दीजिये—

कटुतिक्त कषायातिरूक्ष सदुष्ट भोजनैः।
प्रमितानशनात्यध्व वेग-निग्रह-मैथुनैः। १।
मारुतः कुपितो वह्निं, संच्छाद्य कुरुते गदान्।

अर्थात् कड़वे, तीखे, कषैले, रूखे, शीत, अल्प भोजन, उपवास, अधिक सफर, अति परिश्रम, मल मूत्रादि का वेग रोकना तथा अति मैथुन से वायु कुपित होकर अग्नि को ढांप लेता है और इस रोग को जन्म देता है। इनमें वात-जन्य का क्या स्वरूप है, यह भी उन्हीं के मुख से सुनिये।

तस्यान्नं पच्यते दुःखं, शुक्तपाकं खरांगता ॥ २
कंठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा, तिमिरं कर्णयोःस्वनः।
पार्श्वोरुवंक्षण-ग्रीवारुजाभीक्ष्णं विशूचिका ॥ ३
हृत्पीड़ा कार्श्य-दौर्बल्यं, वैरस्यं परिकीर्तिता।
गृद्धिः सर्वरसानां च, मनसः सदनं तथा ॥ ४
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं, भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च।
स वातगुल्म-हृद् रोगी, प्लीहाशंकी च मानवः ॥ ५
चिरायु' ख द्रवं शुष्कं, तन्वामं शब्द-फेनवत्।
पुनः पुनः सृजेद् वर्चं, श्वास-कासार्दितोऽनिलात् ॥ ६

महर्षि आत्रेय के एक पद में रहस्य है आप विचार करें। वे कहते हैं इसमें अन्न कष्ट से पचता है और जो पचता है वह भी शुक्त अर्थात खट्टा पाक होता है। शरीर खरखरा तथा रूक्ष हो जाता है।

कण्ठ तथा मुख सूखता रहता है। भूख प्यास बढ़ जाती है। आंखों के सामने अन्धेरा होता है। कानों में शब्द होता है। पसली, जांघें वंक्षण, ग्रीवा इनमें बारम्बार पीड़ा, विशूचिका अर्थात् वमन और दस्त

पेट में सुई जैसी चुभना, हृदय में पीड़ा, दुर्बलता, विरसता, पेट में तथा गुदा में कतरनी जैसी चलना, सम्पूर्ण रसों की इच्छा, मन का स्थिर न रहना, अन्न के जीर्ण होने पर तथा जीर्ण होने के समय में अफारा होना, भोजन कर लेने से पेट में शान्ति मालूम होना, उदर में वात गुल्म, हृदय रोग, प्लीहा की शङ्का होना (वास्तव में होते नहीं) दुःख से दस्त का पतला आना, खुश्क दस्त आना, पेट में बाईं तरफ पानी के बुलबुले के समान शब्द होना, बार २ दस्त आना और श्वास तथा कास भी होता है।

महर्षि आत्रेय का कितना विशद वर्णन है। यदि एक २ लक्षण की व्याख्या की जाय तो एक ग्रंथ बन जाय। इनमें कतिपय लक्षणों की व्याख्या उदाहरण और लक्षणों से करने का उद्योग करूंगा। जिनकी तरफ वैद्यसमाज कम ध्यान दे पाता है।

मूल-श्लोक के पदों को देखिये। 'कर्णयोः स्वनः' जो पद है, उसमें स्वनः शब्द से, अवयव द्वारा समुदाय का ज्ञान कराया है अर्थात् रोगी बहरा हो सकता है या कान बह सकता है या कानमें तीव्र शूल का सा दर्द हो सकता है, इत्यादि।

उदाहरण के तौर पर—मैंने अलीगढ़ के ही एक लब्धप्रतिष्ठ वकील साहब की धर्मपत्नी को देखा। इनके कान में दो वर्ष से तीव्र-दर्द था। जो दर्द चौबीस घण्टेमें अठारह २ घण्टे रहता था। यहां प्रति-ष्ठित डाक्टर तथा हकीम चिकित्सा कर चुके थे। तिब्बिया-कालेज के व स्थानीय सिविल-सर्जनों की ऐक्सरे इत्यादिक सभी प्रक्रियायें आजमाई

जा चुकी थीं। आगरे के प्रतिष्ठित डाक्टर देख चुके थे और सभी ने निश्चय किया था कि कान की नाड़ी-विशेष पर फालिज गिरा है और जब तक दूसरी नाड़ी तैयार न हो जायगी दर्द नहीं जायगा, समय की प्रतीक्षा कीजिये और टौनिक दिये जाइये।

इस प्रकार की व्यवस्था पाने के बाद रोगी मेरे पास आया। वकील साहब बड़े परेशान थे। मैंने रोगी की परीक्षा की; रोगी में सभी लक्षण वातजन्य ग्रहणी के थे। सुबह एक दस्त खूब टूट कर आता था, दिल धड़कता था, पाचन खराब था, पर, मरीज की भूख खूब थी, मरीज पाखाना जाने के बाद जब तक कुछ खा न ले चलने में अशक्त हो जाता था। मैंने उनसे २ माह का वायदा कराकर चिकित्सा प्रारम्भ की। प्रात:-सायम् पंचामृत पर्पटी अजाजी चूर्ण के साथ, तथा दिन में दो बार जल के साथ शूलरोगाधिकारोक्त विषमुष्टिका वटी दी। भोजनमें प्रात. तक्र, दोपहर में मुरमुरे की खिचड़ी, शाम को दूध व तक्र दिया। दूधके साथ लवणभास्कर चूर्ण तीन २ माशा प्रतिबार दिया जाने लगा। दसवें दिन दर्द बिल्कुल नहीं हुआ। ३० दिन बाद रोगी चिकित्सा छोड़ बैठा। इसका परिणाम यह हुआ कि दो मास बाद दर्दका दौरा पुन: हुआ वे रोगीको पुन: मेरे पास लाए, तब रोगीको दो मास तक्रकल्प में रख कर ठीक कर दिया गया। रोगी अद्यावधि स्वस्थ है और उसे आजतक दर्द भी नहीं हुआ।

एक और रोगी को मैंने देखा, रुग्णा स्त्री थी। अवस्था लगभग ५० साल, दस्त बिलकुल खुश्क, पेट में वातगुल्म सा उठ कर अपान वायु

उतरता जैसा प्रतीत होता था। लेकिन वायु का अनुलोम होता नहीं था, पेट में उस समय तेज़ दर्द होता था। हृदय में धड़कन इतनी होती थी, और मुंह पर स्वेद झलकने लगता था।

इस रोगी को प्रातः सायं रसपर्पटी, महाशूलहर-रस थोड़ा सा कपर्द भस्म का मिश्रण देकर दिया गया। भोजन में केवल दूध की व्यवस्था की गई। रोगी की अवस्था में एक सप्ताह में ही परिवर्तन देखा गया और रोगी दो मास में बिलकुल स्वस्थ हो गया।

आज शहर के अस्सी प्रतिशत लोगों की यह शिकायत है। पाखाने के लिये जोर करने पर वीर्यपात हो जाता है, शरीर में रोमांच होता है, मरीज प्रातः उठने ही अपने को शक्तिहीन अनुभव करता है, वैद्यों के पास आकर अपने को प्रमेह का रोगी बताता है और अधिकतर वैद्य भी प्रमेह की चिकित्सा करके स्वयं परेशान होजाते हैं। इन में बहुत से रोगी प्रातः काल में दो बार, कोई तीन बार शौच को जाते हैं, लेकिन पेट का आलस्य नहीं जाता। ये उन 'वात-जन्य-ग्रहणी' वाले रोगिया की आकृति है!

यदि इन रोगियों की वात प्रधान ग्रहणी की चिकित्सा मिले तो रोगी शत-प्रतिशत आरोग्य लाभ कर सकते हैं। लीजिये, अब इसकी कई प्रकार की चिकित्सा पर ध्यान दीजिये।

महर्षि आत्रेय स्वयं ही कहते हैं।

किंचित् सधुक्षिते त्वग्नौ, सक्तविण्मूत्रमारुतम्।
द्व्यहं त्र्यहं वा सस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं विरेचयेत्॥

तच्चेदेरण्डतैलेन, सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणानिले शान्ते, स्रस्तदोषे विरेचयेत् ॥

निरूढं च विरिक्तं च, सम्यक् चैवानुवासितम् ।
लध्वन्नं प्रति संशुक्तं, सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥

तात्पर्य यह है कि, रोगी को तीन दिन स्नेहपान करा कर तथा स्वेदन और तैल अथवा क्षारयुक्त तैल्वकघृत से रोगी को विरेचन दे देना चाहिये। तत्पश्चात् उचित मात्रा में अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। जब रोगी निरूह, विरिक्त तथा अनुवासित हो चुके तब लघु अन्न के साथ उसको घी का पुन. अभ्यास कराना चाहिये। इसकेलिये चरकोक्त दशमूलादि घृत या पचमूलादि घृत अधिक उपयुक्त है। इसके साथ अन्य औषधि प्रातः सायं घृत के साथ ही मेहमुद्गर रस तथा भोजनोपरांत द्राक्षारिष्ट व देवदार्व्यारिष्ट समान मात्रामें दो-दो तोले दोनों समय देना चाहिये। इससे वैद्य अधिक यशस्वी बन सकता है तथा अनेक रोगियों को स्वस्थ कर सकता है।

तक्र गुण गान

लेखक—मारुतीराव भोलाजी ओकटे, छिंदवाड़ा।

पेट के रोग की देव-सी दिव्य, दवाइयों के तुम शक्र हुए।
त्यागा तुम्हें जिसने उसको, यह मानों विधाता कि वक्र हुए।
ग्रहणी-ग्रह-ग्राह ग्रसे गए देह-गजेन्द्र को तो हरिचक्र हुए।
जीवनदान दिवाते हुए, वसुधा में सुधा तुम्हीं तक्र हुए॥

श्वेतातिसार-संग्रहणी
SPRUE; DIARRHOEA-ALBA.

लेखक—श्री० कविराज जसवन्तरायजी सैहगल, लाहौर

यह एक संक्रामक रोग है, जो बाल्यावस्था में कम तथा बलवान् स्त्री पुरुषों में अधिक होता है। इसमें विशेष प्रकार के पीत, बदबूदार व झागदार दस्त (Bulky fermented motions) आते हैं, तथा मुखपाक (Ulcers & soreness of the mouth) पाण्डुता, दुष्ट विलोहितता (Pernicious Anaemia), जिह्वा-शोथ आदि विशेष लक्षण होते हैं।

इतिहास-

आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि वर्तमान 'श्वेतातिसार' (Sprue) नामक व्याधि एक सुप्रसिद्ध नवीनरोग है पुरातन नहीं; हमारे वैद्य तथा विद्वज्जन इसे 'संग्रहणी' रोग के अन्तर्गत मानते हैं, किन्तु वास्तव में ये दोनों रोग भिन्न २ हैं। इनके लक्षणों में भी पृथ्वी और आकाश का अन्तर दीख पड़ता है।

श्वेतातिसार को आधुनिक सभ्यता का एक जीवित चित्र (Disease of modern civilization) समझा जा सकता है, क्योंकि आज कल हमारी रहन-सहन तथा भोजन व्यवस्था सभी अप्राकृतिक है। फलतः हम स्वयं ऐसे रोगों को निमन्त्रण देते हैं।

उत्पत्तिस्थान-

यह रोग भूमध्य रेखा (The Equator) के निकटस्थ उष्ण तथा आर्द्र प्रदेशों में (यथा बङ्गाल, दक्षिण भारत में) अधिक होता है। पञ्जाब प्रान्त में भी काफी होता है।

निदान–

"इस रोग का कारण क्या है ?" इसपर विविध विद्वानों के विविध विचार प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का उल्लेख यहां पर संक्षिप्त रूपेण किया जायेगा।

१—मोनीलिया साईलोसिस (Monilia Psilosis) नामक जीवाणु।

२—मान्यूट पैरासाईटिक फँगस (Minute Parasitic Fungus) नामक जीवाणु।

३—स्ट्रैपटोकाकस सालीवेरियस (Strepto-coccus Salivarius) नामक जीवाणु।

४—भोजन में खाद्योज न्यूनता (Vitamin Deficiency)—

अप्राकृतिक भोजन यथा मशीनों द्वारा पिसा हुआ आटा (Milled Flour) मशीन द्वारा चमकाया हुआ चावल, मैदा, वानस्पतिक घी आदि में खाद्योज नष्टप्राय हो जाता है। यदि इस खाद्योज की पूर्ति अन्य वस्तुओं (यथा ताजे फलादि) द्वारा न की जाय तो इस रोग के होने की सम्भावना रहती है।

५—शरीर में सुधा न्यूनता (Calcium Deficiency),

६—स्त्रियोंमें यह रोग "बार २ गर्भपात (Abortion), गर्भाशय-स्राव (Uterus hemorrhages), शिशुपालन, बच्चों को दीर्घ काल तक दुग्धपान कराना" इन कारणों से भी हो जाया करता है।

७—अमीबिक प्रवाहिका (Amoebic Dysentry) के अन्त में उपद्रव रूप में।

सम्प्राप्ति–

संक्रमण के बाद मुख तथा अन्त्र में शोथ आरम्भ हो जाती है। अन्त्र की दीवारें रक्त-हीन हो जाती हैं तथा भोजन को लीन करने वाले प्राह-कांकुर नष्ट होकर सौत्रिकतन्तु बन जाते हैं।

क्लोम (Pancrease), के प्रभावित होने से मल में क्लोम रस (Pancrease ferment or juice) का अभाव तथा स्वतन्त्रवसा अत्यधिक होती है, फलतः वह स्निग्ध होता है। मूत्र में भी Pancreatic Reaction देखा जाता है। क्लोम शोथयुक्त, वसामय तथा क्षीण हो जाता है। यकृत संकुचित तथा कार्य–हीन हो जाता है।

अन्त्र में Fermentation होने से आध्मान हो जाता है। मल फेनाकार तथा दुर्गन्ध युक्त आता है तथा अन्त्र में Bilosubin कम हो जाती है अथवा Leuco-urabilis में परिवर्तित हो जाती है। Calcium metabolism पर प्रभाव पड़ता है, तथा (Parathyroid Insufficiency) हो जाती है।

रोगारम्भ तथा लक्षण–

इसका आरम्भ शनैः २ होता है। आरम्भ में अजीर्ण, मुख–शोथ, आध्मान, अम्लोद्गार आदि लक्षण होते हैं। प्रातः–काल दो-तीन साधारण दस्त आ जाते हैं। तत्पश्चात् प्रातः अतिसार में ही लक्षण प्रकट हो जाते हैं और रोग जीर्णरूप धारण कर लेता है। ये दस्त हल्के पीले रङ्ग के, स्निग्ध, वसामय, अधिक फेन तथा दुर्गन्ध युक्त, और पीड़ा रहित होते हैं। इनमें उदासीन स्वतन्त्र व वसामय अम्ल (Neutral Free Fatty acids) अधिक होते हैं। आमाशय में अम्लरस क्रिया (Hydrochloric acid actions) शिथिल हो जाती है।

कुछ कालान्तर जिह्वा का अग्रभाग और किनारा रक्त वर्ण का व शोथमय हो जाता है। इन पर छोटे-छोटे छाले (Ulcers) देखे जाते हैं। इसी तरह मुख के अन्दर सर्वत्र छाले उत्पन्न हो जाते हैं, जो फट कर व्रण बन जाते हैं। खाने–पीने में कष्ट होता है। उष्ण व चटपटा भोजन करने से कष्ट बढ़ जाता है। शनैः २ जिह्वा की श्लेष्मिक-कला क्षीण और उसके स्वादांकुर नष्ट-प्राय हो जाते हैं।

संग्रहणी-

"अन्त्रकूजनमालस्यं, दौर्बल्यं सदनं तथा।
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं; सकटी-वेदनं शकृत् ॥
दिवा प्रकोपो भवति, रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च या।
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या, चिरकालानुबन्धिनी ॥
सा भवेदामवातेन, संग्रहग्रहणी मता ॥ —मा० नि०।

मेरे विचार में विद्वानों ने उपर्युक्त लक्षणों को देख कर ही 'श्वेतातिसार' को संग्रहणी के अन्तर्गत मान लिया है।

ये लक्षण बीच २ में मन्द होकर पुनः तीव्रवेग रूप में उत्पन्न होते हैं। इसी क्रम से रोग बढ़ता रहता है और जीर्ण हो जाता है। क्षीणता बढ़ जाती है। रक्त न्यूनता के साथ २ रोगी की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का ह्रास हो जाता है। रक्त में परिवर्तन, दुष्ट विलोहितता (Pernicious Anaemia) के सदृश अर्थात् रक्त में रक्ताणुओं की संख्या ५०००००० के स्थान पर १५००००० व श्वेताणुओं की ६००० रह जाती है- विशेषतया यह रोगी प्रातःकाल के समय चिड़चिड़ा हो जाता है।

साध्यासाध्यता-

जो रोगी अपने आहार-विहार को नियमित तथा क्रमबद्ध रख सकते हैं, वे साध्य होते हैं। बालकों पर सख्ती करके उन्हें अपथ्य से सुरक्षित रखा जा सकता है। इसी कारण 'धन्वन्तरि' ने बालकों में ग्रहणी साध्य, युवा पुरुषों में कष्ट-साध्य तथा वृद्धों में असाध्य कही है। उक्तं च—

"बालके ग्रहणी साध्या, यूनि कृच्छ्रा समीरिता।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया, मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥"

शेष रोगी दो-तीन वर्ष में रोग के बढ़ने के साथ २ कृशता को प्राप्त होकर मर जाते हैं। साधारणतया यह रोग कष्ट-साध्य ही है।

रोगमीमांसा—

इस रोग के जानने में बहुधा दुष्ट विलोहितता (Pernicious Anaemia) का भ्रम हो जाता है, क्योंकि इन दोनों के लक्षणों में बहुत थोड़ा अन्तर है। बम्बई के सुप्रसिद्ध डा० ऐस० के० वैद्य ने लिखा है कि—

"A great many of the cases of the so called Indian Sprue are in reality the cases of pernicious anaemia ....The blood examination show a blood picture which is not at all distinguishable from that of pernicious anaemia. Judged by clinical symptoms and signs, blood picture pathological findings and response to treatment, it is difficult to maintain that pernicious anaemia & sprue are separate diseases."—Medical Journal Vol XXIX.

इन दोनों रोगों में भिन्नता बुझाने के लिये मल-परीक्षा आवश्यक है। श्वेतातिसार रोग में 'मोनीलिया साईलोसिस' नामक जीवाणु मिलता है, तथा क्लोमरस का अभाव होता है। इस रोग में मुखपाक भी एक विशेष परिचायक लक्षण है; तथा इसमें नाड़ी की गति मन्दता लिये गम्भीर होती है। तक्रं च "भेदेन शान्ता ग्रहणी-गदेन" —ना० वि०

चिकित्सा—

(ध्यान रहे कि श्वेतातिसार, संग्रहणी तथा अतिसार-युक्त दुष्ट विलोहितता की चिकित्सा एक ही है)

इसमें आहार पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता होती है। रोगी को पूर्ण विश्राम से लिटाये रखें तथा शोक, चिन्ता, शीतादि से सुरक्षित रखें।

इस रोग में औषध चिकित्सा के अतिरिक्त पथ्य-चिकित्सा (Prevention is better than cure) अधिक महत्त्वशाली है। जैसे कि कहा भी है—

"विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः, पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्यविहीनस्य, भेषजानां शतैरपि॥
पथ्ये सति गदार्तस्य, किमौषध-निषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्तस्य, किमौषध-निषेवणैः॥"

पथ्य—तक्र, फटे हुये दूध का पानी (Whey), ताजे फल, हरी सब्जियां, दुग्ध (कई रोगियों को अपथ्य भी है)—इत्यादि।

अपथ्य—स्नान, अभ्यङ्ग, जलावगाहन, गुरु, स्निग्ध व तीक्ष्ण भोजन, व्यायाम, अग्निताप, व्यवाय इत्यादि।

पथ्यापथ्य का निर्णय ऊपर कर दिया गया है। अब इनसे किस प्रकार चिकित्सा हो सकती है इसका वर्णन निम्न-लिखित है।

'तक्र प्रयोग'

तक्र की परिभाषा—दही को मन्थन करके जिसमें से मक्खन निकाल लिया हो तथा अर्ध-जल मिश्रित हो (कई आचार्यों के मत में जल दही से चतुर्थांश डालना चाहिये तथा मक्खन भी न निकालना चाहिये) जो न बहुत गाढ़ा हो, द्रव हो; वह तक्र कहलाता है।

यथा—

"मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्द्धोदकन्तु यत्।
नातिसान्द्रं द्रवं तक्रं........ .॥" सु० सू० ४५.

तक्र संग्रहणी (श्वेतातिसार) को जितनी शीघ्रता से नष्ट करता है; उसका दृष्टांत आचार्य इस प्रकार से देते हैं कि, जिस प्रकार अग्नि तृणों को तथा सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है, उसी प्रकार तक्र ग्रहणीरोग में आशुफलप्रद है। उक्तं हि—

"यथा तृणचयं वह्निस्तमांसि सविता यथा।
निहन्ति ग्रहणी रोग, (श्वेतातिसारं) तथा तक्रस्य सेवनम् ॥"

तक्र सर्वदा गो-दुग्ध का ही अर्थात् गो दुग्ध से दही बना कर मन्थन करके लेना चाहिये। उक्तं च—

"ग्रहणी रोगिणां तक्रं, संग्राही लघु दीपनम्।
सेवनीयं सदा गव्यं, त्रिदोष-शमनं हितम् ॥"
अन्यच्च—"विकल्पं एषदध्यादिः, श्रेष्ठो गव्योऽभिवर्णितः ॥" सु० सू० ४५.

आवश्यक बात—तक्रसेवी पुरुष को बहुत कम बोलना चाहिए, तथा मैथुन व क्रोध का परित्याग करना चाहिये। उक्तं च—

"मौनं च कुर्याद् बहुशो, न कुर्याद्बहुभाषणम्।
न कुर्यान्मैथुन तक्रपाने क्रोधं विवर्जयेत ॥"

तक्र सेवन विधि—तक्र का प्रयोग औषधि रूप में करते समय तक्र की मात्रा थोड़ी २ अधिक करते जायें तथा अन्न की मात्रा प्रतिदिन २॥-२॥ तोले कम करते रहें। इस प्रकार से केवल तक्र का प्रयोग एक सप्ताह में होने लगेगा। भूख तथा प्यास लगने पर ऽ=, ऽ≡ छटांक तक्र का ही प्रयोग करते रहें। सारे दिन में ४ सेर तक तक्र का प्रयोग किया जा सकता है। ४० दिन के बाद तक्र को थोड़ी २ मात्रा

में कम करना प्रारम्भ कर, तथा चावल या दाल (इसके स्थान पर ज्वार या बाजरे की रोटी, अरारूट, साबूदाना या Cournflour भी प्रयुक्त कर सकते हैं) अत्यल्प मात्रा में देना प्रारम्भ करे। इसे प्रति-दिन ६ ६ माशे बढ़ाते जायें। पूर्ण मात्रा पर पहुँच कर तक्र वन्द कर दें। इस क्रिया को सम्पूर्णतया विधिवत् निभाने से अत्यन्त कष्ट-साध्य श्वेता-तिसार रोग विना औषधि के ही ठोक हो जाता है।

तक्र लघु, जठराग्नि-दीपक एवं मलबन्धक होने से संग्रहणी रोग पीड़ित व्यक्तियों के लिये पथ्य है। इसका विपाक मधुर होने से पित्त कुपित नहीं होता। यथा—

"ग्रहणी-दोषिणां तक्रं, दीपनं ग्राहि लाघवात् ।
पथ्यं मधुर पाकित्वान्न च पित्त-प्रकोपणम् ॥" च०

फटे हुये दूध का पान—इसका सेवन तथा प्रयोग-विधि सभी तक्र के समान ही है।

ताजे फल-

इनका प्रयोग अकेला या दूध के साथ होता है। सेब, नाशपाती, आड़ू, अनन्नास, बेर, खरबूजा, केला, तरबूज, लीची, संगतरा, निम्बू, पपीता, बिल्व तथा आम्र; इन फलों का प्रयोग विशेष हितकारी है। जिस ऋतु में जो फल उपलब्ध हों, वे ही पथ्य-स्वरूप दिये जा सकते हैं। यथा-नवम्बर से जनवरी तक संगतरे-केले इसीप्रकार से अन्य ऋतुओं में अन्य फल।

हरी सब्जियां—

इनमें टमाटर, गोभी, प्याज, फलियां इनका प्रयोग लाभप्रद है।

दुग्ध

नोट—कई रोगियों को दूध से दस्त आने लगते हैं। ऐसे रोगियों पर तक्र का प्रयोग कराना चाहिये।

चिकित्सा आरम्भ से पूर्व एक मधु विरेचन दें। फिर रोगी को थोड़े २ समय के बाद थोड़ा २ किञ्चिदुष्ण दूध देना चाहिये। दूध में खांड के स्थान पर मिल्क शूगर या ग्लूकोज डालें। इसमें मधुर क्षार या चूर्णादि क मिलाना अधिक महत्वशील है। रोगी को पहले २ सारे दिन में ३ पिंट (ऽ१।।।=) तक दूध देना चाहिये। जब मल ठीक आने लगे तो दूध की मात्रा कुछ दिन कम करके पुनः बढ़ावे।

औषधि चिकित्सा—

इस रोग की पाश्चात्य चिकित्सा अभी तक इतनी सफल नहीं हुई जितनी कि आयुर्वेदिक; अतः इसकी चिकित्सा अनुभवानुसार लिख रहा हूं, आशा है कि अन्य वैद्य भी इससे लाभ उठावेंगे।

१४७—मुस्तक लवङ्ग जायफल

इन्द्रायण कर्पूर शुद्ध हिंगुल

—सब समान भाग लेकर नीबू स्वरस के साथ ३ बार भावना दें।

अनुपान—उष्णोदक। मात्रा—३-३ रत्ती।

(बद्धगुदोदर)
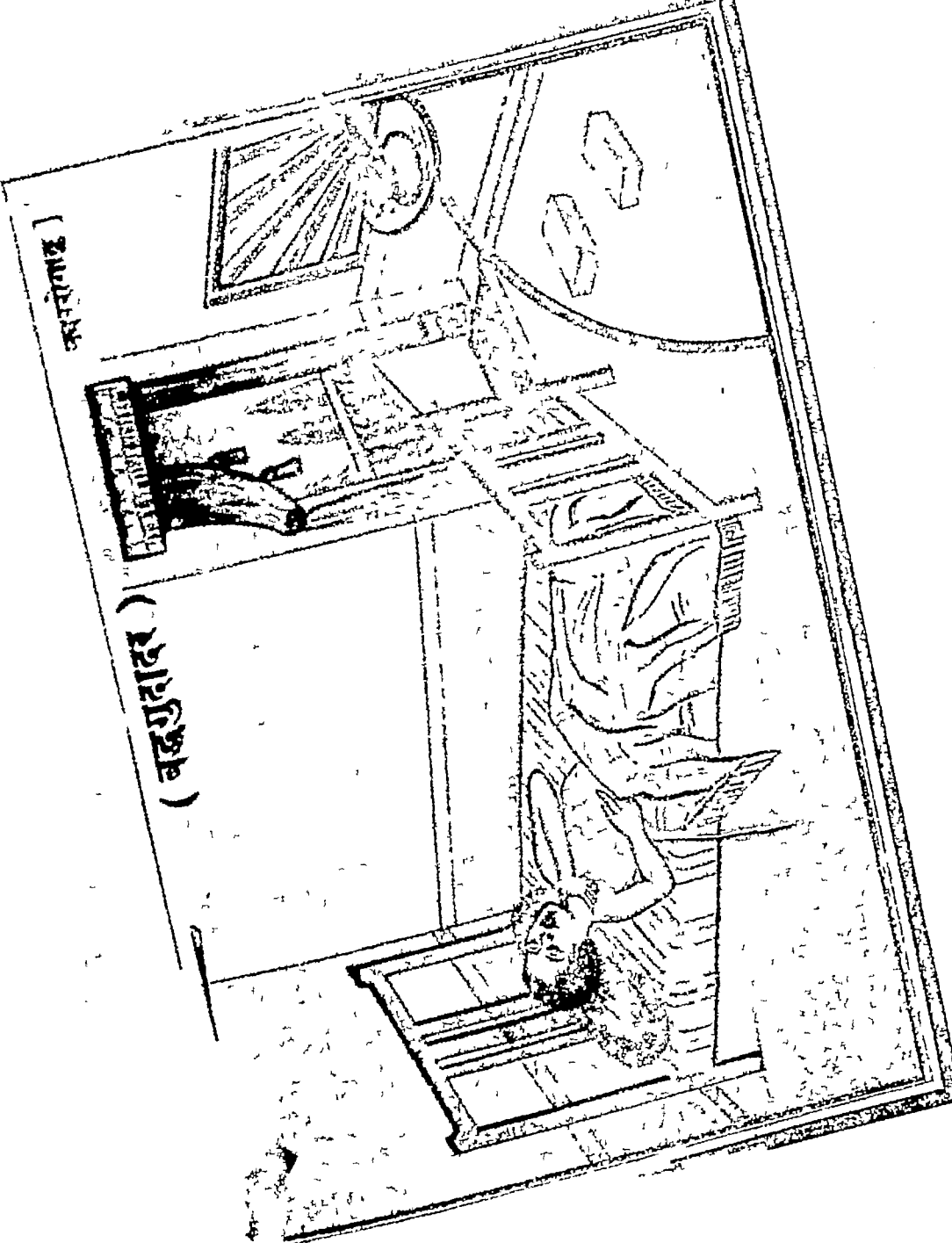
१४८—एला वंशलोचन लोह भस्म
शीतल चीनी —प्रत्येक १—१ तोला।
कुटज २ तोला
—चूर्ण करके तक्र के अनुपान से ४ रत्ती से १ माशे तक दें।

दुग्ध वटी—

१४९—गोमूत्र में मीठा-तेलिया नामक विष को ३ दिन भिगो रखें। मूत्र प्रतिदिन नया डालते रहें, शुद्ध होने पर सुखाले, फिर १॥ माशे अहिफेन (अफीम) को आद्रेक रसमें शुद्ध करें। लोह भस्म ५ रत्ती, कृष्ण अभ्रक भस्म ६ रत्ती, गोदुग्ध में भावना देकर १-१ रत्तीकी गोलियां बनालें, फिर छाया में सुखालें।

मात्रा—१ गोली प्रातः बिना मीठा मिलाये पाव भर दूध से सेवन करें। फिर पाव भर दूध बाजरे की रोटी के साथ सेवन करें।

नोट—प्यास लगने पर दूध दें, भूख होने पर बाजरे की रोटी। लवण का निषेध है। पानी अत्यल्प दें।

ढाक, चित्रक, चव्य, मातुलिंग, हरड़, पिप्पली मूल, शुण्ठी, पाठा, धनियां प्रत्येक द्रव्य १-१ तोले लेकर ८ सेर पानी में उबालें। चतुर्थांश रहने पर छानकर प्रयुक्त करें। अथवा केवल पादावशिष्ट जल पीने को दें।

२—बच्चों को यह औषधि न दें।

१५०—शुण्ठी चूर्ण घी में भूनकर ३ माशे उष्णोदक से प्रातः साय दें। इससे आश्चर्यजनक लाभ होता है।

१५१—गंगाधर रस—(शार्ङ्गधर) १ गोली प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रि को दाड़िम जल से दें।

१५२—पञ्चामृत पर्पटी (रसेन्द्रसार) २ रत्ती प्रातः, मध्यान्ह, सायं दिन में ३ बार उष्णोदक से दें। सभी प्रकार के असाध्य रोगी भी इस औषधि के प्रयोग से ठीक हुए हैं।

बच्चों की ग्रहणी

लेखक—कविराज श्री० पं० दीनानाथ जी शर्मा, आयुर्वेदाचार्य,
सम्पादक—(अश्विनीकुमार)

जब बालकों का दूध छुड़ाया जाता है तो कभी कभी बालक दूध की ओर पूर्ण प्रवृत्त न हो, अन्न की ओर अधिक प्रवृत्त हो जाते हैं; परन्तु उस समय उनकी जठराग्नि तीव्र नहीं होती कि वे उस भुक्त अन्न को पचा सकें। निदान, वह भुक्त अन्न अपक्व ही रह कर मल में परिणत हो पतला २ बहुत बार आने लगता है। इस प्रकार वह बार-बार आने वाली टट्टी कभी फटी हुई, कभी कफ युक्त, कभी बहुत पतली और कभी बंधी हुई और पतली सी आती है। बच्चों का पेट बढ़ना आरम्भ हो जाता है और धीरे २ काफी बढ़ जाता है पेट में गुड़गुड़ाहट होती है और विशेषतः रात्रि को सुप्तावस्था में अधिक गुड़-गुड़ाहट होती है। धीरे २ बालक पेटू हो जाते हैं और खाते खाते इतना खा जाते हैं कि उनसे अपने आप उठा भी नहीं जाता। भोजन के बाद ही मल त्यागार्थ जाना पड़ता है। कभी कभी टट्टी नीचे ही निकल जाती है, खास कर छोटे बालकों में। उनमें खाने की गृद्धा इतनी बढ़ जाती है कि कहीं कोई खाने की वस्तु गिरी पड़ी हो तो वे उठा कर खाना आरम्भ कर देंगे। यदि उनको निरन्तर रोका जावे तो वे लुक छिप कर ऐसा करते हैं। यहां तक कि गलियों मे चाट आदि खाकर फेंके हुए दोने उठा कर चाटने लगते हैं।

ठीक यही अवस्था दूध छुड़ाने की अवस्था के अतिरिक्त कुछ रोगों में या कुछ रोगों के बाद भी हो जाती है। काली-खांसी, ज्वर आदि रोगों के बाद बालकों को भूख अधिक लगने लगती है, तब वे भूख की अपेक्षा भी अधिक अन्न खाने लगते हैं; किन्तु तब वह खायाहुआ अन्न जीर्ण न होकर अग्निमान्द्य उपजा शनैः शनैः उप-युक्त अवस्था उत्पन्न कर देता है। यही बाल-उदररोग कहलाता है। इसमें आमाशय की विस्तृति होती है। वस्तुतः यह बालकों का ग्रहणी विकार है।

चिकित्सा-

यह रोग कभी-कभी तो चिकित्सा न करने पर भी बालक के कुछ बड़ा हो जाने पर स्वयं दूर हो जाता है। किन्तु इस प्रकार उपेक्षा-वृत्ति धारण करने से अधिकतर हानि होना ही देखा गया है। इस प्रकार के बच्चों में विशूचिका आदि रोग के होने की अधिक सम्भावना रहती है। अतः उपेक्षा न कर उसकी चिकित्सा करना श्रेष्ठ मार्ग है। इसके लिये मैं नीचे लिखे छोटे २ योग प्रयुक्त करता हूँ।

१५३—मीठी सौंफ १ छटाक, इसे तवे पर भून कर रखलें। बालक को वैसे ही खाने के लिये देना चाहिये।

१५४—मीठी सौंफ १ छटांक, पिसा हुआ काला नमक ६ माशा —इसे तवे पर भून कर पुनः सूक्ष्मचूर्ण बना दिनमें ३-४ बार २ माशे की मात्रा में चटाना वा अर्क सौंफ और गुलाब में घोल कर अथवा उससे देना चाहिये।

१५५—सौंफ　१ छटांक　अनार की शुष्क मींगी　१ तोला
खांड　१ छटाक　—पहली दोनों वस्तुओं को भून कर तथा तदनुसार पीस कर खांड मिला २-३ माशा प्रतिवार चटाना, दिन में ३ बार चटाना काफी है।

१५६—बड़ी इलायची के दाने　१ तोला　सौंफ　१ छटांक
नौसादर　२ तोला　—इसे भी तवे पर भून कर उपर्युक्तानुसार देना। इसके चूर्ण की मात्रा १ माशा है।

१५७—अजवायन　गन्धक शुद्ध　सौंफ　रससिंदूर
नवसादर　१-१ तोला,　बड़ी इलायची के दाने　६ माशे
—इनके चूर्ण को (जो कि एक रस बनता है) ४ रत्ती की मात्रा मधु से चटा ऊपरसे अर्क सौंफ पिलावें। ये योग अत्युत्तम हैं और किसी प्रकार की कोई हानि न करता हुआ बच्चों की पाचक शक्ति को बढ़ाता है तथा सञ्चित मल को निकालता है। इससे शनैः २ टट्टियां कम हो जाती हैं और पेट अपनी ठीक परिस्थिति में आजाता है।

औषधि चिकित्सा के अतिरिक्त कुछ सावधानियां भी रखनी चाहिये—

१—उपर्युक्त रोग वाले बालक को सारे दिन घर में नहीं बैठे रहने देना चाहिये। बाहर घुमाने फिराने ले जाना चाहिए जिससे कि उसका मन खानेकी ओर न जाकर दूसरी ओर लगा रहे एवं आध्मान न होने से आमाशय आदि को ठीक कार्य करने का अवसर मिल जाने से तब अवस्था सुधरने लगती है।

२—बालकों को रसोई घर में अधिक काल तक नहीं बैठने देना चाहिए। अधिक देर बैठने से घर का जो भी व्यक्ति भोजन करने लगेगा वह उसके साथ खाने लग जावेगा। यहां तक कि ऐसे उदाहरण इन रोगियों में प्राय मिलते हैं कि बालक पहले व्यक्ति के साथ खाने बैठता है और अन्तिम व्यक्ति के भोजन करने तक खाता रहता है। यदि उसे रसोई घर में अधिक न बैठने दिया जावे तो यह सम्भावना नहीं रहती।

३—ऐसे बालकों को किसी के साथ एक थाली में भोजन नहीं करने देना चाहिए। क्यों कि किसी के साथ एक थाली में भोजन करने से न तो माता पिता को यह मालूम होता है कि बालक कितना अन्न खा गया है और न बालक को ही ज्ञान होता है कि उसने कितना अन्न खा लिया है। इसके अतिरिक्त उसकी तृप्ति भी नहीं होती। पृथक् भोजन करने से ऐसा नहीं होता। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार तो किसी भी अवस्था में किसी के साथ भी एक थाली में भोजन करना विहित नहीं है। किन्तु घरों में ऐसा देखा जाता है कि बालकों को साथमें भोजन खिलाया जाता है। किसी के भी साथ एक थाली में भोजन करना स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद है।

४—यह नियम बना लेना चाहिए कि घर का कोई बड़ा व्यक्ति जब भोजन खाने बैठे तो बालक को भी पृथक् भोजन परोस दिया जावे और जब बड़ा व्यक्ति भोजन कर ले तो बालक घर से बाहर ले जाए, यदि ऐसा न हो सके तो रसोईघर से तो अवश्य बाहर लेजाना चाहिए, पुनः उसे रसोई घर में नहीं आने देना चाहिए, अन्यथा वह पुनः भोजन में प्रवृत्त हो जावेगा।

५–ऐसे बालकों को ४–६ माशे घृत में २ छटांक दूध गरम कर प्रातः काल पिलाने से भी लाभ देखा गया है। इससे एक तो संचित मल निकल जाता है, दूसरे इसमें उदर पूर्ति हो जाने से बालककी अन्न में तृष्णा भी कम हो जाती है। तीसरा केवल अन्न खाने से विकृत एवं रूक्ष पाचक यन्त्रों को स्निग्धता एवं बल मिल जाता है।

६—उपर्युक्त परिचर्या के अतिरिक्त इससे टोना भी किया जाता है और वह यह कि ऐसे बच्चों को भोजन चकले (जिस पर रोटी वेली जाती है) पर रख खिलाना चाहिए। इन सब उपायों से बालकों के उदर की खराबी, जिसे गांवों में पेट कच्चा होना भी कहा जाता है, ठीक हो जाता है।

ग्रहणी और जठराग्नि—

रचयिता—श्री गणेशदेव जी आर्य वैद्य शास्त्री, बिहार शरीफ

जो अन्न को करती ग्रहण, ग्रहणी उसे तुम जान लो।
उस मध्य करती वास जो, जठराग्नि उसको मान लो।
अग्नि-बल से ग्रहण करती, अन्न ग्रहणी है सदा।
फिर पाक करके पार्श्व में, करती उसे वह है विदा। १।

पर अग्नि-बल से क्षीण ग्रहणी पाक करती है नहीं।
अरु आम-रूपी अन्न का ही त्याग करती है वहीं।
जब अग्नि होती शांत मानव शीघ्र मरता है तभी।
समरूप यदि जठराग्नि हो तो निरामय जीता सभी। २।

होती विकृत जठराग्नि मानव रुग्ण होता है तभी।
सब कार्य-कर्त्री मूल कहलाती जठर अग्नि यही।
बल, तेज, ओज, प्रसन्नता, आरोग्य का भण्डार है।
पुष्टि, आयु, प्राण, वर्ण, प्रभादि का आधार है। ३।

बाह्याग्नि भौतिक अग्नि का भी उदर अग्नि प्राण है।
'हे देव' यह जठराग्नि सचमुच प्राण का भी प्राण है।
जो अन्न धातु सु-ओज-बल वर्णादि के अनुकूल है।
सत्य यह जठराग्नि ही उन सद्गुणों का मूल है। ४।

सब दोष का शम कोप, इस जठराग्नि के आधीन है।
अग्नि रक्षक नर सुरक्षित, रोग से स्वाधीन है।
इससे सदा सब भांति धीमन्! अग्नि को ही पालिए।
इसके विरोधी हेतुओं का नाश भी कर डालिए। ५।

मात्रा समयका ध्यान रख, हित अन्न समिधासे सदा।
करता हवन जठराग्नि में जो नित्य प्रति होकर मुदा।
कर चित्त वश सायं व प्रातः अन्न समिधा होम कर।
होता कभी रोगी न वह, कारण बिना अति श्रेष्ठ नर। ६।

आवश्यक निवेदन

धन्वन्तरि अपने जीवन के १७ वर्ष सानन्द व्यतीत कर, अब नवीन स्फूर्ति के साथ १८ वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। सदा की भांति इस बार भी अपने सर्व प्रशंसित नियम के अनुसार, यह एक अतीवोपयोगी और महत्वपूर्ण विशेषांक लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होरहा है।

कागज के इस भीषण अकाल में सभी पत्रकार एकदम तिलमिला उठे। आधे से अधिक पत्रों के अस्तित्व ने, अपने को भविष्य के विशाल गर्भ में विलीन कर दिया। बचे खुचे शेष पत्रों ने भ ' यथा तथा अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए, अपने आकार-प्रकार में आधे से भी कहीं अधिक कमी कर दी और साथ ही साथ मूल्य भी तिगुना-चौगुना बढ़ा दिया।

जब यह हाल बड़े २ नामी-गिरामी पत्रों का हो रहा है तो आयुर्वेदीय पत्रों के बारे में तो कहना ही क्या है? वे तो पहिले से ही मुरझाए थे, अब तो उन पर एकदम पाला ही पड़ गया!

आप जानते ही हैं कि 'मथुरा तीन लोक से न्यारी' तो है नहीं। इस भीषण परिस्थिति का प्रभाव, हम पर भी बिना पड़े कैसे रह सकता था? हम भी इस विकट परिस्थिति से घबड़ा उठे। कार्य के प्रारम्भ में ही अनेकानेक बाधायें सामने आईं, फिर भी अपने को ज्यों-त्यों करके कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रखते ही रहे।

आयुर्वेदीय पत्रों में यदि कोई शान का पत्र है तो एकमात्र धन्वन्तरि ही ! यह हम स्वयं नहीं किन्तु दूसरों की कलम से लिख रहे हैं और ग्राहक संख्या का ३००० के लगभग होना इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है । ऐसे प्रसिद्ध पत्र के विशिष्ट विशेषांक के लिये हमें बड़े भारी कागज की आवश्यकता थी, इसलिये हमने इसके प्रकाशनको स्थगित करना ही उचित समझा । हमें दीख रहा था कि जब साधारण रूप से प्रकाशन करने के लिये भी हमारे पास कागज नहीं है, तब विशेषांक के लिए जिसमें कि वर्षभर के तमाम अङ्कों के बराबर कागज लग जाता है, कागज कहां से आयगा ?

बात उड़ते देर नहीं लगती । हमारे इस विचार का आभास पाकर अनेक इष्ट-मित्र दौड़े आए, आतेही हमारी इस उत्साह-हीनता पर नाना-प्रकार मत प्रगट करने लगे ।

कुछ विचारक मित्रों ने समझाया भी कि विपत्ति प्रत्येक पर आती है, किन्तु जो इस कठिन परीक्षा में सच्चा उतर जाता है वही तो सच्चा मनुष्य कहलाता है । यह आयुर्वेदीय सेवा का आवश्यक समय है, यदि आप जैसे ही हताश होकर बैठ जायगे तो फिर इस बेचारे की सेवा कौन करेगा ? घबड़ाओ मत, यदि ईश्वर सच्चे सेवकों के साथ रहता है तो वह तुम्हारे साथ भी अवश्य है; इसी बिना पर अपना काम शुरू कर दो । हां, यदि चाहो तो आकार-प्रकार में अवश्य कमी कर सकते हो, चाहो तो मूल्य भी बढ़ा सकते हो, अब भी संसार में कद्रदानों की कमी नहीं है, इत्यादि ।

अब हम गहरे शशोपञ्ज में पड़े, हालां कि मित्रों की बात-चीत से हमारा उत्साह अवश्य बढ़ा । हम मूल्य बिल्कुल भी बढ़ाना न चाहते थे, क्योंकि ऐसा करने पर जो बेचारे बढ़ा हुआ मूल्य नहीं दे सकते थे, वे वंचित ही रह जाते । बिना मूल्य बढ़ाए घाटे का कुछ पारावार न था ।

मित्रों ने कहा—चाहे जो हो, धन्वन्तरि का विशेषांक निकाल कर, नियम-पालन अवश्य कीजिये; चाहे वह आकार प्रकार में पहिले से आधा ही क्यों न हो ! इससे धन्वन्तरि की शान में कुछ फर्क न आयगा; क्योंकि संसार के आयुर्वेदीय पत्रों द्वारा जब साधारण अङ्क मात्र भी निकालना असम्भव हो रहा है तब आप तो विशेषांक दे रहे हैं, यही क्या कम है? माना कि पत्रकारों

के लिये यह जीवन-मरण का प्रश्न है, पर, आयुर्वेदीय उन्नति का भी तो यही प्रश्न है, अतः आप विशेषांक को प्रकाशित करिये और अवश्य करिए।

उनकी इन बातों से सुप्त हुईं आयुर्वेदोद्धार की भावनायें पुनः जागृत हो गईं; तब किसी प्रकार स्वीकृति देकर मित्रों को प्रसन्न करना ही पड़ा।

मजबूरी और बेबसी की हालत में भगवान् का नाम लेकर हमने इस कार्य का श्री गणेश कर ही तो दिया। साइज़ छोटा कर दिया और छपाई शुरू करदी।

लेख संख्या अत्यधिक थी, उसमें से चुन चुन कर अत्यन्त लाभप्रद और उत्तम लेख ही प्रकाशित किए गये। सारा मैटर छप जाने पर, ब्लाकों के आने की प्रतीक्षा की जा रही थी, क्योंकि कई दिन से लगातार तार पर तार दिये जा रहे थे। हर ५ वें दिन आदमी भेजा जाता था, फिर भी अब तक ब्लाक बन कर न आए; तब खुद ही जाकर और उनके पास ठहर कर, कहीं ब्लाक बनवाए गए। खर्च का पारावार न था, फिर भी देर पर देर हो रही थी।

पाठक महानुभाव, आप हमारी तमाम विवशताओं से सुपरिचित हो चुके होंगे। पूर्ण प्रयत्न करने पर भी हम आपकी सेवामें विशेषांक अब उपस्थित कर सके हैं। हमें वास्तव में हृदय से खेद है पर, जरा आप ही विचारिए कि, मजबूरी के आगे किसका चारा है?

हमें विश्वास है कि आप इसके विषय-सौष्ठव, सौन्दर्य, चित्र-बाहुल्य प्रभृति सभी आवश्यक बातों के साथ उत्तम साहित्य को पाकर अवश्य प्रसन्न होंगे। आपकी रुष्टता इसकी सर्वाङ्गपूर्णता देखकर एकदम काफूर हो जायगी।

–इस परिस्थिति में भी–

हम धन्वन्तरि में नए-नए सुधार कर रहे हैं। अधिक से अधिक उपादेयता, आकर्षकता प्रभृति पर हमारा ध्यान जा रहा है, साथ ही उसे मूर्तिमान करने का प्रयत्न भी कर रहे हैं। आशा है कि आप भी अपने-धन्वन्तरि से अटल-प्रेम बनाए रखेंगे।

—व्यवस्थापक धन्वन्तरि